छायावादोत्तर हिन्दी कविता में दलित चेतना

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी की पी-एच.डी. (हिन्दी)
उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध
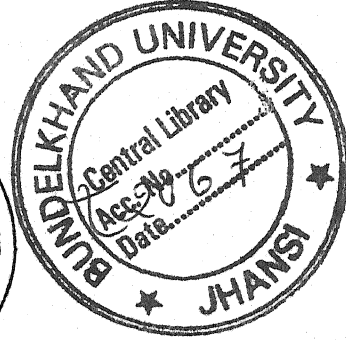
शोध निर्देशक :
डॉ० रामगोपाल गुप्त
रीडर एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग

शोधार्थी :
योगेश कुमार

अनुसंधान केन्द्र -
परास्नातक हिन्दी-विभाग
पं0 जवाहरलाल नेहरू पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, बाँदा (उ0प्र0)

अप्रैल 2007

पं० जवाहरलाल नेहरू पी०जी०कालेज, बाँदा (उ०प्र०)

डॉ० रामगोपाल गुप्त
रीडर एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग

पता-
कैलाशपुरी, बाँदा (उ0प्र0)
फोन :. 05192-225210
मोबा. : 9450371530

पत्रांक :

दिनांक : 17.4.2007

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री योगेश कुमार द्वारा प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध **''छायावादोत्तर हिन्दी कविता में दलित चेतना''** मेरे निर्देशन में बुन्देलखण्ड विश्व विद्यालय के पत्रांक बु0वि0/शोध/2005/1980-82 दिनांक 04.02.2005 के द्वारा हिन्दी विषय में शोध कार्य के लिये पंजीकृत हुये थे। इन्होंने मेरे निर्देशन में आर्डीनेन्स की धारा 7 द्वारा वांछित अवधि तक विश्वविद्यालयीयपरिनियमावली के नियमानुसार कार्य किया तथा इस अवधि में इस शोध केन्द्र में उपस्थित रहे। यह इनकी मौलिक कृति है। मैं इस शोध-प्रबन्ध को प्रस्तुत करने की संस्तुति करता हूँ।

(डॉ० रामगोपाल गुप्त)
रीडर एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग

प्रमाण-पत्र

मैं योगेश कुमार घोषणा करता हूँ कि हिन्दी विषय के अन्तर्गत **''छायावादोत्तर हिन्दी कविता में दलित चेतना''** पर किया गया यह शोध कार्य मेरी मौलिक कृति है। इसके पूर्व इस विषय पर बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय में कोई शोध कार्य नहीं हुआ है। यह शोध कार्य मैंने अपने निर्देशक श्री डॉ0 रामगोपाल गुप्त, रीडर-हिन्दी विभाग, पं0 जवाहरलाल नेहरू पी0जी0 कालेज, बाँदा के प्रथ-प्रदर्शन में किया है।

योगेश कुमार

योगेश कुमार

प्राक्कथन

समय परिवर्तनशील है। सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज तक मानव समाज के न जाने कितने रूप बदले हैं। सबका आकलन करना असंभव नहीं हो कठिन अवश्य हैं।मानव समाज का इतिहास इस बात का गवाह है कि हर सामाजिक व्यवस्था के कुछ अपने कायदे और कानून थे जो समयानुसर सामाजिक बदलाव के साथ-साथ बदलते रहे हैं। प्राचीनकाल में सामाजिक संचालन हेतु मनीषियों ने कर्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था का तानाबाना बुना। सामाजिक असंतुलन की बात तो तब प्रारम्भ हुई जब वर्ण व्यवस्था को जाति व्यवस्था के रूप में बदलने का कार्य शुरू हुआ। कालान्तर में मनुष्य के कर्म में बदलाव आया और समाज की जातीय वर्ण व्यवस्था में दरार पड़ी। स्वार्थ एवं लालचवश मनुष्य ने धन और बल से समाज में विभेद की स्थिति पैदा की। परिणाम यह हुआ कि समाज मुख्य रूप से दो वर्गों में विभाजित हो गया- 1. शोषक वर्ग 2. उपेक्षित शोषित दलित वर्ग। शोषित वर्ग चूंकि शोषक वर्ग से धन, बल और बुद्धि में कमजोर था इसलिए कुटिल, बुद्धिमान बाहुबलियों द्वारा दलित जन पर शासन करने की नियति से प्रजा का नाम दे दिया गया और प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में उनका शोषण करते रहे।

किसी भी समाज में सामाजिक संतुलन एवं समरसता उस समाज में रहने वाले लोगों पर निर्भर करती है। समाज में सज्जन और दुर्जन हर प्रवृत्ति के लोग होते हैं जो अपनी संगत और असंगत गतिविधियों से प्रभावित करते हैं। साहित्यकार का जन्म इसी समाज में होता है जो अपनी विवेकशीलता एवं रचनाधर्मिता के माध्यम से समाज में सामन्जस्य बनाने की कोशिश करता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के हर काल के कवियों ने समाज के उपेक्षित एवं दलित वर्ग के उत्थान एवं कल्याण की बात की है। हाँ यह बात अवश्य है कि हर काल की बेचैनी, उग्रता एवं आक्रोश का स्वर अलग-अलग है। हर काल के कवि के कहने के अपने अन्दाज अलग-अलग होने के कारण उनके सामाजिक प्रभाव भी अलग-अलग रहे। युग बदला, सामाजिक सोच बदली और सामाजिक जातीय व्यवस्था की नये युग के हिसाब से मूल्यांकन करने की आवश्यकता महसूस हुई। राजनीतिक चेतना ने सामाजिक चेतना को नये रूप में ढालने को विवश किया। जागरूक साहित्यकारों ने सामाजिक व्यवस्था में व्याप्त असंतुलन पैदा करने वाले तत्वों पर कुठाराघात किया। चूंकि कुठाराघात करने वाले साहित्यकारों का

मूल स्वर लोककल्याणकारी था इसलिए उन्हें अधिकांश लोगों के द्वारा समर्थन मिला। साहित्य को मनोरंजन और आनन्द की परिधि से निकालकर मानव की हर धड़कन अथवा जीवन चेतना से जोड़ने का प्रयास किया गया। श्रेष्ठ साहित्य जनमानस को जगाने का कार्य करता हैं। कथा साहित्य सम्राट मुंशी प्रेमचन्द्र के अनुसार हमें ऐसे साहित्य की जरूरत है, "जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुझाये नहीं।" साहित्य और समाज को एक दूसरे से अलग करके नही देखा जा सकता। प्रत्येक कला की तरह साहित्य का भी सरोकार सार्वजनिक है।

बीसवीं शताब्दी में मानव समाज के स्वरूप में क्रांतिकारी परिवर्तन आया है। उपभोक्ता वादी संस्कृति ने मनुष्य के जीवन को कई क्षेत्रों में प्रभावित किया है। परिवेश, रहन-सहन, संचार संप्रेषण, अभिव्यक्ति में परिवर्तन आने के फलस्वरूप मनुष्य सोच में व्यापकता और गहरायी आयी। दलित चिन्तन इसी सामाजिक, सांस्कृतिक परिवर्तन का प्रतिफल है जो कड़े संघर्ष एवं टकराहट के बाद इस रूप में उभरकर आया है। दलित हिन्दी साहित्य इस सामाजिक बदलाव से प्रभावित न हो यह कैसे संभव हो सकता है। दलित जीवन शैली से दलित चेतना को ऊर्जा मिलती है। विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर का मानना है कि साहित्य विरोधात्मक तत्वों में अविरोध स्थापित कर सबको एक सूत्र में बांधने का प्रयास करता है। वह जड़ताओं, विषमताओं, विद्रूपताओं और अंधमृत कुसंस्कारों को त्यागने के लिए वातावरण तैयार करता हैं। सामाजिक मान्यताओं एवं मानवीय वृत्तियों में जो यदा-कदा बौनापन आ जाता है, दृष्टि-सृष्टि में जो दोहरापन आ जाता है उसकी परत को कुरेदकर साहित्य मानव के मस्तिष्क को निर्मल करता है।

'दलित' शब्द भारतीय समाज और साहित्य के लिए नया नहीं है। हर युग में इसका प्रयोग होता रहा है। संस्कृत के विद्वान दलित शब्द की व्युत्पत्ति 'दल' धातु से मानते हैं जहाँ इसका अर्थ इस प्रकार दिया गया है-

दल -टूटा हुआ, चीरा हुआ, फाड़ा हुआ, फटा हुआ, टुकड़े-टुकड़े हुआ, खुला हुआ, फैलाया हुआ। प्राकृत शब्द कोश में दलित के लिए दल-विकसना, खंडित होना अर्थ व्यक्त किया गया है। हिन्दी शब्द कोष में दलित के कई अर्थ दिये गये हैं। जैसे- मसला हुआ, मर्दित, कुचला हुआ, विनष्ट किया हुआ, खण्डित हुआ आदि।

भोलानाथ तिवारी ने दलित शब्द का निम्नलिखित अर्थ लगाया है- दलित-कुचला हुआ, मर्दित, मसला हुआ, रौंदा हुआ अष्पृश्य, नीच, हरिजन। शब्दकोशों के अतिरिक्त हिन्दी के कुछ दलित लेखकों ने दलित शब्द की व्याख्या एवं समीक्षा व्यापक स्तर पर की है। डॉ0 सोहनपाल सुमनाक्षर ने दलित शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है - "दलित वह है जिसका दलन किया गया हो। उपेक्षित, अपमानित, प्रताड़ित, बाधित और पीड़ित व्यक्ति भी दलित की श्रेणी में आते हैं। इस तरह 'दलित' शब्द की परिभाषा के अन्तर्गत जहाँ सदियों से सामाजिक, वर्णव्यवस्था और जाति व्यवस्था से अभिशप्त दलित, शोषित, उत्पीड़ित व्यक्ति आते हैं, वहीं सदियों से उत्पीड़ित, उपेक्षित, अपमानित, शोषित सामाजिक बन्धनों में बाधित नारी और बच्चे भी इसी श्रेणी में आते हैं। भूमिहीन, अछूत, बंधुआदास, गुलाम, दीन और पराश्रित-निराश्रित भी दलित ही हैं। दलित शब्द आक्रोश चीख, वेदना, पीड़ा, चुभन, घुटन, और छटपटापट का प्रतीक है।" डॉ0 शरण कुमार लिम्बाले ने दलित शब्द के अर्थ को बहुत व्यापक स्तर पर ग्रहण करने की बात की है - "दलित केवल - हरिजन और नवबौद्ध नही है। गाँव की सीमा के बाहर रहने वाली सभी अछूत जातियाँ, आदिवासी, भूमिहीन, खेत मजदूर,श्रमिक कष्टकारी जनता और यायावर जातियाँ सभी की सभी 'दलित' शब्द से व्याख्यायित होती हैं। दलित शब्द की व्याख्या में केवल अछूत जाति का उल्लेख करने से नहीं चलेगा। इसमें आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए लोगों का भी समावेश करना होगा।" ओम प्रकाश बाल्मीकि जी का 'दलित' के सम्बन्ध में दृष्टिकोण कुछ इस प्रकार है - "दलित शब्द भाषावाद, जातिवाद और क्षेत्रवाद को नकारता है और पूरे देश को एक सूत्र में पिरोने का कार्य करता है।" सम्यक विचारोपरान्त यह कहा जा सकता है कि दलित वह है जिसका दलन किया गया हो। उपेक्षित, अपमानित, प्रताड़ित, पीड़ित सभी व्यक्ति दलित की श्रेणी में आते हैं। दलित अस्मिता बोधक शब्द है। जहाँ तक दलित चेतना के अर्थ की बात है तो दलित चेतना, संघर्ष से नाता रखने वाली क्रान्तिकारी मानसिकता है। मनुष्य को केन्द्र मानकर जाति व्यवस्था के प्रति विद्रोह करने वाली यह प्रतीति है। डॉ0 रमणिका गुप्ता ने सन् 1873 में ज्योतिवा फुले द्वारा लिखित पुस्तक "गुलामगिरी' को दलितों की मुक्ति का घोषणा पत्र माना है। ज्योतिवाफुले के दलित विचारों को नकारा नहीं जा सकता। फिर भी यह कहने में संकोच नही है कि नाथ साहित्य, सिद्ध साहित्य और निर्गुण काव्य में दलित चेतना सम्बन्धी विचार खूब भरे पड़े हैं।

दलित चेतना ने दलित साहित्य की संरचना में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। दलित जीवन की संवेदनापूर्ण अभिव्यक्ति दलित साहित्य में ही सम्भव है। दलित साहित्य का अपना एक विशिष्ट दर्शन है। जिसके केन्द्र बिन्दु में मानव कल्याण सर्वोपरि है। दलित साहित्य के सामाजिक दर्शन में जिन तथ्यों की प्रधानता देखने को मिलती है। वे इस प्रकार हैं-

1. समता मूलक समाज की स्थापना।
2. सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा।
3. स्वतंत्र जीवन जीने की लालसा।
4. आर्थिक विषमता को दूर करने का भाव।
5. शोषकों के प्रति विद्रोह का भाव।
6. वेदना, घुटन और कुंठा का भाव।
7. शोषितों के प्रति दया का भाव।
8. प्राचीन जातीय व्यवस्था के प्रति विरोधात्मक स्वर।
9. बन्धुत्व की भावना।
10. धार्मिक कर्मकाण्ड का विरोध।
11. अधिकार प्राप्ति के प्रति क्रांति का स्वर।
12. अस्पृश्यता का विरोध।
13. मानव जीवन मूल्यों के प्रति रक्षा का भाव।
14. श्रम की महत्ता
15. ईमानदारी और विश्वास का भाव।

छायावादोत्तर पूर्व हिन्दी काव्य में दलित चेतना के क्रमिक विकस की एक बृहत् एवं सशक्त परम्परा प्राप्त होती है। आदिकल से लेकर छायावादी काव्य धारा तक आते-आते दलित चेतना के अनेकानेक उतार-चढ़ाव देखने को मिलते हैं। अपभ्रंश के महानद से हिन्दी काव्यधारा कब विलग हुई उसकी निश्चित तिथि बताकर पाना कठिन है/पर निःसंकोच रूप से यह जा सकता है कि हिन्दी का दो रूपों में विकास हुआ-

1. परिनिष्ठित अपभ्रंश से निर्मित हिन्दी

2. लोकभाषा में रचित हिन्दी।

आदिकालीन सामाजिक रचना में दोनों प्रकार के साहित्य का महत्व है। पर जहाँ तक दलित चेतना का प्रश्न है तो लोकभाषा में रचित साहित्य उसके अधिक निकट है। आदिकाल में दलित चेतना के कई स्तर प्राप्त होते हैं जो इस प्रकार हैं-

1. सिद्ध साहित्य में दलित चेतना।

2. नाथ साहित्य में दलित चेतना का स्वरूप।

3. गोरखवाणी में दलित चेतना के स्वर।

राहुल सांकृत्यायन का मानना है कि सिद्ध साहित्य परम्परा में जो सिद्ध हुए है- उनमें अधिकांश निम्न जाति के थे। सरहपा ने तत्कालीन वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था, सामाजिक भेदभाव एवं बाह्य आडम्बर का खुलकर विरोध किया था। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में दलित चेतना का विस्तृत स्वरूप देखने को मिलता है। उत्तर भारत में पैदा होने वाले सन्त कबीर, दादू और रैदास आदि कवियों ने जाति-पांति और अन्धविश्वास के विरुद्ध, प्रखर आन्दोलन किया। उन्होंने सामाजिक बुराईयों और छुआ-छूत का विरोध करते हुए कथित सवर्ण हिन्दुओं को कुमार्ग और विनाशकारी बुराइयों से सावधान किया। इसी प्रकार दक्षिण भारत में संत एकनाथ ने जाति पांति का विरोध किया। देश व्यापी सन्त आन्दोलन की प्रमुख विशेषता यह रही कि ऊँचनीच के भेदभाव का विरोध और मनुष्य की समानता की घोषणा को जनान्दोलन के रूप में चलाया गया। द्विजों और ब्राहमणों के कर्मकाण्ड पर गहरी चोट की गयी। ईश्वर के दरबार में बराबरी सिद्ध कर दलितों का मनोबल बढ़ाया। रामकाव्य धारा एवं कृष्ण काव्य धारा में सन्त काव्य धारा जैसी दलित चेतना देखने को नहीं मिलती। रीतिकाल में दलित चेतना का स्वर बहुत खोजने के बाद प्राप्त होता है पर वह प्रभावशाली नहीं है।

दलित चिंतन की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी साहित्य अत्यधिक समृद्ध है। भारत में अंग्रेजी राज्य के दृढ हो जाने पर संस्थाएं खुली और आर्थिक विकास हेतु नये-नये कल-कारखाने लगे। शिक्षा के प्रसार एवं औद्योगिक प्रगति के फलस्वरूप जनता में नये सिरे से विकास की सुगबुगाहट शुरू हुई। राजाराम मोहनराय ने बंगाल में ब्रहम समाज द्वारा विधवाओं की दशा सुधारने का सराहनीय प्रयास

किया गया। हिन्दुओं की जाति व्यवस्था से दलित जनता पीड़ित थी। इनमें कुछ ने सत्तालोलुपता में इस्लाम धर्म कबूल कर लिया था। अंग्रेजी सत्ता के बाद ईसाई मिशनरियों ने दलित जनमानस में ईसाई धर्म के प्रसार हेतु अनेकानेक प्रयास किये। बहुत सी दलित जातियों ने ईसाई धर्म स्वीकार भी कर लिया। क्योंकि ईसाई धर्म में भेद-भाव नहीं था। कतिपय समाज सुधारकों ने यह महसूस किया कि यदि धर्म परिवर्तन को रोका न गया तो भारत का दलित समाज हिन्दू धर्म से अलग हो जायेगा। ऐसे ही समय में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वैदिक धर्म की नये सिरे से व्याख्या कर उसे समाज की व्यावहारिकता से जोड़ने का प्रयास किया। वेदों में वर्ण व्यवस्था के जो मानदण्ड थे उससे अलग हटकर उसको और सरल बनाने की कोशिश की। जन्म आधारित वर्णव्यवस्था को नकारकर उन्होंने कर्म आधारित वर्ण व्यवस्था को महत्व दिया। दलितों के मध्य यह मान्यता स्थापित करने की कोशिश की गयी कि जन्म से कोई ऊँचा-नीचा नहीं होता। व्यक्ति के कर्म ही महान और नीच बनाते हैं। उन्होंने पाखण्ड, मूर्ति पूजा, भूतप्रेत, बाल-विवाह अवतारवाद का भी विरोध किया। अपने इस बहुमूल्य विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए 'आर्य समाज' की स्थापना की। स्वामी दयानन्द सरस्वती के बाद पं0 गंगाराम, लालामुंशीराम, लाला बदरीदास, स्वामी श्रद्धानन्द, गणेश शंकर विद्यार्थी एवं लाला लाजपत राय ने आर्य समाज के मूल्यों एवं विचारों को आगे बढ़ाने का कार्य किया। नाथूराम शंकर शर्मा ने 'पंचपुकार' नामक कविता के माध्यम से जातिवादी सोच को नकार कर हिन्दू समाज में दलितों को जागृत करने का कार्य किया।

महात्मा गांधी ने राजनीति के साथ-साथ समाज सुधार पर भी बल दिया। उन्होंने अस्पृश्यता को समाज का कलंक बताया। दलितों का नया नाम 'हरिजन' रखकर समाज को यह समझाने की कोशिश भी कि दलित भी ईश्वर की संतान हैं। गाँधी जी स्वराज्य के साथ-साथ छुआछूत का प्रश्न भी हल करना चाहते थे। डॉ0 भीमराव अम्बेदकर ने स्वराज्य के साथ-साथ दलितोद्धार को अपने आन्दोलन का प्रमुख भाग बनाया। हरिजन मंदिर प्रवेश, सामाजिक सहभोज और शिक्षा पर जोर देकर उन्होंने दलितों के उद्धार निमित्त चेतना के द्वार खोले। राजनीतिक सहभागिता पर भी उन्होंने विशेष जोर देकर यह बताने की कोशिश की कि सत्ता में हमारी हिस्सेदारी अवश्यमेव होनी चाहिए। जातीय व्यवस्था एवं धार्मिक कर्मकाण्ड का विरोध करते हुए उन्होंने कहा कि हिन्दू सर्वाधिक धर्मभीरू है। धर्म

पर चोट करना उसकी आस्था पर चोट करना है इस लिए इस पर अधिक जोर न देकर हमें इसकी विद्रूपताओं पर जोर देना चाहिए। स्वामी दयानन्द सरस्वती महात्मागांधी और भीमराव अम्बेदकर के विचारों का भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग और छायावादी कवियों पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव देखने को मिलता है। तीनों काव्यधाराओं में राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ सामाजिक एवं सांस्कृतिक चिन्तन के अन्तर्गत दलित चिन्तन भी सन्निहीत था। राष्ट्रीय आन्दोलन के मूल में आजादी प्राप्त करना था तो सामाजिक एवं सांस्कृतिक चिन्तनधारा के मूल में सामाजिक विकास करना था।

काव्य में 'प्रगतिवाद' एक विशिष्ट राजनीतिक विचारधारा का द्योतक है। यह विचार धारा कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद पर आधारित है। मार्क्स और एंजिल्स के 'कम्युनिष्ट मेनिफेस्टो' के प्रकाशन के पश्चात समाजवाद को लेकर नयी नयी विचारधारायें सामने आयीं किन्तु उन सबमें मार्क्सवाद विचारधारा ही सर्वाधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई। मार्क्स का प्रगतिवाद वास्तव में सामाजिक व्यवस्था के आर्थिक दृष्टिकोण से सम्बन्धित है। मार्क्स ऐसे समाज के निर्माण के पक्षधर थे जिसमें समान विचार-धारा, समान आकांक्षा, समान प्रयत्न, समान सुख-भोग-साधन समान अधिकार के रूप विद्यमान हो। समाज में समता एवं संतुलन हर समाज के लिए आवश्यक है। जहां तक साहित्य में प्रगतिवाद के जन्म की बात है तो सन् 1907 में इटली में इसका जन्म हुआ जब मारनेति ने 'भविष्यवाद' नामक एक नवीन विचारधारा को जन्म दिया। उसने कहा कि सामाजिक व्यवस्था बदले और साहित्यिक मान्यताएं न बदले यह असंभव हैं। सामाजिक मूल्यों के साथ-साथ साहित्य के भी मूल्य बदलने लगते हैं। सन् 1918 की रूसी क्रांति का प्रभाव भारत पर भी पड़ा। सन 1930 एवं 1932 में दो महान देश व्यापी आन्दोलन हुए जिसमें देश के कृषकों एवं श्रमिकों ने बड़ी संख्या में भाग लिया। इन्हीं दिनों मुल्क राज आनन्द, सज्जाद जहीर, भवानी भट्टाचार्य, जे0सी0घोष एम0सिन्हा जेसे लेखकों ने नये विचारों के साथ साहित्य सृजन करने का कार्य प्रारम्भ किया। इन लेखकों ने सामूहिक प्रयास से सन् 1935 में 'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ नामक एक संस्था को जन्म दिया। इस संस्था के उद्देश्य को बतलाते हुए कहा गया था कि -"इसका उद्देश्य भारत के विंभिन्न भाषा-भाषी लेखकों का संगठन करके ऐसे प्रगतिशील साहित्य की रचना करना है जो कलात्मक दृष्टि से निर्दोष हो और जिसके माध्यम से देश के सांस्कृतिक अवसाद को दूर कर हम भारतीय स्वतंत्रता एवं सामाजिक उत्थान की

दिशा में प्रवृत्त हो सकें।" भारतीय पीढ़ी के लेखकों ने परिपत्र का स्वागत और समर्थन किया और दूसरे ही वर्ष सन् 1936 में प्रेमचन्द्र की अध्यक्षता में लखनऊ में प्रथम अधिवेशन हुआ। प्रेमचन्द्र ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि - "हमें उस साहित्य की आवश्यकता है जो हमारी बदलती हुई मान्यताओं, परम्पराओं और मूल्यों के अनुरूप हो। साहित्य का लक्ष्य केवल व्यक्तिगत विकास अथवा मनोरंजन नही है, जीवन तथा समाज की छवियों को अपने में मूर्तकर मानव समाज का कल्याण करना है। "हमें उस कला की आवश्यकता है जिसमें कर्म का संदेश हो।" प्रगतिवादी दलित लेखन पर मार्क्स एवं अम्बेदकर दोनों का प्रभाव है। मार्क्स ने आर्थिक वैषम्यता को दूर करने पर जोर दिया तो अम्बेदकर ने सामाजिक व्यवस्था में व्याप्त वर्ण व्यवस्था, अस्पृश्यता, जाति व्यवस्था द्वारा उत्पन्न असंतुलन को दूर करने पर जोर दिया। दलितों के विकास में जितना बाधक सामाजिक पक्ष है उससे कहीं अधिक आर्थिक पक्ष है। मार्क्सवाद में से अम्बेदकर घटाकर अथवा अम्बेदकरवाद में से मार्क्सवाद को कमकर दलित चेतना के सम्बन्ध में सोचा जाय तो दलितों के हितकेलिए कुछ नहीं बचता।

प्रगतिवादी काव्यधारा अभी अपने चरमोत्कर्ष को भी नहीं प्राप्त कर पायी थी कि सन 1943 में अज्ञेय जी के सम्पादकत्व में 'तारसप्तक का प्रकाशन हुआ। इसमें सात कवियों-मुक्तिबोध, नेमिचन्द, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजा कुमार माथुर, रामविलास शर्मा और अज्ञेय की कविताएं संकलित हुई। इस तारसप्तक के प्रकाशन के साथ ही हिन्दी काव्य में एक नयी प्रवृत्ति का जन्म हुआ जिसे कालान्तर में 'प्रयोगवाद' नाम से सम्बोधित किया गया। वस्तुतः प्रयोगवादी काव्यधारा की नींव द्वितीय विश्व महायुद्ध तथा उसके बाद की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर खड़ी है। यद्यपि यह काव्यधारा अनेक पाश्चात्य विचारधाराओं (अस्तित्ववाद अति यथार्थवाद, मनोविश्लेषणवाद आदि) से काफी हद तक प्रभावित है फिर भी सामाजिक सांस्कृतिक एवं साहित्यिक स्थितियों-परिस्थितियों की कोख से ही इसका जन्म माना जाना चाहिए। प्रयोगवादी काव्यधारा की राह पर चलने वाले कवियों ने छायावादी कविता की काल्पनिकता तथा रहस्यात्मक अभिव्यंजना प्रणाली की आलोचना की तथा नवीन प्रयोगों पर विशेष जोर दिया। इस धारा के कवियों ने परिस्थिति जन्य विषमता, अवसाद, पराजय और निराशा की अभिव्यक्ति को तो अपने काव्य में जगह दी ही साथ ही साथ दीन-दलितों की दुखती रंगो पर भी अपनी लेखनी चलायी। प्रयोगवादी काव्यधारा के अन्तर्गत प्रयोग चाहे जो भी हुए हों पर

सबके मूल में लोकहित एवं मानवहित सर्वोपरि रहा है। इस काव्यधारा के अन्तर्गत दलित चेतना का जो स्वरूप एवं सन्दर्भ देखने को मिलता है उसमें दर्द भी है और सहानुभूति भी। इस काल में दलित चूंकि उपेक्षित एवं हतोत्साहित था इसलिए उसे शक्ति एवं सम्बल की त्वरित आवश्यकता थी जो कवियों द्वारा उसे प्राप्त हुई।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास में साठोत्तरी हिन्दी कविता की अपनी अलग पहचान है। सन् 1936 के बाद हिन्दी काव्यधारा जो सप्तकों से होकर प्रवाहित हुई वह आगे चलकर दो धाराओं में विभाजित हो गयी। एक धारा तो वह रही जो छायावादी काव्य संस्कारों से अपने को पूर्णतः मुक्त न कर सकी और कालान्तर में छायावाद की ही एक कड़ी बनकर रह गयी और दूसरी धारा वह रही जो छायावादी काव्य संस्कारों के अवरोधों को तोड़ते हुए एक भिन्न दिशा में बढ़ती रही और आगे चलकर जो हिन्दी कविता को एक नवीन सौन्दर्यभिरूचि दे सकी। अज्ञेय ओर मुक्तिबोध इन दोनों धाराओं के अलग-अलग उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। सन 60 के बाद जो कवि साहित्य के क्षेत्र में आये उनकी सोच में नया अंदाज था। इन कवियों ने छायावादी रोमाण्टिक संस्कारों एवं प्रयोगवादी नयी कविता की रुढ़ियों को एक साथ तोड़ा। सच तो यह है कि साठोत्तरी कविता नवीन सृजनबोध की कविता है। रोमाण्टिक भावुकता के स्थान पर यथार्थपरक बौद्धिकता, संयम सुरूचि, संतुलन और भद्रता के स्थान पर सच्चाई, साहस और खारापन, मसृण और कोमल के स्थान पर परूष और अनगढ़ की स्वीकृति, समझौता और यथास्थितिवाद के स्थान पर संघर्ष और विद्रोह का आग्रह, आक्रोश क्षोभ, उत्तेजना तनाव और छटपटाहट, दलितों शोषितों के प्रति प्रेम आदिऐसी महत्वपूर्ण विशेषताएं है जो साठोत्तरी हिन्दी कविता को और महत्वपूर्ण बनाती हैं। सन् 1947 में आजादी तो मिल गयी पर सामाजिक ताना बाना में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हो सका। आर्थिक रूप से सम्पन्न और बौद्धिक रूप से चतुर लोगों को सत्ता का वह सारा लाभ मिला जिससे विकास की संभावनाएं बनती है। पर दलित और उपेक्षित लोगों की स्थिति में कोई क्रांतिकारी बदलाव नहीं आया जिससे लगे कि योजनाओं का लाभ दलितों को मिल रहा है। रामकुमार वर्मा का 'एकलव्य' काव्य दलितों की स्थिति का आइना है। 'एकलव्य' महाभारत की कथा का पात्र मात्र प्रतीक के रूप में है उसके चरित्र में वर्तमान दलितों की व्यथा एवं आक्रोश झलकता है।

साठोत्तर हिन्दी कविता के बाद समकालीन कविता जिस भूमिका के साथ सामने आयी है और आ रही है उसमें अनेक स्तर हैं जहाँ वह अपनी पूर्ववर्ती कविता से अलग खड़ी दिखायी देती है। इस काल की कविता का अन्दाज और मिजाज पूर्ववर्ती कविताओं से कुछ भिन्न है। समकालीन कविता ने अपनी शक्ति, सामर्थ्य एवं जीवन मूल्यों की गहरी पकड़ से साहित्य, समाज और मनुष्य को झकझोरा तो है ही नयी राह एवं नयी मंजिल की ओर प्रेरित भी किया है। युग परिवर्तन के साथ कविता भी बदलती है और कविता का तेवर भी। समकालीन कविता के सृजन का दौर चल रहा है इसलिए मानदण्डों एवं मूल्यों की आर-पार की बात करना सही नही है डॉ0 विमल समकालीन कविता का सौन्दर्य शास्त्र निर्धारित करने वालों का विरोध करते हैं- अभी तक यह आन्दोलन जीवन संघर्ष में है, शास्त्रीयता तक नहीं पहुँचा है।" समकालीन कविता किसी वैचारिक आन्दोलन की मोहताज नहीं है, क्योंकि वह पूर्ण मुक्ति कविता है। उसका जुड़ाव समाज के हर वर्ग एवं जाति के आदमी से है।

समकालीन कविता में दलितों को आधार बनाकर खूब लिखा गया है ओर अभी लिखा जा रहा है। दलितों से सहानुभूति रखने वाले गैर दलित कवि तो लिख ही रहे हैं दलित वर्ग मे से भी अब अनेकानेक लेखक लेखन के क्षेत्र में उभरे हैं। समकालीन दौर में आकर बात केवल आर्थिक संतुलन तक ही नहीं है। सामाजिक,सांस्कृतिक और राजनीतिक समानता की बात बड़ी तेजी से चल रही है। गांधी आर अम्बेदकर के सपनों का भारत अब बड़ी तेजी से बदलाव एवं विकास के नये-नये आयाम स्थापित कर रहा है। दलितों के विकास हेतु जिन-जिन क्षेत्रों में काम करने की जरूरत है समकालीन कवियों ने उसकी ओर संकेत करने के साथ मानक तय करते हुए दिशा-निर्देश भी दिये हैं।

समकालीन दलित हिन्दी लेखन के क्षेत्र में डॉ0 सोहनपाल सुमनाक्षर, डॉ0 शरणकुमार लिम्बाले, ओम प्रकाश बाल्मीकि, कालीचरण सनेही कंवर भारती, माता प्रसाद, जगदीश गुप्त, रवि प्रकाश, लालचन्द राही, रामकुमार वर्मा, धनन्जय अवस्थी, आर0एल0भरद्वाज, मीनू सागर, कंवरलाल खद्योत, धूमिल, मुक्तिबोध, जवाहरलाल कौल, देवीलाल यादव, अनीता सोमकुंवर, कवि, विमल, कालीचरण गौतम जैसे अनेक कवियों के प्रयास सराहनीय हैं। डॉ0 जगदीश की निम्नलिखित पंक्तियाँ भारतीय सामाजिक संरचना के भविष्य की ओर संकेत करती हैं-

"वर्ण से होगा नहीं अब त्राण

कर्म से ही मनुज का कल्याण

जन्म से निश्चित न होगा वर्ण

वर्ग तक सीमित न होगा स्वर्ण

कर्म से ही श्रेष्ठता अधिकार

कर्म सबके सम आधार।"

उपसंहार अध्याय के अन्तर्गत सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध का निष्कर्ष प्रस्तुत है। अंत में सहायक ग्रंथों की सूची संकलित है, जिनका शोध-प्रबन्ध के लेखन में समयानुसार उपयोग किया गया है।

विषय की नवीनता एवं क्लिष्टता ने मेरी सीमा को बाधित अवश्य किया है किन्तु मेरा प्रयास रहा है कि अपनी सीमा से ऊपर उठकर कुछ नया दे सकूँ। कहाँ तक मैं सफल हुआ हूँ यह सहृदय परीक्षकों के मूल्यांकन का विषय है।

आभार

सृष्टि के समस्त जीवों में मनुष्य इसलिए सर्वश्रेष्ठ है कि उसके हृदय और मस्तिष्क में ज्ञान-विज्ञान एवं आध्यात्म का अद्‌भुत संगम है। ज्ञान और विज्ञान के बल पर वह भौतिक जगत् पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करता है तो आध्यात्म के बल पर आत्मिक शांति की खोज करता है। संसार देखने में जितना अधिक आकर्षक है समझने एवं जीने में उतना ही जटिल एवं वेढंगा है। मानव निर्मित सामाजिक रचना को तो समझना और भी कठिन कार्य है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सृष्टि की सांसारिक एवं सामाजिक रचना को समझा ही नहीं जा सकता। इस असंभव एवं जटिल कार्य को समझने की दृष्टि एवं साधना की शक्ति साधक को श्रेष्ठ गुरु द्वारा प्राप्त होती है। यह मेरा परम सौभाग्य है कि ज्ञान, भक्ति और शालीनता की प्रतिमूर्ति के रूप में सत्‌गुरु डॉ० रामगोपाल गुप्त जी का साथ मिला। आपके सानिध्य में रहकर मैंने सम सामयिक शोध विषय की गंभीरता एंव व्यापकता को तो समझा ही व्यावहारिक जीवन में शिष्टता एवं शालीनता पूर्वक जीवन जीने की कला भी सीखी। विषय की जटिलता में जब भी मैं उलझा, बड़े सहज भाव से आपने उसका निराकरण किया। परम श्रद्धेय गुरुवर से जो प्यार और अपनत्व मिला उसके लिए मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ। गुरुमाता श्रीमती सुशीलादेवी से जो प्यार और दुलार मिला उससे शोध-प्रबन्ध लिखने में मुझे शक्ति एवं स्फूर्ति मिली। उनका भी मैं हृदय से आभारी हूँ।

इस अवसर पर मैं प्रातः स्मरणीय बाबा श्री नन्दलाल मौर्य एवं पिता डॉ० देवलाल मौर्य तथा पूज्यनीया दादी श्रीमती शिवपती मौर्य और माता श्रीमती जय श्री मौर्य के प्रति भी हार्दिक श्रद्धा सुमन अर्पित करना अपना नैतिक दायित्व समझता हूँ जिन्होंने लालन पालन कर बड़ा किया और शैक्षिक वातावरण प्रदान कर शोध कार्य करने का अवसर दिया। फूफा श्री ज्ञान सिंह मौर्य प्रवक्ता राजकीय इण्टर कालेज बाँदा एवं बुआ श्रीमती गीता मौर्य को भी इस अवसर पर मैं अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूँ। छोटे भाई-बहन राकेश कुमार मौर्य, प्रशान्त मौर्य, यश मौर्य, कु० अंकिता मौर्य, कु० ईशा के प्रति भी स्नेह व्यक्त करने का अवसर खोना नहीं चाहता जिनकी किलकारियों के बीच यह शोध प्रबन्ध पूरा हुआ।

इस अवसर पर पं० जवाहर लाल नेहरू पी०जी० कालेज,बाँदा के हिन्दी विभाग के आचार्यगण डॉ० श्रीमती मनोरमा अग्रवाल, डॉ० ज्ञान प्रकाश तिवारी, डॉ० श्रीमती सुमन सिंह एवं डॉ० अश्विनी कुमार शुक्ल का भी हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने अपने विचारों एवं आशीर्वाद से मुझे संबल प्रदान किया। प्रो० एस०पी० सिंह वरिष्ठ आचार्य प्रतिरक्षा अध्ययन विभाग, प्रो० जे०के०बनर्जी एवं प्रो० अवधेश कुमार वरिष्ठ आचार्य भूगोल विभाग, मातृस्नेह की प्रतिमूर्ति श्रीमती इन्दू सिंह का भी मैं विशेष रूप से आभारी हूँ जिन्होंने समय-समय पर मेरा मार्गदर्शन कर मनोबल बढ़ाया। समाजसेवी श्री ओम प्रकाश जी अग्रवाल एवं श्री रामबिहारी गुप्त जी का भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने सुख-दुख के क्षणों में मेरे पिता जी का साथ दिया है और मेरे परिवार की सुख एवं समृद्धि की सदैव कामना की है। साहित्यिक विधा में शोध कार्य करना अपने आप में एक दुरूह कार्य है। इस दुरूहता को सहजता प्रदान करने में हिन्दी साहित्य के उन जाने अनजाने विद्वानों तथा सशक्त हस्ताक्षरों के साहित्यिक अप्रत्यक्ष सहयोग का मैं चिर ऋणी रहूँगा, जिनकी कृतियों के सन्दर्भ ने इस शोध यज्ञ को पूरा करने में सहयोग प्रदान किया। शोध प्रबन्ध के टंकण, मुद्रण, रूप सज्जा तथा आवरण सज्जा के लिए विपिन कुमार सक्सेना, सहारा प्रिन्टर्स, बाँदा बधाई के पात्र हैं जिनके योगदान से यह अभीष्ट पूरा हुआ।

अप्रैल, 2007

शोधार्थी

योगेश कुमार

(योगेश कुमार)

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय - दलित चेतना की पृष्ठभूमि 1-43

(क) दलित का अर्थ

(ख) चेतना का अर्थ

(ग) दलित जातियाँ

(घ) दलित चेतना : विचार विश्लेषण

(च) दलित चेतना : जीवन - दर्शन -

1. समता मूलक समाज की स्थापना का भाव।
2. सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा
3. स्वतंत्रता प्राप्ति की आकांक्षा का भाव
4. आर्थिक विषमता को दूर करने का भाव
5. शोषकों के प्रति विद्रोह का भाव
6. वेदना, घुटन और कुंठा का भाव
7. शोषितों के प्रति दया का भाव
8. प्राचीन जातीय व्यवस्था के प्रति विरोधात्मक स्तर
9. बन्धुत्व की भावना
10. मानव के विकास में बाधक धार्मिक कर्मकाण्ड का विरोध
11. अधिकार प्राप्ति के प्रति क्रांति का स्वर
12. अस्पृश्यता का विरोध
13. मानवीय जीवन मूल्यों के रक्षा का भाव
14. जीवन में श्रम का महत्व
15. ईमानदारी और विश्वास का भाव।

द्वितीय अध्याय - छायावादोत्तर पूर्व हिन्दी काव्य में दलित चेतना का क्रमिक विकास 44-99

(क) आदिकालीन काव्य में दलित चेतना का उन्मेष

1. सिद्ध साहित्य में दलित चेतना का उन्मेष

2. नाथ साहित्य में दलित चेतना की दृष्टि

3. वारकरी सम्प्रदाय में दलित चेतना की दृष्टि

(ख) मध्यकालीन हिन्दी काव्य में दलित चेतना का स्वरूप

1. निर्गुण काव्य धारा में दलित चेतना का स्वरूप

सन्त काव्य धारा

प्रेमाश्रयी काव्य धारा

2. सगुण काव्य धारा में दलित चेतना का स्वरूप

राम काव्य धारा

कृष्ण काव्य धारा

3. रीतिकालीन काव्य में दलित चेतना का स्वर

(ग) नव जागरण कालीन काव्य में दलित चेतना का स्वरूप

1. आर्य समाज का दलित लेखन पर प्रभाव

(क) पूर्ण दलित दर्शन की कविताएं

(ख) जाति पांति का भेदभाव

(ग) छुआ छूत का भेदभाव

2. महात्मा गांधी का दलित दर्शन एवं उसका दलित समाज पर प्रभाव

1. वर्ण व्यवस्था

2. अस्पृश्यता का विरोध

3. साम्प्रदायिक एकता

(घ) भारतेन्दु युगीन कविता में दलित चेतना का स्वर

(च) द्विवेदी युगीन कविता में दलित चेतना का स्वर

(छ) छायावाद युगीन कविता में दलित चेतना का बदलता स्वर

तृतीय अध्याय - "प्रगतिवादी काव्य मे दलित चेतना" **100-146**

1. मार्क्सवाद का प्रगतिवादी साहित्य पर प्रभाव

(क) पाश्चात्य प्रगतिवादी साहित्य पर प्रभाव

(ख) प्रगतिवादी हिन्दी साहित्य पर प्रभाव

(ग) हिन्दी विद्वानों की दृष्टि में प्रगतिवाद का स्वरूप

(घ) मार्क्सवादी विचारधारा का दलित चेतना पर प्रभाव

(च) भीमराव अम्बेदकर के सामाजिक चिन्तन का प्रगतिवादी दलित काव्य चेतना पर प्रभावः

1. वर्ण व्यवस्था

2. जातिवाद

3. अस्पृश्यता

(छ) मार्क्स और अम्बेदकर के विचारों में समरूता : दलित चेतना के सम्बन्ध में।

(ज) प्रगतिवादी कविता में दलित चेतना का स्वरूप -

1. वर्ण व्यवस्था की संकीर्णता के प्रति विरोधात्मक स्वर

2. पूंजीवादी व्यवस्था का विरोध

3. दलितों के प्रति सहानुभूति एवं दया का भाव

4. वर्गहीन समाज की स्थापना का संकल्प

5. सामाजिक विषमता के प्रति आक्रोश का स्वर

6. समता मूलक समाज की स्थापना हेतु नवीन जीवन मूल्यों की आवश्यकता पर बल

7. धर्मान्धता की आलोचना

8. सत्ता की शोषण नीति की आलोचना

9. रूढ़िवादी व्यवस्था एवं मान्यता का विरोध

10. दासता से मुक्ति का भाव

11. संगठन पर जोर

12. कृषक वर्ग के प्रति सहानुभूति

13. साम्प्रदायिकता का विरोध

14. मानव की महत्ता

15. क्रान्ति का आवाहन

16. नारी के प्रति नवीन दृष्टिकोण

चतुर्थ अध्याय : "प्रयोगवादी काव्य में दलित चेतना" 147-179

(क) प्रयोगवादी काव्य का जीवन दर्शन -

(ख) प्रयोगवादी काव्य में दलित चेतना का स्वरूप

1. दलित वर्ग की सामाजिक प्रतिष्ठा का भाव
2. समता मूलक समाज की स्थापना का स्वर
3. दलितों में आत्म विश्वास जगाने का प्रयास
4. जातिवादी व्यवस्था पर व्यंग्य
5. छुआ-छूत का विरोध
6. नव सृजन का संदेश
7. नैराश्य वेदना एवं कुण्ठा का भाव
8. दलितों के स्वर्णिम भविष्य का भाव

पंचम अध्याय - "साठोत्तरी हिन्दी कविता में 'दलित चेतना' 180-204

(क) साठोत्तरी हिन्दी कविता का जीवन दर्शन

(ख) साठोत्तरी हिन्दी कविता में दलित चेतना का स्वरूप

1. दलित वर्ग का सामाजिक यथार्थ
2. संघर्ष और विद्रोह का स्वर
3. अनास्था और मूल्यहीनता का स्वर
4. आक्रोश, क्षोभ और उत्तेजना का भाव
5. पूंजीवादी व्यवस्था से मोह भंग
6. शिक्षा और संगठन पर जोर

षष्ठ अध्याय - "समकालीन हिन्दी कविता में दलित चेतना" 205-255

(क) समकालीन हिन्दी कविता का सामाजिक दर्शन

(ख) समकालीन हिन्दी कविता में दलित चेतना का स्वरूप

1. शिक्षा और संगठन पर जोर

2. स्वाभिमानी जीवन जीने की ललक

3. नव सृजन की भावना

4. अस्पृश्यता का विरोध

5. सामाजिक विषम व्यवस्था के प्रति आक्रोश

6. धार्मिक कर्मकाण्ड के प्रति अनास्था का भाव

7. मनुवादी राजनीतिक व्यवस्था पर व्यंग्य

8. दलित आरक्षण का समर्थन

9. जातीय व्यवस्था के प्रति प्रतिक्रियावादी दृष्टि

10. साहित्य सृजन की ललक

11. साम्प्रदायिक सद्भाव

सप्तम अध्याय - उपसंहार 256-271

सहायक ग्रन्थों की सूची 272-277

प्रथम अध्याय

दलित चेतना की पृष्ठभूमि

मनुष्य सम्बेदनशील सामाजिक प्राणी है। सम्वेदनशीलता ही के कारण वह सृष्टि के समस्त जीवों में सर्वश्रेष्ठ है। उसकी लोकोन्मुखी रचनाधर्मिता समतामूलक समाज के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। समाज को सशक्त एवं सुन्दर बनाने के अनेकानेक भौतिक संसाधन प्राचीन काल से ही जगत में उपलब्ध है, पर साहित्य ने मानव समाज को जो शक्ति, सम्बल और दिशा प्रदान की है उसका मूल्यांकन करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। मानव समाज का स्वरूप ऊपर से जितना सरल, सहज एवं आकर्षक दिखायी देता है, उतना है नहीं क्योंकि उसकी संरचना में बड़ी विविधता एवं जटिलता है। जाति, धर्म, सम्प्रदाय, रंगरूप, भाषा, संस्कृति के ताने-बाने में उलझे मानव समाज को एक सूत्र में बांधने का कार्य सदैव से ही यहाँ के कालजयी साहित्य मनीषियों ने किया है। श्रेष्ठ साहित्यकार त्रिकालदर्शी होता है। वह अपनी विवेकशक्ति से सत् और असत् , धर्म और अधर्म, न्याय और अन्याय में भेदकर आम आदमी के समक्ष एक आदर्श प्रस्तुत करता है। उसकी लोकोन्मुखी दृष्टि मानव समाज के अतीत पर चिन्तन करने के लिए उसे विवश करती है। उसके नये-नये संकल्प एवं शाश्वत जीवन-मूल्य समाज पर सोंचने को उसे मजबूर करते हैं। चूंकि साहित्यकार की राह समाज के ठोस एवं खुरदुरे यथार्थ से होकर गुजरती है, इसलिये वह मानव जीवन और समाज की हर विसंगति और चुनौती से परिचित होता है। मानव समाज के हर संकट को उसने ईमानदारी और निष्ठा से दूर करने का प्रयास सदैव से किया है।

समय परिवर्तनशील है। सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज तक मानव समाज के न जाने कितने रूप बने और बिगड़े, सब का सटीक आकलन करना बहुत कठिन है। मानव समाज का इतिहास इस बात का गवाह है कि हर सामाजिक व्यवस्था के अपने कुछ कायदे और कानून होते हैं जो समयानुसार सामाजिक बदलाव के साथ बदलते रहते हैं। प्राचीनकाल में सामाजिक व्यवस्था के संचालन हेतु मनीषियों ने कर्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था का तानाबाना बुना। सामाजिक असंतुलन तो तब बना जब वर्ण व्यवस्था को जाति व्यवस्था में बदल दिया गया। कालान्तर में मनुष्य के कर्म में बदलाव आया। वर्ण एवं जाति व्यवस्था में कुछ दरार पड़ी। मनुष्य ने स्वार्थ एवं लालचवश धन और बल से समाज में विभेद पैदा करना प्रारम्भ किया। जिसका परिणाम यह हुआ कि समाज मुख्य रूप से दो वर्गों मे विभक्त हो गया - प्रथम शोषक वर्ग एवं द्वितीय उपेक्षित शोषित दलित वर्ग। शोषित वर्ग चूंकि शोषक

वर्ग से धन, बल और बुद्धि में कमजोर था इसलिये कुटिल बुद्धिमान, बाहुबलियों द्वारा उन पर शासन करने की नियति से उन्हें प्रजा का नाम दे दिया गया और उनका प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से शोषण करते रहे।

किसी भी समाज में सामाजिक, संतुलन एवं समरसता तब तक सही नहीं बन सकती जब तक कि समाज में रहने वाले हर सामाजिक का समान रूप से समादर न हो। एक कुशल साहित्यकार अपनी रचना शक्ति के माध्यम से यह सामंजस्य बनाने की कोशिश करता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास पर गंभीरतापूर्वक विचार करने से यह बात स्पष्ट होती है कि भक्तिकाल एवं आधुनिक काल के अधिकांश हिन्दी साहित्यकारों ने समाज के उपेक्षत एवं दलित वर्ग के कल्याण एवं उत्थान की बात की है। हाँ यह बात अवश्य है कि आज जैसी बेचैनी, उग्रता एवं आक्रोश के स्वर पहले के कवियों का नहीं था। अपनी बात के कहने के उनके अपने अंदाज थे। युग बदला, लोगों की सोच बदली और सामाजिक जातीय व्यवस्था की नये युग के हिसाब से मूल्यांकन करने की आवश्यकता महसूस हुई। राजनीतिक चेतना ने जातीय सामाजिक चेतना को नयी दृष्टि के साथ-साथ संबल भी प्रदान किया। जागरूक साहित्यकारों ने सामाजिक व्यवस्था के इस असंतुलन को दूर करने के लिये चली आती हुई अनेकानेक कुप्रथाओं एवं रीति-रिवाजों पर कुठाराघात किया। चूंकि उसकी चेतना के केन्द्र का स्वर बहुजन सुखाय था इसलिये समाज के एक बहुत बड़े उपेक्षित वर्ग ने उन्हें अपना प्रहरी समझा। पाखण्डी बुद्धिजीवियों के चंगुलसे मुक्तकर हर उस व्यक्ति को साहित्य से जोड़ने की कोशिश की जो समाज की एकरूपता से सम्बद्ध था। साहित्य को आनन्द और मनोरंजन की परिधि से निकालकर मानव की जीवन चेतना से सम्बद्ध करने का प्रयास किया। श्रेष्ठ साहित्य ज़नमानस को जगाने का कार्य करता है। कथाकार मुंशी प्रेमचन्द ने इसी संदर्भ में साहित्य के महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है- हमें ऐसे साहित्य की रचना करनी चाहिए - "जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे सुझाये नहीं।"[1] प्रेमचन्द की इस दूरदृष्टि में व्यापकता एवं गहराई दोनों है। उनकी इस दृष्टि का आदर करते हुये हमें यह मन लेना चहिये कि साहित्य का सम्बन्ध समाज से है, व्यक्ति से है, उसके जीवन-जगत से है, उनके दैनिक क्रिया-व्यापार से है। साहित्य और समाज को विलग करके नहीं देखा जा सकता। प्रत्येक कला की तरह साहित्य का भी सरोकार सार्वजनिक है।

वीसवीं शताब्दी में मानव समाज के स्वरूप में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। उपभोक्तावादी

संस्कृति ने मानव जीवन के हर क्षेत्र में बदलाव लाया। पाश्चात्य संस्कृति की चकाचौंध ने उसका रहन-सहन संचार-संप्रेषण अभिव्यक्ति, जीवन पद्धतियाँ आदि सब बदल दी। कथाकार गोविन्द मिश्र ने इस सामाजिक बदलाव पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए लिखा है- "हमें कुछ नहीं तो दीया तो जलाये ही रखना है, आंधी के बीच दीये की रक्षा और सजगता से करनी है। जीवन, मनुष्यता, सौन्दर्य, सार्वकालिक मूल्य - इनमें हम अपनी आस्था तो बनाये रखें। ..... अगर हमारा लेखन ही मूल्यविहीन हो गया तो हम आंधी की धूल को अपनी आंखो में भी झोंक ले रहे हैं। संसार का जो भी बड़ा लेखन है, जो सदियों का रास्ता तय करके आज हम तक पहुँचा है, आगे भी जायेगा - वह वही है जिसने या तो नये मूल्यों की सृष्टि की या चिरन्तन मूल्यों के सम्बहन का काम किया। चिरन्तन मूल्यों पर जो धूल जम गयी है, अगर उसे साफ करना जरूरी है तो नये मूल्यों की सृष्टि भी जरूरी है। यह काम साहित्यकार के अलावा कोई नहीं कर सकता। आज के जो दबाव है नये मूल्य उसके भीतर से ही निकलेंगे। हमें इन दबावों को सकारात्मक दृष्टि से खखोरना होगा। कचरे में पड़े दबे पत्थर के उन टुकड़ों को पहचानना होगा जो साफ किये जाने और तराशे जाने पर कदाचित रत्न बन सकें।"[2] आज का दलित चिन्तन इसी सामाजिक, सांस्कृतिक परिवर्तन का प्रतिफल है जो कड़े संघर्ष एवं टकराहटके बाद इस रूप में उभरकर आया है। हिन्दी साहित्य, इस बदलाव से अछूता नहीं है। हिन्दी साहित्य के हर काल में दलित चेतना किसी न किसी रूप में विद्यमान रही है। डाँगे श्रीपाद अमृत के शब्दों में "कला अथवा साहित्य का ध्येय जन जीवन का चित्रण करना, शोषण अथवा दासता के विरुद्ध छेड़े गये जनता के संग्राम में उसका अस्त्र बनना है।"[3]

दलित का अर्थ :

विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर का विचार है कि - "साहित्य विरोधात्मक तत्वों में अविरोध स्थापित कर सबको एक सूत्र में बांधने का प्रयास करता है।"[4] अर्थात साहित्य का सम्बन्ध समाज के हर वर्ग से समान रूप से होना चाहिये। क्योंकि वह, जड़ताओं, विषमताओं, विद्रूपताओं और कुसंस्कारों को त्यागने के लिए वातावरण तैयार करता है। सामाजिक मान्यताओं में जो ठहराव आ जाता है, प्रवृत्तियों में जो वौनापन आ जाता है, दृष्टि-सृष्टि में जो भेद हो जाता है उसे परत-दर-परत कुरेद-कुरेद कर साहित्यकार समाज को स्वच्छता प्रदान करता है। दलित साहित्यकार इस ठहराव को गति देता है, उजास बांटता है। देश के कोटि-कोटि जनों को गुलामी की कारागार से मुक्त कराने का

संदेश देता है। 'दलित' शब्द भारतीय समाज और साहित्य के लिये नया नहीं है। हर युग में इस नाम का बदल-बदल कर प्रयोग होता रहा है। विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से इस शब्द के अर्थको परिभाषित किया है। संस्कृत के विद्वानों का मानना है कि 'दलित' शब्द की व्युत्पत्ति 'दल' धातु से हुई है। संस्कृत शब्दकोश में दलित शब्द का अर्थ निम्न रूप से दिया गया है - दलित = टूटा हुआ, चीरा हुआ, फाड़ा हुआ, टुकडे-टुकड़े हुआ, खुला हुआ, फैलाया हुआ।[5]

प्राकृत शब्दकोश में दलित के स्थान पर 'दल' शब्द का प्रयोग मिलता है - दल = विकसना, फटना, खण्डित होना, द्विधा होना, चर्ष करना, टुकड़े करना, विदारना सैन्य, लश्कर, पत्र, पत्री।[6]

अंग्रेजी शब्दकोश में दलित शब्द के लिये 'टूवर्स्ट', ओपन सिप्लट, क्लेब, क्रंक का प्रयोग मिलता है।[7]

मराठी शब्दकोशों में 'दलित का अर्थ विनष्ट किया हुआ दिया गया है -

दल = नाशकरणे (विनष्ट हुए)

दलित = नाश पावलेला (विनष्ट हुआ)

दीन = दलित = समानार्थी शब्द।[8]

हिन्दी शब्द कोशों में 'दलित' शब्द के अनेक अर्थ दिये गये हैं। जैसे-

1. मसला, हुआ मर्दित
2. दबाया, रौंदा या कुचला हुआ।
3. खण्डित
4. विनष्ट किया हुआ।[9]

भाषा वैज्ञानिक डॉ0 भोलानाथ तिवारी ने दलित शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है-

1. दलित = कुचला हुआ, मर्दित, मसला हुआ, रौंदा हुआ।
2. दलित = अछूत, जनजाति, डिप्रेस्ड क्लास।[10]

डॉ0 रामस्वरूप रसिकेश ने दलित शब्द का विश्लेषण निम्न रूप में किया है -

दलित = खण्डित, चूर्णित, मर्दित, अस्पृष्य, अत्यंज, नाशित, ध्वंसित, नीच, हरिजन।

डॉ0 बाबूराम सक्सेना का मानना है कि 'दल के साथ क्त प्रत्यय होने से दलित शब्द बना है जिसका अर्थ है - समुचित हुआ। दल क्त के स्थान पर दल संज्ञा के साथ 'इत्' प्रत्यय लग जाने

पर इसका अर्थ विशेषण में बदल जाता है।

शब्दकोशों के अतिरिक्त अन्य हिन्दी लेखकों ने भी इस शब्द की अपने-अपने ढंग से व्याख्या एवं समीक्षा की है। डॉ0 सोहनपाल सुमनाक्षर ने दलित शब्द को परिभाषित करते हुए लिखा है - "दलित वह है जिसका दलन किया गया हो। उपेक्षित, अपमानित, प्रताड़ित, बाधित और पीड़ित व्यक्ति भी दलित की श्रेणी में आते हैं। इस तरह दलित शब्द की परिभाषा के अन्तर्गत जहाँ सदियों से सामाजिक वर्ण व्यवस्था और जातिवाद से अभिशप्त दलित शोषित उत्पीड़ित व्यक्ति आते हैं वहीं सदियों से उत्पीड़ित, उपेक्षित, अपमानित, शोषित, सामाजिक बन्धनों में बाधित नारी और बच्चे भी इसी श्रेणी में आते हैं। भूमिहीन, अछूत,बंधुआ, दास, गुलाम, दीन और पराश्रित-निराश्रित भी दलित ही है। दलित शब्द जहां व्यक्तिको अपनी अस्मिता स्वाभिमान और अपने गौरवमय इतिहास पर दृष्टिपात करने को बाध्य करता है, वहीं पर अवगति, वर्तमान स्थिति और तिरस्कृत जीवन के विषय में सोंचने के लिये विवश करता है। दलित शब्द आक्रोश, चीख, वेदना, पीड़ा, चुभन, घुटन और छटपटाहट का प्रतीक है।[12]

श्रीमती कुसुम मेघवाल ने दलित शब्द के प्रति अपना दृष्टिकोण कुछ इस प्रकार प्रकट किया है - दलित शब्द का अर्थ है दबाया हुआ, कुचला हुआ समाज में जो वर्ग बहुत दिनों से सताया हुआ है, वह दलित वर्ग है। दलित वर्ग का प्रयोग हिन्दू समाज व्यवस्था के अन्तर्गत परम्परागत रूप से शूद्र माने जाने वाले वर्गों के लिये रूढ़ हो गया है। दलित वर्ग में जातियाँ आती है जो निम्न स्तर पर हैं और जिन्हें सदियों से सताया गया है।[13] श्री लक्ष्मण शास्त्री जोशी ने दलित को अछूत का पर्याय माना है। वह व्यक्ति विशेष न होकर बल्कि समाज के एक वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है - "दलित मानवीय प्रगति में सबसे पीछे पड़ा हुआ और पीछे ढकेला गया सामाजिक वर्ग है। महाराष्ट्र के हिन्दू समाज में महार, चमार, डोम इत्यादि जिन जातियों को गांव के बाहर रहने के लिए बाध्य किया गया और जिनसे समाज विशेषतः सवर्ण समाज शारीरिक सेवाएं तो लेता रहा, लेकिन जीवनावश्यक प्राथमिक जरूरतों से भी जिन्हें जान-बूझकर वंचित रखा गया और पशुओं के स्तर पर घृणित जीवन जीने के लिए बाध्य किया गया, उनको अछूत या दलित कहा गया।"[14] श्री रतनकुमार सांभरिया का मानना है कि जो अपना आत्म सम्मान या आत्म विश्वास खो चुका है और अपमानित जीवन जी रहा है वह दलित की श्रेणी में आता है - "दलित शब्द का शाब्दिक अर्थ है - दबा हुआ, आत्मसम्मान और आत्म विश्वास का जिसमें अभाव हो, मनोबल की कमी हो, अपमान शोषण, उत्पीड़न और प्रताड़ना

को जिसने अपनी नियति मान लिया हो, दलित जैसी भावनाएं सृजन और सृजक दोनों को कुण्ठित करती हैं।[15] दलित लेखक श्री ओम प्रकाश बाल्मीकि ने दलित के सम्बन्ध में अपने विचार कुछ इस प्रकार प्रकट किया है - "दलित शब्द भाषावाद जातिवाद और क्षेत्रवाद को नकारता है और पूरे देश को एक सूत्र में पिरोने का कार्य करता है।[16]

डॉ0 चन्द्रकुमार वरठे ने दलित का अर्थ जाति विशेष से माना है - "दलित का अर्थ है अनुसूचित जाति, बौद्ध कामगार, भूमिहीन, मजदूर, गरीब, किसान, खानाबदोश जातियाँ आदिवासी और नारी समाज। यह शब्द मनुष्य की पीड़ा को अभिव्यक्ति देने का कार्य करता है।"[17]

प्रसिद्ध मराठी दलित साहित्यकार डॉ0 गंगाधर पांतावणे का मानना है कि - "दलित कोई जाति नहीं बल्कि परिवर्तन और जाति का प्रतीक है। दलित मानवतावाद में विश्वास करता है। परन्तु वह ईश्वर के अस्तित्व पुनर्जन्म, आत्मा तथा उन तथाकथित धार्मिक ग्रन्थों को अस्वीकार करता है जो भेदभाव की शिक्षा देते हैं। वह भाग्य तथा स्वर्ग की अवधारणाओं को भी अस्वीकार करता है, क्योंकि ये ही विचार उसको दासत्व का बोध कराते हैं। वह इस देश में दबाये सताये हुए समाज का प्रतिनिधित्व करता है, जो वर्षों से जानवर से भी बदतर जिन्दगी जीने को अभिशप्त है। वह विरोध करता है, एक बहुत ही सूझ-बूझ के साथ विकसित की गयी हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का जिसने कि मानव के रूप में उसके अस्तित्व को कभी स्वीकार ही नहीं किया तथा मानवीय गरिमा का निरन्तर निरादर किया गया। जिसके मृतप्राय शरीर को पीड़ा और वेदना का संत्रास झेलना पड़ा। यही अलगाववाद का बोध उन हजारों दलितों के पुनर्जागरण का अक्षय स्रोत है।[18]

शब्दकोशों में 'दलित' का जो अर्थ दिये गये हैं और प्रसिद्ध दलित एवं गैरदलित विद्वानों द्वारा दलित के सम्बन्ध में जो अवधारणायें स्थापित की गयी हैं उन पर सम्यक विचार करने के बाद यह कहा जा सकता है कि दलित वह है जिसका दलन किया गया हो। उपेक्षित, अपमानित, प्रताड़ित, बाधित और पीड़ित सभी व्यक्ति दलित के श्रेणी में आते हैं दलित अस्मिता बोधक शब्द है। भूमिहीन, अछूत, बंधुआ, दास, गुलाम, दीन ओर पराश्रित भी दलित ही है। यह शब्द आक्रोश, चीख, वेदना, पीड़ा, चुभन, घुटन ओर छटपटाहट का प्रतीक है।

चेतना का अर्थ :

चेतना शब्द का प्रयोग बुद्धि, मनोवृत्ति, ज्ञानात्मक मनोवृत्ति, स्मृति एवं चेतनता के अर्थ में किया जाता है। दर्शन में इस तत्व को 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतना नामे को वहूनां यो विद्धति कामान' (उपनिषद) इन शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है। जीवन इस विराट चेतना का प्रवाह है। इसे बोध या चैत्य के सामानार्थक शब्द के रूप में ग्रहण किया गया है। यथा - "चेतन मानस की प्रमुख विशेषता चेतना है अर्थात वस्तुओं, विषयों एवं व्यापारों का ज्ञान।"[19] चेतना प्राणिमात्र में रहने वाला वह तत्व है जो उसे निर्जीव जड़ पदार्थों से भिन्न बनाता है और उन्हे चैत्य सम्पन्न बनाकर जीवधारी सिद्ध करता है - "चेतना स्वयं को और अपने आस-पास के वातावरण को समझने तथा उसकी बातों का मूल्यांकन करने की शक्ति का नाम है।"[20]

अंग्रेजी में चेतना का समानार्थी शब्द है - 'कान्शसनेस' जिसका सामान्य अर्थ होता है, आन्तरिक ज्ञान अथवा चेतन जागरूकता।' हैमिल्टन चेतना को चिन्तनशील प्राणी द्वारा अपने कार्यों अथवा प्रवृत्तियों की स्वीकृति मानता है। 'लोके' ने, मनुष्य के अपने मन में जो कुछ घटित होता है, उसके प्रत्यक्ष ज्ञान को चेतना कहा है। 'क्लार्क' का कथन है कि गम्भीर और सही अर्थ में चेतना उस प्रतिक्षेपित क्रिया की सूचक है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति को यह ज्ञान होता है कि वह विचार कर रहा है और उसके वे विचार तथा क्रियाएं स्वयं उसकी अपनी है किसी दूसरे की नहीं। 'रीड' के अनुसार चेतना दार्शनिकों द्वारा प्रयुक्त शब्द है जो व्यक्ति के वर्तमान विचारों, उद्देश्यों और सामान्यतया मन की समस्त वर्तमान क्रियायों से सम्बद्ध तात्कालिक ज्ञान का सूचक है। दिआक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी में चेतना के सम्बन्ध में जो व्याख्या की गयी है उसका हिन्दी रूपान्तरण इस प्रकार है - "चेतना मस्तिष्क में जो कुछ यहाँ और अभी उपस्थित है, उसका ज्ञान है। अतः वह केवल अन्तःप्रेरणीय है और उसके ज्ञानाधीन वस्तुएं पूर्णतः अनुभूतिपरक हुआ करती हैं।[21] मनोविज्ञान के अनुसार चेतना मानव में उपस्थित वह महत्वपूर्ण तत्व है जिसके कारण ही उसे विविध प्रकार की अनुभूतियों से वंचित मानव, मानव नहीं वह और कुछ बन जायेगा। इसे 'भाव' (फीलिंग) या मानव अनुभव (मेण्टल इक्सपीरियन्स) कहा जाता है, मनोवैज्ञानिक अर्थ में 'चेतना सभी प्रकार के मानसिक अनुभवों का संग्रहालय है। एक अन्य धारणा के अनुसार - 'चेतना अनुभवकर्ता द्वारा सांसारिक वस्तुओं का यथातथ्य अवलोकन ही नहीं, अपितु उनका मूल्यांकन भी है। तात्पर्य यह कि चेतना एक आन्तरिक प्रक्रिया होती है, जो वाह्य

परिणामों की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न होती है। सुख तथ दुख की अनुभूतियाँ चेतना की ही देन है। इनकी उत्पत्ति वाह्य परिस्थितियों के कारण हुआ करती है।

विज्ञान के अनुार चेतना वह अनुभूति है जो मस्तिष्क में पहुँचने वाले अभिगामी आवेगों का अर्थ तुरन्त अथवा बाद में लगाती है। मस्तिष्क कभी-कभी तो तुरन्त अर्थ समझ लेता है और कभी बाद में धरोहर के रूप में ग्रहीत विचारों के चिन्तन-मनन द्वारा उनके अर्थों को ग्रहण करता है। कुछ विद्वान चेतना को मस्तिष्क का गुण धर्म मानते है, जिससे हम अन्य पदार्थों का उनकी क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं का, उन्नति अवनति का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस प्रकार का सीधा एवं स्पष्ट सम्बन्ध पदार्थ से है - "ऐसी कोई अनुभूतियाँ और धारणायें देखने में नही आयी है जो पदार्थ के विना स्वतः पैदा हुई हो। ..... वैज्ञानिक तथ्यों ने पुष्ट कर दिया है कि चेतना अविकसित पदार्थ-मानव मस्तिष्क का गुण धर्म है।[22] इस गुणधर्म के द्वारा हमें अपने आस-पास की घटनाओं का बोध प्राप्त होता है और हम विश्व को जान पाते हैं अतः चेतना के लिए न केवल मस्तिष्क अपितु पदार्थ अथवा वस्तुओं का होना भी आवश्यक है जो मस्तिष्क पर प्रभाव डालते हैं।

चेतना एक ऐसा साधन है कि जिसके कारण ही हम देखते-सुनते समझते एवं अनेक विषयों पर चिन्तन करते हैं। लक्ष्मीकान्त वर्मा के अनुसार "चेतना का प्रवाह जीवन का द्योतक है। अहम् इस चेतना की अभिव्यक्ति है। एक ओर यदि चेतना जीवन के भार को बहन करती है, तो दूसरी ओर वह जीवन के प्रसंग में सक्रिय भाग लेती है। सक्रिय भाग का आशय निश्क्रियता नहीं है और न ही उसका लक्ष्य चेतन ऊर्ध्वमुखी है। ऊर्ध्वमुखी होने में यह निहित है कि जीवन का अस्तित्व अर्न्तमुखी भी है, विकास का क्रम भी अपने वैज्ञानिक अर्थ में यह स्थापित करता है कि विकास किसी एक बिन्दु अथवा किसी स्थिति में हेगा।"[23]

मानवीय चेतना में ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक वृत्तियों का समावेश होता है। वह मनुष्य की विशिष्टता है जो उसे व्यष्टिगत तथा वातावरण के विषय में ज्ञान कराती है। इस प्रकार के ज्ञान को विचार शक्ति या बुद्धि कहा जाता है। मनुष्य की सम्पूर्ण क्रियाओं एवं गतिशील प्रवृत्तियों का मूल कारण चेतना ही है। चेतना का विकास सामाजिक वातावरण पर निर्भर करता है। वातावरण के प्रभाव से मनुष्य नैतिकता, औचित्य और व्यवहार कुशलता प्राप्त करता है। यह चेतना का विकास कहा जा सकता है। वस्तुतः मनुष्य समाज में जन्म लेता है और उसी के बीच रहकर विभिन्न क्रिया-

कलाप करते हुए विकास की ओर अग्रसर होता है। यह एक समाजशास्त्रीय तथ्य है कि व्यक्ति समाज की इकाई है। प्रत्येक व्यक्ति समाज से नाना रूपों से तथा अनेक सूत्रों से जुड़ा हुआ है। सामाजिक प्राणी होने के नाते वह समाज में रहकर ही अपनी वास्तविक प्रकृति का विकास करता है। वह सामाजिक क्रियाओं द्वारा ही अपने को अभिव्यक्त करता है और उसकी चेतना की संरचना भी सामाजिक सम्बन्धों पर निर्भर करती है। सामाजिक सम्बन्धों के माध्यम से ही वह अपनी चेतन को व्यक्त करता है।

दलित जातियाँ :

दलित जनों की जीवन कहानी उतनी ही पुरानी है जितनी की भारतीय हिन्दू संस्कृति पुरातन है। चातुर्वर्ण्य - व्यवस्था भारतीय संस्कृति की अपनी एक विचित्र विशेषता है। ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों पर आधारित चातुर्वर्ण्य व्यवस्था ऋग्वैदिक काल से लेकर अद्यतन जातियों की श्रेष्ठता क्रम में विद्यमान है। वेदों, स्मृतियों, पुराणों में व्यक्त जीवन पद्धति वर्ण व्यवस्था पर टिकी हुई है। इस तरह का मिथ्या प्रचार आज भी जारी है कि इनका स्रष्टा मानव नहीं ईश्वर है। इन अवधारणाओं के प्रतिपादक सभी धार्मिक ग्रंथ प्रत्येक वर्ण का कार्य बतला चुके हैं। ब्राहमण, क्षत्रिय और वैश्य के भारतले शूद्र सबसे नीचे आता है। जिसका कर्तव्य तीनों वर्णों की सेवा बतलाया गया है। लगभग 200 ई0पूर्व से 200 ईसबी सन् के बीच शूद्रों की स्थिति का ज्ञान मनु के विधि ग्रंथ 'मनुस्मृति' से प्राप्त होता है। मनु ने अपने ग्रंथ में शूद्रों के प्रति घोर अमानवीयता का परिचय दिया है। शूद्रों और स्त्रियों को विद्या एवं वेद अध्ययन के अधिकारों से वंचित तो रखा ही गया था, साथ ही वेद-पठन एवं सुनना भी वर्जित था। मनुस्मृति के अनुसार "यदि शूद्र जानबूझकर वेदों का पठन सुनता है, तब उसके कानों में पिघलता शीशा या लाख डाली जाये। यदि वह वेदों का उच्चारण करता है तब उसकी जबान काट ली जाए, यदि वेदों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है तब उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाएं।"[24]

शूद्र पहचान से इतर एक ऐसा वर्ग जिसकी पहचान अस्पृश्य के रूप में बनी, जिन्हें हिन्दू व्यवस्था में समायोजित करने के उद्देश्य से इन्हें महात्मा गांधी द्वारा 'हरिजन नाम दिया गया। सन् 1931 में प्रशासनिक तौर पर डिप्रेस्ड क्लास के स्थान पर एक्टीरियर क्लास(बाहरी या बहिष्कृत वर्ग) नाम दिया गया जिसके आधार पर डॉ अम्बेदकर ने 1931 के गोलमेल सम्मेलन, लंदन में इन जातियों

को बहिष्कृत या हिन्दू जातीय संरचना से बाहर की जाति के रूप में वैधता प्राप्त हो जाने के बाद पृथक निर्वाचन का प्रस्ताव रखा जिसका महात्मा गांधी ने पुरजोर विरोध किया। भारत सरकार अधिनियम 1935 के तहत डिप्रेस्ड क्लास और एक्सटीरियर क्लास के स्थान पर 'अनुसूचित जाति' प्रशासनिक तौर पर प्रयोग में आये। इस प्रकार जातीय संरचना और सामाजिक आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखकर सरकारी तौर पर उत्थान हेतु जातियों की अनुसूची तैयार की गयी। इस आधार पर अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति एवं अन्य पिछड़ा वर्ग नामक प्रशासनिक शब्द प्रयुक्त हुए जिनको सामाजिक अस्मिता बोध के रूप में 'दलित' शब्द के अन्तर्गत समायोजित करने की कोशिश की गयी। डॉ0 भीमराव अम्बेदकर ने दलित जातियों के बारे में अपने विचार कुछ इस प्रकार प्रकट किये हैं - दलित जातियाँ वे हैं जो अपवित्रकारी होती हैं। इनमें निम्न श्रेणी के कारीगर, धोबी, मोची, भंगी, वसोर, सेवक जातियाँ जैसे चमार डंगारी (मरे पशु उठाने के लिए) सउरी (प्रसूति गृह का कार्य करने वाले) ढोला उफली बजाने वाले आते हैं। कुछ जातियाँ परम्परागत कार्य करने के अतिरिक्त कृषि मजदूरी का कार्य भी करती हैं। इनकी स्थिति बंधुआ मजदूर जैसी रही है।[25] माता प्रसाद जी ने दलित जातियों के बारे में कुछ इस प्रकार विचार प्रस्तुत किया है - "दलित वर्ग में जहाँ अनुसूचित जातियाँ आती हैं, वहीं इनमें अनुसूचित जनजातियाँ और विमुक्त जातियाँ भी आती हैं। अनुसूचित जातियाँ वे आदि जातियाँ हैं जो आधुनिक सभ्य समाज से दूर प्रायः पर्वतीय अंचलो और मैदानी भागों में भी ऐसे स्थानों पर रहना पसन्द करती हैं जो अन्य लोगों की बस्तियों से अलग हटकर दूर हो और स्वेच्छा से गैर आदिम जातियों से घुलना मिलना न चाहें। इनका अस्तित्व बहुत प्राचीन है। सन् 1931 में इन्हें सूचीबद्ध किया गया। इस समय से इन्हें 'आदिवासी जातियों' के नाम से जाना जाता है। भारतीय संविधान में इन्हें अनुसूचित जातियाँ कहा गया है।"[26]

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि दलित जातियों के अन्तर्गत वे जातियाँ आती हैं जो आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से दबी कुचली हैं और प्राचीन काल से ही विभिन्न रूपों में जीवन जीते हुए आज कुछ विशेष शब्द जैसे - अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति आदिवासी एवं विमुक्त जति के नाम से प्रचलित है। समाज की मुख्य धारा से इनका जीवन कुछ भिन्न होता है, क्योंकि इनकी सोंच अविकसित होती है। पर अब जब से इन्हें राजनीतिक संरक्षण प्राप्त हुआ और विभिन्न स्तरों पर इनकी सहभागिता होने लगी इनके हर क्षेत्र में परिवर्तन आ गया।

दलित चेतना : विचार विश्लेषण :

दलित चेतना का शाब्दिक अर्थ है - दलितों की चेतना, दलितों में चेतना या दलितों के प्रति चेतना। पर इतने से ही 'दलित चेतना' का व्यापक अर्थ प्रकट नहीं होता। सामाजिक संरचना की जटिल बुनावट और उसकी जड़ता ने इसके अर्थ गाम्भीर्य को विवादास्पद बना दिया है। डॉ0 शरण कुमार लिंवाले ने दलित चेतना की व्याख्या करते हुए लिखा है - "दलित साहित्य में 'दलित चेतना' संघर्ष से नाता रखने वाली क्रान्तिकारी मांसिकता है। मनुष्य को केन्द्र मानकर जाति व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करने वाली यह प्रतीति है। इस चेतना की प्रेरणा अंबेडकरी सोच है। दलित चेतना गुलाम को गुलामी से अवगत करा देती है। दलित चेतना दलित साहित्य का महत्वपूर्ण जनन बीज है। यह दलित चेतना अन्य लेखकों की चेतना की अपेक्षा अलग और विशेषतापूर्ण है। इस चेतना के कारण ही दलित साहित्य की अलगता रेखांकित होती है।"[27]

भारतीय हिन्दू समाज में विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों एवं धर्मावलम्बियों के रहने के कारण वैचारिक स्तर पर बड़ी विभिन्नता है। दलित चेतना सम्बन्धी अवधारणा इससे कैसे अछूती रह सकती है। दलित चेतना के सम्बन्ध में विद्वानों में दो धारणायें स्पष्ट रूप से देखने को मिलती हैं -

1. दलित लेखकों द्वारा दलितों के प्रति प्रकट किया गया विचार।
2. गैर दलित लेखकों द्वारा दलितों के प्रति प्रकट की गयी सहानुभूति।

हिन्दी साहित्य में दलित चेतना का एक क्रमिक विकास देखने को मिलता है। जिसमें दलित और गैर दलित दोनों प्रकार के साहित्यकार मिलते हैं। कुछ विद्वानों का यह मानना है दलित चेतना को समझने के लिये दलित साहित्य को समझना अति आवश्यक है। रमणिका गुप्ता ने 'दलित सपनों का भारत और यथार्थ' नामक पुस्तक में दलित चिन्तन के सैद्धान्तिक पक्ष पर विचार करते हुए लिखा है - "ज्योतिवाफुले द्वारा सन् 1873 में लिखी गयी पुस्तक 'गुलामगिरि' वास्तव में शूद्रों - अतिशूद्रों का मुक्ति घोषणा पत्र है।"[28] रमणिका गुप्ता के विचारों से पूर्णतः सहमत हुआ नहीं जा सकता। क्योंकि हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत नाथ साहित्य, सिद्ध साहित्य, बौद्ध साहित्य एवं निर्गुण काव्यधारा के कवियों ने दलितों के सम्बन्ध में तत्कालीन परिस्थिति एवं समय की मांग के अनुसार अपने विचार जो रखे हैं उन्हें हम अनदेखा नहीं कर सकते। सुप्रसिद्ध दलित चिन्तक ओमप्रकाश बाल्मीकि जो इस बात से दुखी है कि "हिन्दी साहित्य में ढूढ़ने पर भी हमें अपना चेहरा दिखायी नहीं देता।"[29] निश्चित तौर

पर यह कचोटने वाला सवाल परम्परागत स्थापित साहित्य और समाज को कटघरे में खड़ा करता है। दलित चेतना को ठोस आधार प्रदान करने में महाराष्ट्र के दलित मुक्ति आन्दोलन का महत्वपूर्ण योगदान है। बींसवी शताब्दी इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पेरियर, ज्योतिवाफुले एवं डॉ0 अम्बेदकर ने दलित चेतना को जो नई दृष्टि, गति एवं दिशा दी उसकी परिणति आज विभिन्न राजनीतिक एवं सामाजिक रूपों में देखने को मिल रही है।

दलित चेतना एवं दलित साहित्य में बड़ा घनिष्ठ अन्तः सम्बन्ध है। इसलिए दलित चेतना के आकलन हेतु दलित साहित्य को भी समझना आवश्यक ही नहीं प्रांसागिक भी है। दलित साहित्य मानव मुक्ति का साहित्य तो है ही साथ ही साथ शास्त्र से मुक्ति की चेतना का साहित्य भी है। डॉ0 सोहनपाल सुमनाक्षर के शब्दों में - " दलित साहित्य दया, याचना व करूणा का साहित्य नहीं है। यह क्रान्ति का साहित्य है, विद्रोह का साहित्य है, समता का साहित्य है और समरसता का साहित्य है।"[30] डॉ0 शरण कुमार लिंवाले ने दलित साहित्य के सम्बन्ध में अपने विचार कुछ इस प्रकार व्यक्त किये हैं - "दलितों का दुख, परेशानी, गुलामी अधःपतन और उपहास के साथ ही दरिद्रता का कलात्मक शैली से चित्रण करने वाला साहित्य ही दलित साहित्य है।[31] सन् 1967 में महाबलेश्वर में आयोजित महाराष्ट्र साहित्य परिषद के विभागीय साहित्य सम्मेलन में दलित साहित्य पर श्री अनिल जी ने अपने भाषण में कहा था - "दलित जीवन की सम्वेदनापूर्ण प्रतीति को रखकर लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य है।" डॉ0 म0न0वानखेड़े का मानना है कि - "दलित लेखकों द्वारा दलितों के विषय में लिखा गया साहित्य दलित साहित्य है।"[32] सन् 1975 की सारिका पत्रिका के मई अंक में 'दलित साहित्य उद्देश्य और वैचारिकता' पर विचार प्रकट हुए बाबूराव बागुल ने कहा है - दलित साहित्य वह लेखन है जो वर्ण व्यवस्था के विरोध में और उसके विपरीत मूल्यों के लिए संघर्षरत मनुष्य से प्रतिबद्ध है। प्रमुख विचारक एवं राजनीतिज्ञ तथा पूर्व राज्यपाल श्री माता प्रसाद जी ने दलित साहित्य के जीवन-दर्शन को कुछ इस प्रकार व्यक्त किया है - "दलित साहित्य के तीन लक्षण होते हैं - प्रथम-सामाजिक रूढ़ियों, वर्ण व्यवस्था तथा असमानता के विरुद्ध विद्रोह। यह विद्रोह आर्थिक विषमता, भाषायी या प्रान्तीय अलगाव सम्बन्धी अथवा सरकार दुर्व्यवस्था से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण हो सकता है। दूसरा लक्षण - विज्ञान सम्मत बातों को ही स्वीकार करना। इसमें साहित्य प्रमाण्य को नकार कर बुद्धि प्रमाण्य को ही स्वीकार किया जाता है। इसमें पूर्व ग्रंथो में लिखी बातों को आंख मूंदकर प्रमाण

रूप में स्वीकार नहीं किया जाता है। पूर्व जन्म, भाग्य, अवतार की अवधारणा की मान्यता इसमें नही है। तीसरा लक्षण - विश्व बन्धुता समता एवं स्वतंत्रता को मान्यता देना है। ''स्थापित मूल्यों और परम्पराओं के विरुद्ध जो साहित्य होता है वह दलित साहित्य कहा जाता है।''[33] वरिष्ठ प्रशासक और लेखक डॉ0 धर्मवीर ने दलित साहित्य के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण इस प्रकार प्रकट किया है - ''दलित साहित्य वह है जिसे दलित लेखक लिखता है। दलित साहित्य की परिभाषा में पीड़ा से लेकर मुस्कान तक है। इसमें रोने की बजाय मुस्कान की खोज के द्वारा समग्रता और पूर्णता की ओर मनुष्य का प्रयाण है। यह कमजोरी नही बल्कि शक्ति है। यह गुलामी नहीं बल्कि समाधान है।''[34] निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि दलित जीवन की संवेदनापूर्ण यथार्थ अभिव्यक्ति जिस साहित्य में हो उसे दलित साहित्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है पर शर्त यह है कि उसके केन्द्र में सामाजिक समरसता, विश्वबन्धुत्व और आर्थिक समानता का भाव हो, लोकमंगल की दृष्टि हो। केवल दलितों के द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य के अन्तर्गत आता है। इसमें व्यापकता नही अपितु, संकुचित दृष्टिकोण नजर आता है।

चेतना और जीवनता दोनों एक दूसरे के पर्याय हैं। जड़ता मृत्यु का सूचक है। चेतना ही प्राणी को गतिशील करती है। साहित्य के अर्थ में चेतना का अर्थ संवेदनशीलता एवं दृष्टि से है। दलित चेतना का सम्बन्ध दलितों की आत्म जागृति से है। हिन्दी साहित्य में दलित चेतना या दलित चिन्तनधारा का क्रमिक विकास एवं इतिहास है। सच तो यह है कि दलित चेतना का सीधा सरोकार 'मैं कौन हूँ'? से बहुत गहरे तक जुड़ा है। चेतना का सम्बन्ध दृष्टि से होता है जो दलितों की सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और सामाजिक भूमिका की छवि के तिलिस्म को तोड़ती है। अधिकारों से वंचित सामाजिक तौर पर नकार दिया जाना यानी दलित होना है और उसकी दलित चेतना जो दलित आन्दोलनों के एक लम्बे इतिहास की देन है, अलग-अलग कालखण्डों में यह अलग-अलग रूपों में दिखायी पड़ती है भक्तिकाल के कवियों में यह रूप अलग है, लेकिन इस चेतना के बीज वहाँ मौजूद हैं जिसे कालान्तर में एक संघर्षशील बौद्धिक रूप मिलता है ज्योतिवा फुले के संघर्ष के रूप में। आगे चलकर यह रूप एक नये और जुझारू रूप में विकसित होता है - डॉ0 भीमराव अम्बेदकर के जीवन संघर्ष में। यह जीवन संघर्ष दलित में एक नई चेतना का सूत्रपात करता है जिसे मुक्ति संघर्ष की चेतना कहना ज्यादा प्रासांगिक होगा। यही चेतना साहित्य की प्रेरणा बनकर दलित साहित्य के रूप में दिखायी देती है।

इसमें मुक्ति, स्वतंत्रता के गम्भीर सरोकार विद्यमान हैं। अनीश्वरवाद, अनात्मवाद, वैज्ञानिक दृष्टिबोध, पाखण्ड कर्मकाण्ड का विरोध, साम्प्रदायिकता का विरोध, अधिनायकवाद का विरोध, वर्ण व्यवस्था का विरोध सामाजिक न्याय की पक्षधरता, सामन्तवाद, पूंजीवाद, बाजारबाद का विरोध जैसे सवाल दलित चेतना के सरोकारों में शामिल है। दलित चेतना से सृजित साहित्य दलित जीवन के यथार्थ को प्रतिबिम्बित करने के साथ ही उसे पहचानने का भी एक साधन है। वास्वत में दलित चेतना, क्रान्तिकारी मांसिकता है। यह चेतना आनन्द पर निर्भर न होकर समता, स्वतंत्रता, न्याय और बंधुभाव पर आधारित है।

दलित चेतना : जीवन-दर्शन -

युग और साहित्य परस्पर गिरा-अर्थ की भांति सम्पृक्त हैं। साहित्य के लिये उपजीव्य सामग्री युग प्रदान करता है और साहित्यकार उस युग-बोध को सम्प्रेषित कर एक शाश्वत् सृष्टि करता है। मानव सचेतन, ज्ञानी और संवेदनशील प्राणी होने के कारण अपने परिवेश से प्रभावित होकर अपनी अनुभूतियों को साहित्य के रूप में अभिव्यक्त करता है। परम्परागत साहित्यिक परिपाटी में जब कोई परिवर्तन क्रम होता है अथवा साहित्य में जब कोई नयी चेतना जन्म लेती है तो वह अकारण नहीं लेती बल्कि उसके परिपार्श्व में युगीन पृष्ठभूमि के कारण साहित्य का युग बोध क्रियाशील रहता है। व्यक्ति और समाज के जीवन में परिवर्तन हर युग में होते हैं और उन्हीं परिवर्तनों के आधार पर जीवन-मूल्य या जीवन चेतना विकसित होती हैं यह जीवन चेतना व्यक्ति के चरित्र और उसकी सभ्यता एवं संस्कृति का मेरूदण्ड बनती है। दलित चेतना भी समाज और साहित्य के इसी बदलते स्वरूप का प्रतिफल है। इसका भी अपना एक जीवन दर्शन है जो परम्परागत साहित्य मूल्यों से कुछ भिन्न है। कोई भी चेतना अथवा विचारधारा जब नये रूप में उभर कर जनमानस के सामने आती है तो उसका अपना एक दर्शन होता है और उसी में उसका प्रयोजन भी छिपा होता है। दलित चेतना का जो व्यापक स्वरूप दलित साहित्य में देखने को मिलता है उसका मुख्य कारण समाज की मुख्य धारा से उन्हें उपेक्षित रखना और शोषण करना। जैसे धार्मिक साहित्य का उद्देश्य धर्म का प्रचार एवं प्रसार करना है उसी प्रकार दलित साहित्य का भी उद्देश्य दलित वर्ग एवं जाति का उत्थान करना है। दलित चेतना अथवा साहित्य का जीवन-दर्शन बहुत व्यापक है। इसका अध्ययन निम्नलिखित मानदण्डों पर किया जाय तो समझने में आसानी होगी।

1. समतामूलक समाज की स्थापना का भाव :

किसी भी समाज का सम्यक विकास तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि उसमें रहने वाले सभी लोगों के प्रति समान व्यवहार न किया जाय। सर्वप्रथम मनुष्य - केवल मनुष्य है। समाज की महत्वपूर्ण इकाई तो वह बाद में बनता है। मनुष्य से समाज बनता है और समाज से राष्ट्र बनता है। मनुष्य की सद्प्रवृत्ति और सोंच से ही एक स्वस्थ समाज की संरचना संभव है। हर समाज की अपनी एक संरचना होती है। उसी में उसके विकास और विनाश के बीज सुरक्षित होते हैं। जहां तक भारतीय समाज की बात है तो उसकी संरचना में बड़ी विविधता एवं जटिलता है। जैसे यहाँ की भौगोलिक संरचना में बड़ी विभिन्नता है वैसे ही यहाँ कि सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक बुनावट में भी असमानता है। वर्ण, जाति, छूत, अछूत, पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, सत्य-झूठ, मंगल-अमंगल के शब्द जाल में उलझा भारतीय समाज बड़ा बिखरा-बिखरा है। मनुष्य जन्म से स्वतंत्र पैदा होता है पर बाद में वह सामाजिक व्यवस्था की जंजीर में जकड़ जाता है। कुछ समाज के ठेकेदार अपने ढंग से समाज को चलाना चाहते हैं। अनैतिकता का सहारा लेकर विकास में अवरोध पैदा करते हैं। इसके लिये वे अलग से नये-नये मौखिक कानूनों का क्रियान्वयन करते हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि समाज में शांति की जगह अशांति जन्म ले लेती है। इतिहास इस बात का गवाह है कि भारतीय समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग, जिसे दलित कहते हैं वह कई सदियों से उपेक्षित और शोषित रहा है। उसके साथ पशुवत व्यवहार हुआ। इस उपेक्षा और शोषण ने उसकी सहनशीलता को तोड़ दिया और वह भी मानवीय जिन्दगी जीने को आतुर हो उठा। ज्योतिवा फुले, साहू जी महराज, अम्बेदकर, गांधी जी, दयानन्द सरस्वती आदि मनीषियों ने उसकी दुखती चेतना को वैचारिक शक्ति प्रदान कर उसे संगठित होने का मूलमंत्र दिया। मुझे भी समाज में जीने का अधिकार मिलना चाहिए, को मूलमंत्र मानकर वह आंदोलित हो उठा। समानता से ही समतामूलक समाज की स्थापना संभव है। यह सोचकर इसी के आस-पास दलितों ने अपनी चेतना को केन्द्रित किया और इसे ही जीवन-दर्शन बनाया। उसकी चेतना के प्रयोजन में समता मूलक समाज ही है। वह प्रतिक्रिया की जगह समरसता चाहता है। पर जो शताब्दियों से भौतिक सुख भोग रहे थे उन्हें लगता है कि उनका हक मारा जा रहा है, जबकि ऐसा नहीं है। सर्वे भवन्तु सुखिना में विश्वास दलित रखता है। 'जीयो और जीने दो उसके लिए गीता वाक्य है।

2. सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा :

परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत् नियम है। सृष्टि में पाये जाने वाले सभी रूप नश्वर है। जब प्रकृति ही परिवर्तनशील है तो प्रकृति तत्व क्षिति, जल, पावक, गगन समीर से निर्मित मानव का स्थूल शरीर भी परिवर्तनशील है। छायावादी कवि सुमित्रानन्दन पंत ने लिखा है -

'आह ! निष्ठुर परिवर्तन, तुम्हारा ही ताण्डव नर्तन'

कहने का तात्पर्य यह कि परिवर्तन तो होना ही है - चाहे उसे सहज रूप में स्वीकार करें अथवा असहज रूप में। प्रबुद्ध मानव प्रकृति और समाज में संतुलन बनाने की कोशिश करता है। यह भी सच है कि विनाश और सृजन के बीच एक नये मानव की संरचना होती है। सुख-दुख, लाभ-हानि, जन्म-मृत्यु, दिन-रात शब्दों का निर्माण परिवर्तन के कारण ही हुआ। मानव का धर्म सृजन है विनाश नहीं। दलित का जीवन दुख में अधिक बीता होता है वह अपना दुख तो दूर करने को आतुर होता है पर दूसरे को दुख देकर नहीं। वह समाज से अपने हिस्से का हक मांगता है और यह तभी संभव है जब सामाजिक संरचना में परिवर्तन हो। अनेक संवेदनशील विचारकों ने दलितों को सुखद जीवन जीने हेतु एक नया सामाजिक दर्शन दिया है और आज भी दे रहे हैं। इस जागृति के फलस्वरूप उनके जीवन में परिवर्तन आया। जो इस परिवर्तन में बाधा बन रहे थे उन्हें मजबूर भी किया। आज दलित अपना जीवन-दर्शन सामाजिक परिवर्तन में तलाशता है, जो आवश्यक ही नहीं हितकारी भी है। इतिहास साक्षी है कि समाज में जो भी आन्दोलन हुए हैं, क्रान्तियाँ हुई हैं वे सब सामाजिक वैचारिक परिवर्तन के ही कारण संभव हुई हैं। समाज का विकसित ढांचा जो आज विभिन्न रूपों में दिखायी पड़ रहा है वह भी इसी सामाजिक परिवर्तन का परिणाम है।

3. स्वतंत्रता प्राप्ति की आकांक्षा का भाव :

सृष्टि का हर जीव स्वतंत्र जीवन जीना चाहता है। मनुष्य सृष्टि का सबसे सुन्दर और बुद्धिमान प्राणी है। कभी-कभी उसकी स्वार्थपरता उसे दिग्भ्रमित कर देती है। उसका अहम् उसे अन्धा कर देता है। यश और धन प्राप्ति की कामना उसे विवेकशून्य कर देती है। ये मनोवृत्ति उसे अधःपतन की ओर तो ले जाती ही है, समाज की विकास धारा को भी बाधित करती है। इसका सबसे अधिक कुप्रभाव समाज के दलित एवं उपेक्षित वर्ग पर पड़ता है। समाज का अधिसंख्यक वर्ग पीड़ित और दुखी अपने कर्मों से कम सामन्तों के दुष्कर्मों से अधिक होता है। दलित पीड़ित उपेक्षित वर्ग समाज के हर काम

में सहभागी होना चाहता है पर शासक मनोवृत्ति वाले लोग उसें जीना मुश्किल कर देते हैं हर व्यक्ति की मनोवृत्ति अलग-अलग होती है। इसलिए उसके जीने का अन्दाज भी अलग-अलग होता है। परतंत्रता व्यक्ति के जीवन की धारा को बदल देती है। स्वतंत्रता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार तो है पर मिलता कहाँ है। मनुष्य सौन्दर्यप्रेमी है। पर जीवन के लिए सौन्दर्य ही सब कुछ नहीं है। वह आनन्द चाहता है पर दूसरे को कष्ट देकर कैसे आनन्दित हो सकता है। व्यक्ति हित के लिए समाजहित को बाधित करना कहाँ तक न्याय संगत है। हजारों, लाखों करोड़ो लोगों को स्वतंत्रता, प्रेम और न्याय चाहिए क्योंकि उन्होंने इसके लिए कई तरह के बलिदान किये हैं। कहने का तात्पर्य यह कि मनुष्य जीवन जीने के लिए जितना सौन्दर्य और आनन्द चाहिए उससे कही अधिक उसे स्वतंत्रता और न्याय चाहिए। उसके लिए कलात्मक मूल्य जितने प्रिय हैं उतने ही सामाजिक मूल्य भी। समता, स्वतंत्रता और न्याय व्यक्ति और समाज के लिए अति आवश्यक है। डॉ0 शरण कुमार लिंवाले का मानना है कि -''आनन्द अथवा सौन्दर्य के लिए दुनिया में कभी भी क्रान्ति नहीं हुई। समता, स्वतंत्रता और न्याय के लिए अनेक सत्ता पलट हुए हैं, यही इतिहास है। समता स्वतंत्रता और न्याय को स्वीकार करने वाला साहित्य क्रान्तिकारी होता है और वह मनुष्य को समाज को केन्द्र बिन्दु मानता है। क्रान्तिकारी साहित्य व्यक्ति के सम्मान की चेतना जागृत करता। ''दलित साहित्य का सृजन दलित चेतना से हुआ है। यह गुलामी के विरुद्ध चेतना है।''[35] जितने भी दलित आन्दोलन हुए हैं उसके केन्द्र में स्वतंत्रता प्राप्ति की आकांक्षा का भाव ही है।

4. आर्थिक विषमता को दूर करने का भाव :

दलितों के प्रश्न केवल सामाजिक ही नही है, वे आर्थिक भी हैं। दलितों पर जब भी अत्याचार हुआ है उसका महत्वपूर्ण कारण आर्थिक विषमता एवं दुर्बलता रहा है। जीने के लिए अहं की हिफाजत करने वाले वर्ग पर अतीत से ही उसे निर्भर रहना पड़ा है। कल का दलित आज भी भूमिहीन एवं मजदूर है। उसका स्वयं का व्यवसाय नहीं है। उत्पादन का भी उसका कोई अपना साधन नहीं है। जब तक वह अपने पैरों पर खड़ा नहीं होगा तब तक उसे लाचारी में गन्दा कार्य स्वीकारना पड़ेगा। उसे आर्थिक सामाजिक विषमता के विरुद्ध तीब्रता से संघर्ष करना होगा। वर्ग संघर्ष और वर्ण संघर्ष दोनों ही लड़ाइयाँ साथ-साथ लड़नी होगी। जब भी विकास की बात होगी धन की बात अवश्य होगी। क्योकि धन विकास की धुरी है। बिना आर्थिक विकास के मानव समाज का विकास सम्भव नहीं है।

धन के महत्व का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में भी है। बीसवीं शताब्दी में इसका महत्व अत्यधिक बढ़ गया। हमारी सामाजिक रचना में कुछ ऐसी विकृति रही कि धनी-धनवान होता गया और गरीब अत्यधिक दरिद्र होता गया। हिन्दुस्तान जो लगभग एक हजार वर्षों तक गुलाम रहा है उसके मूल में अर्थ जिजीविसा ही थी। आजादी प्राप्ति के लगभग उनसठ वर्ष होने जा रहे हैं पर आर्थिक स्वतंत्रता और समानता का संतुलन अब भी नहीं बन पाया। बालकृष्ण शर्मा नवीन ने इस आर्थिक विषमता का बड़ा ही कारुणिक दृष्य उपस्थित किया है -

"लपक चाटते पत्ते, जिस दिन मैने देखा नर को।
उस दिन सोंचा क्यों न लगा दूँ आग आज इस दुनिया भरको।
यह भी सोचा क्यों न टेंटुआ घोटा जाय स्वयं जगपति का।
जिसने अपने ही स्वरूप को रूप दिया इस घृणित विकृति का।
× × × × ×
छोड़ आसरा अलस शक्ति का, रे नर स्वयं जगत् पति तू है।
तू यदि जूठे पत्ते चाटे, तो तुझ पर लानत है थू है।"[36]

इसी तरह की आर्थिक विषमता ने दलितों को सोंचने के लिए मजबूर किया। उसकी इसी चैतन्यता ने उसे आगे बढ़ने की शक्ति दी है। आज हर दलित इस आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए प्रयासरत है।

5. शोषकों के प्रति विद्रोह का भाव :

हमारी सामाजिक व्यवस्था का ताना-बाना ही कुछ ऐसा बना है कि शोषक और शोषित सदैव से रहे है। यह बात दूसरी है कि शोषकों के रूप समयानुसार बदलते रहे हैं पर लक्ष्य एक ही था - शोषण। ऐसे लोगों के पास धन और शक्ति दोनों होती है इसलिए डरते कम है डराते ज्यादा हैं। लज्जा और संकोच से उनका दूर-दूर का नाता नहीं होता। अधर्म उनकी नियति है तो अन्याय उनका प्राण। पैसा उनके लिए भगवान होता है। ऐसे मे शक्तिहीन एवं धनहीन व्यक्ति समाज में कहाँ टिक पाता है। ऐसे शोषकों से घृणाभाव प्रकट करते हुए दलित लेखक श्री बदलूराम रसिक ने लिखा है-

"तुमने शोषण कर जनता, सदियों से खून निचोड़ा है।
उद्यमी, श्रमिक, शिल्पी, किसान, उत्पादक तक नहीं छोड़ा है

जातीयता और धर्म केवल कुछ जुल्म किया नहीं थोड़ा है

इस युग मे भी तुम चला रहे, अपना मनमाना कोड़ा है।

× × × × ×

मेहनत कश मजदूरों, रिक्शेवालों का तुम खून खरीदो,

सिकुड रहे हो लाखों प्राणी, तू कशमीरी ऊन खरीदो।

यही विषमता वैमनस्य का कारण बनी करारा है

शोषक लोगो गद्दी छोड़ो, यही हमारा नारा है।"[37]

डॉ0 राजेन्द्र शर्मा का मानना है कि शोषण और संघर्ष का बड़ा घनिष्ठ रिश्ता है। उन्होंने 'बीज' के प्रतीक के रूप में शोषित समाज की संघर्षोन्मुखी भूमिका को अभिव्यक्ति इस प्रकार दी है।

"अपना नन्हा सा सिर

उठाकर

छाती तानकर

खड़ा हो गया है वह

तुम्हारी हिमाकत की

परवाह नही है उसे

चाहो तो उखाड़ फेको

वह विखा

और साथियों समेत

जमीन तोड़ेगा

वह तुम्हारे खिलाफ ही नहीं

दुनिया भर में भूंख के खिलाफ

लड़ रहा है।"[38]

यह बीज का कथन दलित चेतना का अभिव्यक्त रूप है जिसमें पौरूष और पीड़ा दोनों है।

6.वेदना घुटन और कुंठा का भाव :

भारतीय साहित्य और समाज में दलितों के प्रति उपेक्षा का जो भाव व्यक्त है और उनके प्रति

जो व्यवहार किया जाता है उससे उनके अन्दर वेदना, कुंठा और घुटन का भाव जगना स्वाभाविक है।वह जब निरक्षर था उसकी चिन्तनशक्ति कमजोर थी, जीवन और जगत के वास्तविक अर्थ का उसे बोध न था तब कि बात और थी। लेकिन जैसे-जैसे वह शिक्षित होता गया और अपनी सामाजिक प्रासंगिकता के महत्व को समझा, उसकी वेदना और घुटन उसे कहने की हिम्मतदी कि - 'हम भी मनुष्य है, हमें भी मनुष्य के सभी हक मिलने चाहिए। दलित चिंतक एवं दलितों के प्रति सहानुभूति रखने वाले संवेदनशील लेखकों ने उनकी इस पीड़ा और घुटन को समझा ही नहीं बल्कि वाणी भी प्रदान की। डॉ0 शरण कुमार लिम्बाले ने दलित साहित्य के सन्दर्भ में वेदना का मूल्यांकन करते हुए लिखा है - "दलितों की वेदना ही दलित साहित्य की जन्मदात्री है। यह वेदना एक की नहीं, ना ही यह एक दिन की है। यह वेदना हजारों की है, हजारों वर्षों की है। इसलिए यह व्यक्त होते समय समूह रूप में व्यक्त होती है। दलित साहित्य में वेदना एक 'मैं' की वेदना नहीं। वह पूरे बहिष्कृत समाज की वेदना है इसलिए इस वेदना का स्वरूप सामाजिक बन गया है।"[39]

हजारों वर्षों से दलितों को सत्ता, सम्पत्ति और प्रतिष्ठा से वंचित रखा गया। दलित इस कुव्यवस्था के प्रति वगावत न करे इसलिए 'यह व्यवस्था ईश्वर ने बनायी है' ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया। दलितों की हजारों पीढ़ियाँ यह अन्याय सहन करती हुई जी रही हैं। डॉ0 सोहनपाल सुमनाक्षर ने दलित वेदना, कुंठा और घुटन को सर्वहारा वर्ग की चीत्कार के रूप में स्वीकार किया है। वे कहते हैं - "दलित चेतना का एक इतिहास है जो सर्वहारा वर्ग की चीत्कार के रूप में काल और परिस्थिति के अनुसार अभिव्यक्त हुई है।"[40] दलित लेखक ओमप्रकाश बाल्मीकि जी समाज की इस क्रूर व्यवस्था से दुखी होकर कहते हैं - एक ऐसी समाज व्यवस्था में हम सांस ले रहे हैं जो बेहद क्रूर और अमानवीय है, दलितों के प्रति असंवेदनशील भी।"[41] वेदना, घुटन और कुंठा का भाव दलित साहित्य और चेतना में केन्द्रीय भाव के रूप में घुला मिला है। इनके अभाव में दोनों का अस्तित्व कमजोर एवं संदेहास्पद हो जायेगा।

7. शोषितों के प्रति दया का भाव :

दीनों और दलितों का भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही शोषण होता आया है। कभी जाति के नाम पर उसे अछूत कहा गया तो कभी धार्मिक कर्मकाण्ड के माध्यम से उसे डराया गया। शिक्षा से उसे इसलिए वंचित रखा गया कि उसके ज्ञानचक्षु न खुले। उसे जमीन भी नही दी गयी कि

अपनी कमाई की दो रोटी खा सके। उसे समझाया गया कि सम्पन्न लोगों की सेवा करना ही तुम्हारा धन है। उसे श्रम का अर्थ तो समझाया गया किन्तु लाभ में उसकी कितनी हिस्सेदारी है बताना जरूरी नहीं समझा गया।समाज के बीच-बीच से कुछ मनीषियों एवं समाज सुधारकों ने इस दोहरी व्यवस्था के प्रति आवाज तो उठायी पर उसमें वह बुलन्दी नहीं थी जिससे आन्दोलन की दिशा तय होती है। उन्नीसवीं शताब्दी में आकर इस शोषण के खिलाफ बहुत तेज आवाज उठी। राजाराम मोहनराय, विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द सरस्वती, ज्योतिवा फुले, महात्मा गांधी, विनोवा भावे, भीमराव अम्बेदकर के द्वारा खड़े किये गये आन्दोलन ने शोषितों को अपनी बात कहने का मंच दिया। साहित्य इससे कैसे अछूता रह सकता है। रांगेय राघव ने शोषण की विकृति के सम्बन्ध में लिखा है -

"यहाँ निरन्तर शोषण होता,
एक दूसरे का अविरत
यहाँ मधुर श्रम बह जाता है,
रह जाता जन-मूक दुखित।
रंग-भेद से बनी सभ्यता
वर्गभेदसे विकल समाज
जन्म भेद से सुख-दुख मिलते
जीवन भर विकृति अभिशाप।"[42]

रंग-भेद, वर्ण-भेद, वर्ग-भेद और जन्म-भेद जो शोषण के विभिन्न रूप हैं उस तरफ बड़ी बारीकी से कवि की उपरोक्त पंक्तियाँ सबको ध्यान आकर्षितकरने के लिए बाध्य करती हैं।

प्रगतिशील कवि केदारनाथ अग्रवाल का मानना है कि भारतीय समाज में जो इतनी आर्थिक विषमता है उसका मूल कारण सामाजिक संरचना और पूंजीवादी व्यवस्था है। एक शोषित 'बाप' की पीड़ा का चित्रण करते हुए उन्होंने लिखा है -

"बाप बेटा बेंचता है
भुख से बेहाल होकर
धर्म, धीरज, प्राण खोकर
हो रही अंनरीति वर्बर

राष्ट्र सारा देखता है

बाप बेटा बेंचता है

× × ×

शर्म से आखें न उठती

रोष से छाती धधकती

और अपनी दासता का

शूल उर को छेदता है

बाप बेटा बेचता है।"[42]

दलित और शोषण शब्द में चोली-दामन का सम्बन्ध है। दलित की उत्पत्तिही शोषण की कोख से हुई है। हमारे समाज की बड़ी बिडम्बना यह है कि शोषक संख्या में शोषितों से कम हैं, फिर भी अधिसंख्य का शोषण हो रहा है। शायद इसका प्रमुख कारण यह है कि शोषितों को अपने पौरूष का बोध नहीं है। अनेक दलित-आन्दोलनों के फलस्वरूप आज दलितों में अपने स्वाभिमान के प्रति कुछ जागृति आयी है। आज वे यह कहने की स्थिति में हो गये है कि हमें सहानुभूति नहीं बल्कि बराबरी का दर्जा चाहिए। इस व्यापक परिवर्तन का मूल कारण यह है कि उसने अपने को जान-पहचान तो लिया ही है, तौल भी लिया है। यह सब दलित-चेतना का ही परिणाम है।

8. प्राचीन जातीय व्यवस्था के प्रति विरोधात्मक स्वर :

वर्ण व्यवस्था वैदिक धर्म की देन है तो जाति व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था की संरचना है। विवाह तथा अन्य सामाजिक कृत्यों को लेकर कालान्तर में जातियाँ, उपजातियों में विभाजित हो गयी। सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत जातीय व्यवस्था ने अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया। जाति प्रथा में धर्म के आ जाने से जाति व्यवस्था को बड़ी शक्ति मिली। डॉ0 भीमराव अम्बेदर ने जाति प्रथा और धर्म के अन्तः सम्बन्ध में लिखा है -"जाति प्रथा क्लब, नगरपालिका या देशी या परिषद जैसी कोई संस्था नहीं है। जाति प्रथा धर्म का मामला है और धर्म किसी भी संस्था से बड़ी चीज होती है। यह वह शक्ति है जो हर व्यक्ति के चरित्र को मोड़ती है उसकी क्रियाओं और प्रतिक्रियायों चाहतों और गैर चाहतों को निश्चित करती है।"[44]

प्राचीन सामाजिक व्यवस्था में जाति प्रथा का जो स्वरूप तैयार किया गया निश्चित रूप से

उसके कुछ उद्देश्य रहे होंगे। यही नहीं जाति व्यवस्था को चलाने के लिए कुछ सामाजिक और राजनीतिक मूल्य निर्धारित किये गये रहे होंगे। कालान्तर में सामाजिक, राजनीतिक और मानवीय मूल्य तो बदल गये पर जाति व्यवस्था जैसी की तैसी रही। जाति को जन्म से जोड़ दिया गया। व्यक्ति का मूल्यांकन कर्म और गुण के बजाय जाति से किया जाने लगा और यहीं से जाति व्यवस्था का विरोध प्रारम्भ हुआ। सामाजिक चिन्तक और अरुणांचल प्रदेश के पूर्व राज्यपाल श्री माता प्रसाद के शब्दों में - ''भारत में जाति व्यवस्था का इतिहास जितना पुराना है उससे कुछ कम पुराना इतिहास जाति विहीन समाज की स्थापना के प्रयास का नहीं है। सबसे पहले 4000 ई0 पूर्व चार्वाक ने वर्ण व्यवस्था पर आधारित जाति-पांति व्यवस्था का विरोध किया। बुद्ध ने आज से लगभग 2500 वर्ष पूर्व जन्म व जाति पर आधारित सामाजिक भेद-भाव के विरुद्ध अहिंसात्मक क्रान्ति का आह्वान किया। बुद्ध के सामाजिक दर्शन का आधार सामाजिक समानता और स्वतंत्रता थी। बौद्ध धर्म का प्रभाव समाज पर बहुत व्यापक, गहरा और दीर्घकालीन रहा। देश के दक्षिणी भागों में अछूतों पर जो अत्याचार हुए उनकी चर्चा देश में ही नहीं विदेशों में भी रहीं। उस समय अरब देश के समाज-सुधारक यवनाचार्य जिनका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था, उन्होंने उनकी करुण वाणी सुनी। वह नवी शताब्दी के देश सेवक थे, जिन्होंने मानवता के लिय अन्याय के विरुद्ध घोर संघर्ष किया।''[45]

हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत निर्गुण भक्ति धारा के कवियों ने भी जाति व्यवस्था का प्रबल विरोध किया। कबीरदास सन्त दादू, सन्त घासीराम, सन्त रज्जव, गुरुनानक, एक नाथ और उनके समर्थकों ने जाति-पांति और अन्ध विश्वास के विरुद्ध प्रखर आन्दोलन किया। मानवता पर विश्वास रखने वाले इन सन्तों के आन्दोलन बहुत हितकारी थे। उन्होंने सामाजिक बुराइयों और छुआ-छूत का विरोध करते हुए कथित सवर्ण हिन्दुओं को कुमार्ग और विनाशकारी बुराइयों से सावधान किया। उत्तर भारत की तरह दक्षिण भारत में भी जाति व्यवस्था का जोरदार विरोध हुआ। महाराष्ट्र ने इसकी अगुआई की। महात्मा फुले ने सत्य शोधक समाज की स्थापना कर, दलित बच्चों के शिक्षा की व्यवस्था की। मद्रास में वी0पंतलू और आर0बेंकटरामन ने जातिवाद के विरुद्ध आवाज उठायी। बींसवीं शदी के आरम्भ में श्री नारायण गुरुस्वामी द्वारा दलितों की मुक्ति हेतु ' एक जाति, एक धर्म, एक ईश्वर' के सिद्धान्त पर आधारित एक नये धर्म की स्थापना हुई। वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध अब्राह्मण आन्दोलन का चरम रूप 'द्रविण आन्दोलन के रूप में उभरा। इसके अन्तर्गत रामास्वामी नायकर ने 'सेल्फ रिस्पेक्ट मूवमेन्ट'

चलाया। द्रविण कडगम आन्दोलन की स्थापना इसी से हुई। इन राष्ट्रीय और सामाजिक आन्दोलनों से दलित अछूते नहीं रहे। शिक्षा के प्रसार स्वरूप दलितों ने दूसरों की बैसाखी पर चलने के बजाय मुक्ति के लिए स्वयं पहल की। पंजाब में 'आदि धर्म आन्दोलन', बंगाल में 'नाम शूद्र आन्दोलन', तमिलनाडु में 'आदि द्रविड़ आन्दोलन, आन्ध्र प्रदेश में 'आदि आन्ध्र आन्दोलन, कर्नाटक में आदि कर्नाटक आन्दोलन केरल में 'चरूमन पुलय', कानपुर में आदि हिन्दू महासभा आन्दोलन तथा महाराष्ट्र में डॉ0 अम्बेदकर के नेतृत्व में 'महार' आन्दोलन शुरू हुए। ये सभी आन्दोलन बाद में किसी न किसी रूप में डॉ0 अम्बेदकर से जुड़ गये। सामाजिक समानता का जो संघर्ष बुद्ध ने 2500 वर्ष पूर्व छोड़ा था, कालान्तर में भले दब गया हो, किन्तु मरा नहीं था। आधुनिक युग में डॉ0 अम्बेदकर ने उसे पुर्नजीवित कर दिया। डॉ0 अम्बेदकर ने जाति प्रथा को समाज का प्रदूषण कहा जो अब हिन्दू समाज का कोढ़ बन गया है। हिन्दू समाज में जाति केवल प्रतिष्ठा का ही परिचायक नहीं है बल्कि धार्मिक प्रतिष्ठा का भी परिचायक है। डॉ0 अम्बेदकर के अनुसार "जाति व्यवस्था कोई ईश्वरीय या शाश्वत नियम नहीं है। यह स्वार्थी तत्वों द्वारा जो शक्तिशाली और अधिकार सम्पन्न थे बनाया गया नियम हैं जाति सामाजिक संकीर्णता और मानसिक बीमारी की सूचक है। जाति व्यवस्था ने भारतीय समाज की जनभावना का अंत कर दिया है। इसने व्यक्ति के गुणों व निष्ठा को जाति में सीमित व कुंठित कर दिया है। जाति ने सामाजिक व राष्ट्रीय एकता को कमजोर किया है। एक हिन्दू के लिए उसकी जनता उसकी अपनी जाति है।[46]

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद दलित चेतना में बड़ा उभार आया है। दलित एवं दलित लेखक तो स्वयं चेते ही गैर दलितों ने भी प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में उन्हें शक्ति और संबल प्रदान कर उनका मनोबल बढ़ाया है। दलित लेखक एम0आर0 विद्रोही का मानना है कि दलित चैतन्यता का भविष्य राजनीति के साथ-साथ दलित आन्दोलन और रचे जा रहे दलित साहित्य पर निर्भर है - "दलित आन्दोलन केवल दलित साहित्य के कारण ही जीवित है, दलित साहित्य में समाज को परिवर्तित करने की अभूतपूर्व क्षमता है। ब्राह्मणी व्यवस्था ने जिस अंध विश्वास को फैलाने में हजारों वर्ष समय लगाया था, दलित साहित्य ने उसकी जड़े 40 वर्ष में ही हिला दी हैं। ..... पर कुल्हाड़ी में लकड़ी का डंडा भी डाल दिया गया है, ताकि दलित साहित्य वृक्षों को काटा जा सके। इससे सावधान रहने की जरूरत है।[47] डॉ0 विश्वनाथ त्रिपाठी का मानना है कि - 'दलित चेतना स्वतंत्र भारत की सर्वाधिक उल्लेखनीय

ऐतिहासिक उपलब्धि है। हमारे देश में अपने इतिहास ने वर्ण-व्यवस्था का जो घृणास्पद एवं अमानवीय रूप देखा है, वह सिर्फ नाक दबाकर थूकने की चीज है। हमारी पीढ़ी ने अपने बचपन में दलितों के साथ जो दुर्व्यवहार देखा है, वह आज भी अभी तक पूरी तरह न साहित्य में आया है न इतिहास या समाज शास्त्रीय दस्तावेजों में। यह अभी देहात और शहरों में भी मौजूद है। दलित चेतना अभी अपने शुरुवाती उभार में है। इसको रोकने या कुण्ठित करने के प्रयास समर्थ लोगों द्वारा जारी हैं ..... अतीत वर्णाश्रम व्यवस्था का था, लेकिन भविष्य 'दलित चेतना'का है।"[48]

9. बन्धुत्व की भावना :

मानव-जीवन के लिए जितना आवश्यक स्वतंत्रता है उससे कहीं अधिक जरूरी है समता, समरसता और बन्धुत्व का भाव। क्योंकि समता और बन्धुत्व से ही स्वतंत्रता का अस्तित्व सुरक्षित है। बन्धुत्व का भाव समाज में रामराज्य लाता है। मनुष्य का महत्व मनुष्यता से है। बिना बन्धुत्व के मनुष्यता की सार्थकता संभव नहीं। बन्धुत्व की भावना मनुष्य में सेवा और भाईचारा की प्रवृत्ति जगाती है। मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है - 'वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे।' यह तभी संभव है जब मनुष्य में सेवा और समर्पण का भाव हो। जितना यह सच है कि दलितों में चेतना की जागृति सामाजिक असमानता, गुलामी एवं शोषण के प्रतिक्रिया स्वरूप हुई उतना ही यह भी कड़वा सच है कि उनके आक्रोश एवं पीड़ा में बदले की भावना अभी तक नहीं है। उनके अन्दर जो छटपटाहट एवं टीस है वह अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने को लेकर है। सच्चा दलित किसी का अहित करके अपना हित नहीं चाहता। वह तो समाज में बराबरी का दर्जा चाहता है। यह भी सच है कि दलितों की सामाजिक, शैक्षिक एवं आर्थिक स्थिति जैसे-जैसे सुधरेगी शोषकों का सामाजिक ताना-बाना वैसे-वैसे कमजोर होगा। पर इसके लिए दलित दोषी कहाँ है? अपने हक को मांगना यदि दोष है तो सही क्या है यह बात दोषारोपण करने वालों को बतानी होगी। दलितों के शुभचिन्तक डॉ0 वी0आर0 अम्बेदकर ने 4 नवम्बर सन् 1948 को 'संविधान सभा' में संविधान का मसविदा पेश करते समय कहा था कि बिना समता और बन्धुत्व के कोई भी समाज विकसित नहीं हो सकता। लोकतंत्र का भविष्य इसके बिना पूर्ण रूपेण सुरक्षित नहीं है - "स्वतंत्रता, समता और बन्धुभाव के आधार पर स्थापित सामाजिक जीवन ही लोकतंत्र कहलाता है। स्वतंत्रता तो हमें मिली, किन्तु भारत में समता का अभाव है। यहाँ के सामाजिक और आर्थिक जीवन में विषमता का बोल-बाला है। इस विषमता को हमें शीघ्र

मिटा देना चाहिए। अन्यथा बड़े परिश्रम से निर्मित हुआ, यह लोकतंत्र का मन्दिर मिट्टी में मिल जायेगा।"[49]

10. मानव के विकास में बाधक धार्मिक कर्मकाण्ड का विरोध :

'मनुस्मृति' में धर्म के सम्बन्ध में लिखा है - "आचार प्रभवों धर्मः"[50] अर्थात कुछ विशेष प्रकार के नैतिक नियमों के पालन तथा कुछ सामाजिक व्यवस्थाओं का अनुसरण करना धर्म है। यह मान्यता मनुस्मृति के 'शान्तिपर्व'में वर्णित निम्नलिखित श्लोक से और स्पष्ट हो जाती है - "अहिंसा सत्यमस्तेय सौचमिन्द्रिय निग्रहः"[51] महर्षि वेदव्यास ने समाज की व्यवस्था करने वाले समस्त तत्वों को धर्म कहा है -

"धारणाद्धर्म मिव्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद् धारण संयुक्तं स धर्म इति निश्चयः"[52]

महर्षि कणाद का मानना है कि

"यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धि सः धर्मः" अर्थात

धर्म लौकिक एवं पारलौकिक समृद्धि एवं शांति का विधान करने वाली साधना पद्धति है।

भारत में चूंकि विभिन्न भाषा धर्म एवं सम्प्रदाय के लोग रहते हैं, इसलिए धर्म के सम्बन्ध में सब की अपनी अलग-अलग अवधारणायें हैं, उन सब का वर्णन करना यहाँ न तो समीचीन है और न ही प्रासांगिक है श्रेष्ठ धर्म तो वह है जो मनुष्य के सर्वांगीण विकास में सहायक होने-होने के साथ-साथ समतामूलक मानव समाज की संरचना में अग्रणी भूमिका निभाता है। धर्म, व्यक्ति को ज्ञान, शक्ति और स्फूर्ति तो देता ही है सद्चरित एवं आचरण की शिक्षा भी देता है। यह अधर्म से लड़ने की शक्ति प्रदान करता है। तात्पर्य यह कि धर्म शाश्वत् जीवन मूल्यों पर चलने की प्रेरणा देता है। धर्म शब्द मात्र नहीं है। इसमें सृजन और विनाश दोनों छिपा है। प्रबुद्ध धर्माचार्यों ने धर्म की व्याख्या इसी संदर्भ में की है। धर्म का सम्बन्ध जब तक सहज अनुभूति एवं सहज आचरण से था तब तक सब ठीक रहा पर जैसे ही धर्म के मठाधीशों ने उसे आडम्बर और कर्मकाण्ड की परिधि में बांधना शुरू किया तो उसके लिए नया पैमाना गढ़ लिया। कुछ जाति विशेष के लोगों ने समाज में यह भ्रांति पैदा की कि धर्म केवल उपासना पद्धति है और सवर्णों के लिए है। कुछ अल्प बुद्धि के लोग आज भी इसे जाति विशेष की धरोहर मानते हैं। जबकि ऐसा होना सम्पूर्ण मानव समाज के लिए अहितकर है।

धार्मिक कर्मकाण्ड के विरोध की जो ज्योति 'महात्मा बुद्ध' ने जलायी थी भक्त कवियों ने (विशेषर-कबीरदास, रैदास, नामदेव, नानक आदि उसे और प्रज्जवलित किया। आधुनिक काल में राजाराम मोहनराय, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द सरस्वती, गांधी जी अम्बेदकर आदि ने धर्म को संकीर्ण दायरे से निकालकर नया अर्थ दिया। दलित लेखक कंवलभारती का मानना है कि धार्मिक कर्मकाण्ड ने मानव समाज का बड़ा अहित किया है। धर्म के कर्मकाण्ड द्वारा समाज में डर एवं भय पैदा किया गया। समाज के बड़े वर्ग को दलित या अछूत घोषित किया गया। सबके मूल में शोषण का ही भाव था - "भारत में दलितों की स्थिति इतनी नाटकीय थी कि दास और पशु उनके मुकाबले बेहतर थे। दास और पशु को उनके स्वामी छू सकते थे पर दलितों को छूना तो दूर सवर्ण हिन्दू उनकी परछाई तक से अपवित्र हो जाते थे और स्नान के बाद ही शुद्ध होते थे। उन्हें ने सार्वजनिक कुओं, तालाबों से पानी लेने का अधिकार था और न विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण करने का। यहाँ तक कि मन्दिर के दरवाजे भी उनके लिए पूर्णतया बन्द थे। दलित इसे अपनी नियति समझकर जी रहे थे। न उनमें स्थिति बोध था और न अधिकार बोध।"[53] धार्मिक आडम्बरों के खिलाफ भारतीय समाज में जो आन्दोलन हुए हैं, उनका एक लम्बा इतिहास है। अनेक संतो महात्माओं और समाज सुधारकों के द्वारा जो आन्दोलन किये गये वह अपील और विरोध तक ही सीमित था। इस आन्दोलन को सीधी लड़ायी से जोड़ने की पहली भूमिका डॉ0 अम्बेदकर ने निभायी। 20 दिसम्बर 1927 को 'महाड़' में डॉ0 अम्बेदकर ने भारी जन सभा के बीच 'मनुस्मृति' को जलाकर शास्त्रों की पवित्रता में लोगों के विश्वास को तोड़ा था। उनके द्वारा किये गये धार्मिक सत्याग्रह ने दलितों को नयी शक्ति प्रदान की। 'नासिक' के 'कालाराम मंदिर' में दलितों के रोक के खिलाफ उन्होंने धार्मिक व्यवस्था के प्रति खुली वगावत की। 2 मार्च 1930 को गांधी जी ने अपना सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ किया था। ठीक उसी दिन भीमराव अम्बेदकर ने नासिक में हजारों दलितों को लेकर काला राम मन्दिर की ओर कूच किया। गांधी जी का आन्दोलन ब्रिटिश निरंकुशता के खिलाफ था तो अम्बेदकर का आन्दोलन हिन्दू धार्मिक निरंकुशता के खिलाफ। अछूतों और सवर्ण हिन्दुओं के बीच खुला संघर्ष हुआ। अम्बेदकर सहित सैकड़ो अछूतों के सिर फूटे, फिर भी अछूतों का जोश कम नहीं हुआ। फलतः मन्दिर के प्रबन्धकों ने एक वर्ष के लिए मन्दिर के कपाट ही बंद कर दिये। कुछ समय के लिए अम्बेदकर ने भी उस धर्म विरोधी आन्दोलन को स्थगित कर दिया। लोगों ने समझा दलितों का आन्दोलन असफल हो गया।

इस प्रतिक्रिया में अम्बेदकर ने कहा कि दलित वर्ग को ऊर्जा देने और उन्हें उनकी वास्तविक स्थिति का बोध कराने का इससे अच्छा कोई तरीका नहीं था। तेलगू कवि "जाषुवा" ने ईश्वर के दोहरे मानदण्ड पर व्यंग्य करते हुए। लिखा है -

"सृजन कर्ता हो तुम।
तुम्हारी ही सृष्टि में।
तुमसे प्रश्न करने का
हक रखता हूँ मैं।
मेरे किस पाप के फलस्वरूप
मुझे अछूत बनाया गया?
× × ×
चीटियों को चीनी खिलाने
सापों को दूध पिलाने वाली
इस कर्मभूमि में
धर्म देवता भी यदि जन्म लें
वह भी इस अभागे के निकट
आते ही चौंक पड़ेगा।"[54]

धार्मिक आडम्बर कोई ईश्वरीय व्यवस्था नहीं है। यह स्वार्थी धर्माचार्यों एवं शक्तिशाली धनाढ्यों द्वारा बनायी गयी व्यवस्था है। जो दलित पर जबरन दासता थोपने का कार्य करती है। श्री भगीरथी प्रसाद जाटव ने अपना विरोध कुछ इस प्रकार व्यक्त किया है -

"तुम ब्रह्म हो तो मै धरा की वेदना साकार हूँ
तुम खुदा हो तो मैं तुम्हारी खुदी से बीमार हूँ।
मुझको पढ़ेगी पीढ़िया आगे हजारों वर्ष तक
मैं तुम्हारे कारनामों का खुला अखबार हूँ।"[55]

दलित कवि ओम प्रकाश बाल्मीकि जी ने शंकराचार्य पर व्यंग्य करते हुए लिखा है -

"धर्म एक ढकोसला है

ईश्वर झूठ

जो तथा कथित धर्म गुरुओं के कहने पर

बैठकर आदमी को नकारता है

ईंट-पत्थर जोड़कर बनाया गया

मक़बरा जहाँ ईश्वर नहीं

धर्म गुरुओं का अहंकार

सुबह-शाम

छल-प्रपंच का नाटक खेलता है

× × ×

यह कैसा धर्म

जो करता है

आदमी को आदमी से अलग

शंकराचार्य

तुम ठीक कहते हो

मंदिर में आने का अधिकार

आदमी को नहीं होता।"[56]

दलित आन्दोलन के सशक्त हस्ताक्षर डॉ0 सोहनपाल सुमनाक्षर ने धार्मिक आडम्बर के प्रति अपनी पीड़ा कुछ इस प्रकार व्यक्त की है -

"ये मन्दिर/ये धर्मशालाएं

इनमें/धन लगा है काला

हमारे किस काम की है?

रे पुजारी ओ चौकीदार

हमको क्यों करता है बाहर

इनकी एक-एक ईंट।हमारे

खून से सनी है

मन्दिर में बैठे ये राम

बासुरी बजाते/वो घनश्याम

× × ×

काली कमाई का ये काला मन्दिर है।"[56]

यही नहीं दलितों को संतोष दिलाते हुए मन्दिर एवं मस्जिद के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध न लिखते हैं -

"इन काले भवनों को उनका ही रहने दो

जिनकी नीव ही, पाप और शोषण पर खड़ी है

हम मेहनत कशों का मन्दिर

तो है हमारे दिल के ऊपर

जिसमें हमारी सच्चाई का

देवता बसता है। जो हमारे

हर कार्य को निरखता है

जब वही है सब को देने वाला

तो हमको फिर

क्या चिन्ता पड़ी।"[58]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है धार्मिक कर्मकाण्ड एवं आडम्बर के छल-प्रपंच से स्वार्थी लोगों द्वारा शैक्षिक एवं आर्थिक दृष्टि से पिछड़े दलित वर्ग का खूब शोषण किया गया है। पर उनका यह मायावी जाल टूट रहा है और दलित भी समाज की मुख्यधारा से जुड़कर कुप्रथाओं एवं कुरूतियों का विरोध करने की स्थिति में आ गये हैं।

11. अधिकार प्राप्ति के प्रति क्रान्ति का स्वर :

प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था में सारे अधिकार उच्च वर्ग के लोगों के पास थे। अधिकारों से वंचित दलितों का कार्य केवल सेवा करना एवं श्रम करके उत्पादन करना था। पढ़े लिखे थे नहीं इसलिए उन्हें अधिकारों का बोध नहीं था। महाराष्ट्र में स्वतंत्रता आन्दोलन के समानान्तर दलित आन्दोलन पहले से चल रहा था। महात्मा गांधी साउथ अफ्रीका में रंग-भेद के खिलाफ आन्दोलनरत

थे। भारत में जाति-भेद का आन्दोलन रह-रहकर बीच-बीच में उभर रहा था। हिन्दू नेता इस समस्या से विचलित थे। काफी विचार-मंथन के बाद डॉ0 अम्बेदकर ने बड़ी चतुराई से दलित वर्गों के लिए राजनीतिक अधिकारों की मांग करना आरम्भ कर दिया। वे जानते थे कि राजनीतिक अधिकार मिल जाने से और सारे अधिकार अपने-आप मिल जायेंगे। 8 अगस्त 1930 को अखिल भारतीय दलित वर्ग कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन नागपुर में हुआ। जिसके सभापति डॉ0 अम्बेदकर थे। उन्होंने कहा कि - "कोई भी राजनीतिक संविधान तब तक मान्य नहीं होगा जब तक उसमें दलित वर्गो के लिए समानता के अधिकार सुनिश्चित न किये जायें।"[59] उनके इस आन्दोलन से दलित वर्गों में जो राजनीतिक चेतना पैदा हुई, उससे भारतीय राजनीति में दलित चेतना का उदय हुआ। चण्डी प्रसाद व्यथित की निम्नलिखित कविता में क्रान्ति का कुछ ऐसा ही भाव प्रकट होता है -

"उठो साथियों बनो एक तुम
नयी शक्ति का दीप जलाओ
मानव है पीड़ित शोषक से
मुक्ति दिलाओ मुक्ति दिलाओ।"[60]

दलित कवि रवि प्रकाश रवि दलितों को जगने की बात करते हैं। यह जगना शब्द 'क्रान्ति' का प्रतीक है -

"ओ त्रषित, शोषित, दलित
अब जाग जाओ।
छीन लो अधिकार अपना।
मत कहो ये भीख दे दें।।
तुम स्वयं चिन्तन करो।
मत कहो ये भीख दे दें।।
खुद बढ़ो चट्टान तोड़ो।
राह अपनी खुद बनाओ।।
रक्त की नदियाँ बहा दो।
रूप असली, बहु रूपियों के

पहचान जाओ।।"[61]

अतीत में दलितों पर हुए अत्याचार का स्मरण कराते हुए 'प्रेमशंकर' जी कहते हैं, कि क्रान्ति करना हम लोगों के लिए अति आवश्यक है-

"क्रांति किसी

उल्लू के पट्ठे की

माँ, बहन या लुगाई नही है

क्रांति दलितों की वह विधवा जनकिया है

जिसका पति बुधई

तिरंगो की रखवाली में शहीद हो चुका है।

यह मेहनत के बेटों की बहन है

भाभी है, लड़की है, माँ है

पर तुम मुखौटे बाज कमीनों

हम तुम्हें जानते हैं

तुमने क्रान्तिकारी दलितों की बेटी पर

हमेशा बलात्कार किया है

उसे रखैल बनाया है

कोठे की वेश्या और फायश बनाया है

पूंजी मर्यादा और धर्म तुम्हारे हमेशा आड़े आये हैं

हम जानते हैं शोषकों

क्रांति दलितों की है

उसे वही लायेंगें

वह आ रही है।"[62]

12. अस्पृश्यता का विरोध :

मनु ने अपनी सामाजिक व्यवस्था में चार वर्ण माने हैं - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। भारतीय समाज बहुस्तरीय है। वर्ण आधारित इस समाज में सैकड़ों जातियाँ एवं उपजातियाँ विद्यमान

हैं कालान्तर में वर्ण और जाति का यह विभाजन बहुत जटिल हो गया। सवर्णों द्वारा शूद्र वर्ग की उपेक्षा की गयी। इन्हें अस्पृश्य मानकर समाज से बहिष्कृत सा कर दिया गया। भेदभाव की भावना का शिकार होकर यह वर्ग अति दलित और असहाय होता गया। उपेक्षा के फलस्वरूप शनैः-शनैः इनमें अनेक दुर्गुण उत्पन्न होने लगे। इस वर्ग की विषमताओं का उन्मूलन करने के लिए महात्मा बुद्ध, कबीर, रैदास, नानक आदि ने महत्वपूर्ण कार्य किये पर उनका इनकी दशा पर कोई ठोस एवं व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा। अछूतों की समस्या का योजनाबद्ध एवं अभियान के रूप में निराकरण करने का प्रयास महात्मा गांधी एवं डॉ0 अम्बेदकर ने किया। गांधी जी ने अस्पृश्यता को हिन्दू समाज का कलंक बताकर अस्पृश्यता विरोधी आन्दोलन को राष्ट्रीय आन्दोलन का अभिन्न अंग बना दिया। गांधी जी ने सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में मन्दिरों की भूमिका को महत्व प्रदान करते हुए हरिजनों के मन्दिर प्रवेश आन्दोलन का समर्थन किया। वे अछूत समस्या का हल सवर्ण एवं अछूतों में विरोध व संघर्ष करके नहीं अपितु, उनमें आपसी समझ-बूझ बढ़ाकर करना चाहते थे। उन्होंने सदैव अछूतों को हिन्दू समाज का अंग माना। ब्रिटिश सरकार द्वारा अस्पृश्यों के पृथक निर्वाचन घोषणा पर गांधी जी और डॉ0 अम्बेदकर का 24 सितम्बर 1932 का 'पूना पैक्ट' समझौता' इस दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। सन् 1932-33 में अस्पृश्यता विरोधी आन्दोलन ने व्यापक रूप ले लिया। एक तरफ अमृतलाल जी ठक्कर के नेतृत्व में 'अखिल भारतीय अस्पृश्यता विरोधी लीग' की स्थापना हुई तो दूसरी तरफ गांधी जी ने प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र 'हरिजन' का प्रकाशन किया। यही नहीं गांधी जी ने हरिजनों के उत्थान हेतु 1933 और 1934 में देश व्यापी दौरा कियां जिसका सामाजिक सोंच पर अच्छा प्रभाव पड़ा।

अस्पृश्यता के सम्बन्ध में डॉ0 अम्बेदकर के विचार गांधी जी से कुछ भिन्न थे। डॉ0 अम्बेदकर ने माना कि अस्पृश्यता का जन्म मनु द्वारा रचित मनुस्मृति से हुआ। उन्हीं के शब्दों में - "मनु अस्पृश्यों को हिन्दू सामाजिक व्यवस्था से बाहर रखना चाहते थे। यह इसी बात से सिद्ध हो जाता है कि उन्होंने अस्पृश्यों को 'वर्ण बाह्य' कहा है।"[63] अस्पृश्यता के अर्थ को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा - "अस्पृश्यता आंतरिक तिरस्कार की बाहरी अभिव्यक्ति है जो एक हिन्दू किसी निश्चित व्यक्ति के बारे में महसूस करता है।"[64] डॉ अम्बेदकर कहते हैं कि मनु के धर्म में इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध हैं कि अछूतों को कोशिश करके हिन्दुओं से अलग रखा गया। यही नहीं अनेक धर्म शास्त्रों में अछूतों को सवर्ण हिन्दुओं से पृथक रहने की सख्त धार्मिक हिदायतें दी गयी हैं। डॉ0 अम्बेदकर ने लिखा

है -"अछूत हिन्दू समाज के अंग नहीं है। यदि वे अंग भी हैं तो एक अलग ही अंग है और किसी पूर्ण का कोई हिस्सा नहीं है।"[65] वे बराबर प्रयासरत रहे कि अछूतों को सवर्ण हिन्दू समाज अपना अंग स्वीकार कर लें। पर जब सफल नहीं हुए तो उन्होंने इस अलगाव को राजनीति और प्रशासन के क्षेत्रों में मान्यता दिलवानी चाही। शुरू में तो अल्प सफलता मिली पर बाद में इसे व्यापक समर्थन मिला। डॉ0 शरण कुमार लिंवाले ने इस सम्बन्ध में समाज के ठेकेदारों से चार प्रश्न पूंछे हैं -

1. "ब्राह्मण की ब्रह्म के मुख से और शूद्र की ब्रह्म के पैरों से उत्पत्ति हुई,
   क्या यह सत्य है?
   गत जन्म मे पाप किया इसलिए इस जन्म में
   शूद्र का जन्म मिला, क्या यह सत्य है?"
2. "शूद्र त्रैवणिकों की सेवा करें,
   उसे सत्ता, सम्पत्ति प्रतिष्ठा और
   ज्ञान का अधिकार नहीं?
   ये कैसा शिव है?"
3. शंबूक ने तप किया,
   उसका बध कर दिया गया,
   यह कैसा न्याय है?
4. एकलव्य ने शिक्षा ली
   उसका अंगूठा काट दिया गया
   यह कैसा धर्म है?"[66]

इन प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर शायद आज भी किसी के पास नहीं है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में अस्पृश्यता के विरोध में बहुत लिखा गया है। यहाँ मैं दो दलित कवियों की कविताओं का उल्लेख करना आवश्यक समझता हूँ जिनमें दलित चेतना का अस्पृश्यता सम्बन्धी जीवन-दर्शन बहुत स्पष्ट रूप में दिखायी पड़ता है -

1. "हमसे ही छुआ-छूत क्यों है?
   तुम कहते हो कि हम मांस खाते हैं

इसलिए अस्पृश्य/

और नींच कहलाते हैं, पर/

पर आज तो तुम्हारे भाई सभी होटलों में

मांस पकाते हैं

गाय-भैंस-सुअर-बकरी और मुर्गे का

जिसे/तुम्हारे ही अधिकांश लोग बड़े चाव से खाते हैं

मुझे/और/मेरे लोगों को/वह

आज मुअस्सर कहाँ है?

क्या हिन्दू धर्म के ठेकेदारों ने

उन्हें धर्म से अलग किया है?

क्या रोटी-बेटी का रिस्ता

उनसे बंद किया है?

अगर नहीं तो

फिर तुम्हारी

हमसे छुआ-छूत क्यों है?"[67]

2. "जिस रास्ते चलकर तुम पहुँचे हो,

इस धरती पर,

उसी रास्ते चलकर आया मैं भी,

फिर तुम्हारा कद इतना ऊँचा

कि आसमान को भी छू लेते हो, तुम आसानी से

और मेरा कद इतना छोटा

कि मैं

छू नहीं सकता जमीन भी।"[68]

13. मानवीय जीवन मूल्यों के रक्षा का भाव :

मानव की जीवन यात्रा सीधी एवं सपाट न होकर बड़ी टेढ़ी-मेढ़ी है। इस ऊबड़-खाबड़ रास्ते

पर चलना आसान काम नहीं है। मानव के कर्तव्य पथ को सरल एवं सहज बनाते हैं सद्विचार और चिन्तन मनन को शक्ति एवं संबल प्रदान करते हैं संस्कार रूप में ग्रहण किये हुए जीवन-मूल्य। मानवीय मूल्य व्यक्ति के चरित्र का निर्माण तो करते ही हैं साथ ही साथ देश और समाज को भी नयी दिशा देते है। जैसे मनुष्य के स्थूल शरीर के सृजनात्मक तत्व-क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर हैं वैसे ही उसके व्यक्तित्व एवं चरित्र निर्माण के आवश्यक तत्व मानवीय जीवन मूल्य हैं। मानवीय मूल्यों को समझने के पहले यह समझना अति आवश्यक है कि 'मूल्य' किसे कहते हैं? एस0पारकर के शब्दों में - मूल्य सदा अनुभव होता है वस्तु या विषय नहीं। डॉ0 कुमार विमल का मानना है कि -"मानविकी संदर्भ में मूल्य का अर्थ है जीवन दृष्टि या स्थापित वैचारिक इकाई।"[69] गिरिजा कुमार माथुर के अनुसार - "मानव मूल्य हमेशा आदर्श होते हैं। यथार्थ में उन्हें कभी ग्रहण नहीं किया जाता।"[70] डॉ0 जगदीश गुप्त की मान्यता है कि - "बिना मानवीय संवेदनाओं को केन्द्र में रखे 'मूल्य' की कल्पना नहीं की सकती।"[71] डॉ0 धर्मवीर भारती की दृष्टि में "सार्थकता का पहलू सबसे बड़ा मूल्य है।"[71] योगेन्द्र सिंह के शब्दों में - "मूल्य का सम्बन्ध में उपयोगिता से जुड़ा है। सामान्य व्यवहार में यह उपयोगिता वस्तु के आग्रह एवं चिन्तन की दिशा में वैचारिक अपनाव से सम्बद्ध है।"[73] इन सभी परिभाषाओं के विचार करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि 'मूल्य' एक धारणा है जिसका सम्बन्ध मानव से है। भौतिक जगत में मूल्य का सम्बन्ध उपयोगिता से है, जबकि वैचारिक जगत में वह अपनाव से सम्बन्धित है। वस्तुतः मूल्य वह वैचारिक इकाई है जिसे आधार बनाकर व्यक्ति अपना जीवन जीता है और जीवन में कुछ कर सकने में सफल होता है।

'मूल्य' सदैव एक जैसे नहीं रहते। यह समयानुसार बनते बिगड़ते रहते हैं। मूल्यों की अनेक कोटियाँ हैं पर वे मूल्य जो मानव के आन्तरिक सहज स्वरूप के सबसे निकट प्रतीत होते हैं - मानव मूल्य कहलाते हैं। उनमें मानवीय संवेदनाओं की युक्त और उदार स्वीकृति होती है। जीवन में मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा का अर्थ है - मानवीयता की प्रतिष्ठा। मानवीय जीवन-मूल्य मनुष्य को जीवन जीने की नयी शक्ति प्रदान करते हैं। प्रत्येक बन्धन से मुक्ति पाना व्यक्ति का सहज स्वभाव है। और वह उसके लिए संघर्ष करता है। 'मूल्य' संघर्ष और चैतन्यता की दिशा निर्धारित करते हैं। इनके अन्दर रक्षा का भी भाव होता है। व्यक्ति की श्रेणी 'महामानव' की है या 'लघु मानव' की इसका मूल्यांकन मानव मूल्यों के आधार पर ही होता है। सेवा, त्याग, दया, करुणा, समता जैसे मूल्य मानव को शान्ति

और यश दोनों प्रदान करते हैं। दलित चेतना के जीवन-दर्शन का भी यही भाव है जो दलितों को अस्तित्व संकट से बचाये हुए है। मैथिलीशरण की कविता 'वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे' इसी दर्शन पर आधारित है। सम्पन्न लोगों ने दलितों को इन मूल्यों से दूर रखकर उनके साथ उपेक्षा का वर्ताव किया। अक्सर देखने में मिलता है कि दलित का अपना कोई रचनात्मक जीवन नहीं बन पाता। वे सदैव औरों के लिए जीते आये हैं कभी सुख से तो कभी दुख से। धर्म की कर्मकाण्ड वृत्ति ने दलितों को खूब छला है। दलितों का मानना है कि धर्म और जीवन का प्राण और आधार प्रेम है कर्मकाण्ड नहीं। कर्मकाण्ड इस पर रोक लगनी चाहिए। श्री कल्याण कुमार शशि की कविता में कुछ ऐसा ही भाव देखने को मिलता है -

"मन में द्वेष, दम्य, ईर्श्या का भरा हुआ भण्डार।
नीच-ऊँच का, भेद-भाव का चला रहे व्यापार।
मुख में ईश्वर, छुआ-छूत का सिर पर भूत सवार।
इसमें धर्म कहाँ है, यह है भीषण-पापाचार।
जहाँ सभी में प्रेम वहीं पर बसते हैं भगवान।
धर्म वही है जिसमें मानव-मानव एक समान।।

× × × × ×

निर्मल शुद्ध हृदय में सबके बहे प्रेम की धार।
करें सभी को मनुज समझ मानवता का व्यवहार।
इसी मार्ग से हो सकती है, सबकी नैया पार।
यदि चूके तो छिन जायेगी आखों में पतवार।
नये समय की गति को समणो बनो न अब नादान।
धर्म यही है जिसमें मानव-मानव एक समान।"[74]

इतिहास इस बात का साक्षी है कि दलितों ने सदैव मूल्यों की रक्षा की है, तोड़ने का काम तो सार्मथ्य लोग करते आये हैं, दलित सृजन में विश्वास रखता है विश्वंस में नहीं। उसके आचरण में रक्षा का भाव रचा-बसा होता है।

14. जीवन में श्रम का महत्व :

आर्थिक दृष्टि से कमजोर एवं सामाजिक प्रतिष्ठा, मान-सम्मान से उपेक्षित होने के कारण दलितों का कार्य-व्यवहार मेहनत और मजदूरी सदैव से रहा है। सार्मथ्यवान लोगों के द्वारा उन्हें सेवा और श्रम की शिक्षा दी गयी। आजादी के लगभग साठ साल बाद भी उनके अधिकांश जीवन का रस स्रोत सेवा और श्रम से ही निकलता है। दलित के जन्म और मरण के बीच में श्रम सेतु का काम करता है। दलित बेसहारा श्रमिक के रूप में अपना अधिकांश जीवन येनकेन प्रकारेण गुजारता है। प्रगतिशील कवि केदारनाथ अग्रवाल की निम्नलिखित कविता में दलित श्रमिक का सम्पूर्ण जीवन दर्शन देखने को मिलता है-

"श्रम जीवी अपने बेटे को
पर उपकारी दिल देता है,
मेहनत करने की जीने को
हाथों में हल, लोने का घन,
पावों में हाथी की चालें,
अविजित छाती ऊँचे कन्धे,
हर आफत से लड़ जाने को,
गति देता है बल देता है।
श्रमजीवी अपने बेटे को
टूटी कुटिया, टूटी खटिया,
लोहे का तसला देता है,
तब तक जीता है-रहता है,
उत्पादन की गति देता है,
आशा की खेती करने को,
खेतों की धरती देता है
घर का भार उठाने वाली,
श्रम जीवी घरनी देता है,

मरने को वह मर जाता है
लेकिन जीवन दे जाता है
श्रम जीवी अपने बेटे को
गोठिल हंसिया दे जाता है।"[75]

15. ईमानदारी और विश्वास का भाव :

मनुष्य जिस समाज में रहता है इसकी कुछ अपनी मर्यादा और मूल्य होते है। ये मर्यादा और मूल्य व्यक्ति को प्रभावित करने के साथ-साथ संस्कार युक्त जीवन जीने के लिए बाध्य भी करते हैं। जैसा समाज होता है उसी के अनुसार मनुष्य की मनोवृत्ति बनती है। प्रायः मनुष्य के चित्त न में दो प्रकार की वृत्तियाँ जन्म लेती है - (1) सद्प्रवृति 2. दुष्प्रवृत्ति। सद्प्रवृत्ति के अन्तर्गत वे वृत्तियाँ आती हैं जो मनुष्य के अन्दर संस्कारी चरित्र का निर्माण करती हैं। जैसे- ईमानदारी, प्रेम, विश्वास, श्रद्धा, करुणा, दया, त्याग, भक्ति, परोपकार, संतोष आदि। वे वृत्तियाँ या मनोविकार जो व्यक्ति और समाज को अधोगति की ओर ले जाते हैं उन्हें दुष्प्रवृत्ति कहते हैं जैसे-ईर्श्या, छल, कपट, बैर, क्रोध आदि। सद्प्रवृत्तियों की दृष्टि रचनात्मक होती है जबकि दुष्प्रवृत्तियों के मूल में विनाश अथवा विध्वंश का रूप होता है। अक्सर देखने को यह मिलता है कि जिसके पास धन और शति है वह दुष्प्रवृत्तियों की ओर देर-सबेर उन्मुख हो जाता है और वही उसके पतन का ारण बनता है। जिसके पास सद्बुद्धि और श्रम है, वह सद्वृत्तियों को अपने जीवन में अंगीकृत कर अच्छा सुखद जीवन जीता है। चूंकि दलित भी समाज की महत्वपूर्ण इकाई है इसलिए वह इनसे प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकता है? दलित प्रेम की भाषा बोलता है और ईमानदारी की जीवन जीता है। कठोर श्रम से उत्पादित अन्न से भूख को शान्त करता है। चरित्र और ईमानदारी उसको पैत्रिक विरासत के रूप में प्राप्त होती है। उसकी चिन्तनधारा इसी के आस-पास ही घूमती है। शायद इसलिए वह अभाव ग्रस्त होते हुए भी शांति और संतोष की जिन्दगी जीता है। उसकी दृष्टि में ईमानदारी, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सब है। मुक्तिबोध कहते हैं कि इन दलितों शोषितों के पास अर्थाभाव भले ही तो पर ईमानदारी उनके तन और मन में रची बसी है -

"तुम्हारे पास हमारे पास
सिर्फ एक चीज है

ईमान का झंडा है

बुद्धि का बल्लम है

अभय की गैंती है

हृदय की तगारी तसला है

नये-नये बनाने के लिए भवन

आत्मा के मनुष्य के।"[76]

स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व तक दलितों के पास आज जैसा जीवन जीने का कोई ठोस आधार नहीं था। इसीलिए उन्हें पराश्रित रहना पड़ता था। वह तिरस्कार की स्थिति में भी विश्वासघात नहीं करता था। क्योंकि विश्वास ही उसके लिए रोटी, कपड़ा मकान या कह लीजिए सब कुछ था। उसके जीवन का आधार आज भी विश्वास ही है। विश्वासघात को वह पाप समझता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि दलित चेतना के जीवन-दर्शन में जीवन की समग्रता एवं गहरायी के साथ-साथ अनुभूति की सत्यता एवं मानव जाति को सुरक्षित रखने की दृष्टि एवं परिकल्पना भी है।

सन्दर्भ

1. प्रेमचंद : साहित्य का उद्देश्य, पृ0 10
2. गोविन्द मिश्र : 'साहित्यकार का धर्म', समय और सर्जना, पृ0 94
3. डाँगे श्रीपाद अमृत : जीवन और साहित्य, पृ0 8
4. कबीन्द्र रवीन्द्र साहित्य, पृ0 8
5. वामन शिवराम आप्टे (सं0) : हिन्दी - संस्कृत शब्द कोश, पृ0 451
6. पं0 हरिगोविन्द दास (सं0) : पाइ असद्द महण्णवो से।
7. आप्टे व्ही, एस (सं0) : इंगलिश डिक्सनरी।
8. वही : व्युत्पतिकोश से।
9. रामचन्द्र वर्मा (सं0) : संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर।
10. भोलानाथ तिवारी : हिन्दी पर्यायवाची शब्दकोश, पृ0 270
11. रामस्वरूप रसिकेश (सं0) : हिन्दी - संस्कृत शब्दकोश।
12. डॉ0 सोहनपाल सुमनाक्षर : दलित साहित्य और उसकी सीमाएं, पृ05
13. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 1
14. वही, पृ02
15. लोक शासन, समाचार पत्र जयपुर, 2 जून सन 1993
16. दलितायन, पृ04
17. चन्द्र कुमार वरठे : दलित साहित्य आन्दोलन, पृ0 68
18. वही, पृ0 68
19. डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा (सं0) हिन्दी साहित्य कोश, पृ0 189
20. रामप्रसाद त्रिपाठी : हिन्दी विश्वकोष।
21. दि आक्सफोर्ड इंगलिश डिक्सनरी, वाल्यूम दो, पृ0 847-848
22. समाज विज्ञान, प्रगति प्रकाशन (मास्को), पृ0 48
23. लक्ष्मीकांत वर्मा : नयी कविता के प्रतिमान, पृ0 224
24. मनुस्मृति 12, 4

25. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 3

26. वही, पृ0 3-4

27. डॉ0 शरण कुमार लिम्बाले : दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र, पृ0 40-41

28. रमणिका गुप्ता : दलित सपनों का भारत और यथार्थ, पृ0 1

29. ओम प्रकाश बाल्मीकि : कल के लिए (त्रयमासिक पत्रिका), एक साक्षात्कार, 1998, पृ0 17

30. डॉ0 सोहनपाल सुमनाक्षर : दलित साहित्य और उसकी सीमाएं, पृ0 10

31. डॉ0 शरण कुमार लिम्बाले : दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र, पृ0 38-39

32. डॉ0 म0न0 वानखेडे : हंस पत्रिका, अक्टूबर, 1992, पृ0 23

33. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 5

34. डॉ0 धर्मवीर : दलित साहित्य, 1999 पृ0 39

35. डॉ0 शरण कुमार लिम्बाले : दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र, पृ0 115-116

36. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' : हम विषपायी जनम के (प्रलयंकर खण्ड) पृ0 474

37. बदलूराम रसिक : ताण्डव कविता से।

38. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा,पृ0 244

39. शरण कुमार लिम्बाले : दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र, पृ0 39

40. अवन्तिका प्रसाद मम्मट : (सं0) दलितायन, पृ0 4

41. ओम प्रकाश बाल्मीकि : आत्म कथा, जूठन - भूमिका से।

42. रांगेय राघव : अजेय खण्डहर, पृ0 16

43. केदारनाथ अग्रवाल : प्यासी पथराई आँखे।

44. डॉ0 धर्मवीर : डॉ0 अम्बेदकर के प्रशासनिक विचार, पृ0 31

45. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 24

46. डॉ0 धर्मवीर : डॉ0 अम्बेदकर के प्रशासनिक विचार, पृ0 29

47. एम0आर0 विद्रोही : शिखर की ओर से।

48. विश्वनाथ त्रिपाठी : कथाक्रम, नवम्बर 2002, पृ0 34

49. भीमराव अम्बेदकर, 4 नवम्बर सन 1948 को संविधान सभा में दिये गये वक्तव्य का अंश।

50. मनुस्मृति 1/101

51. वही, शांतिपर्व, 162/14
52. महाभारत, वर्ण 69, 59
53. राजकिशोर (सं0) : हरिजन से दलित, पृ0 67
54. डा0 शरण कुमार लिम्बाले : दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र, पृ0 17-18
55. डॉ0 कालीचरण स्नेही : स्वतंत्रयोत्तर हिन्दी काव्य में दलित चेतना, पृ0 107
56. डॉ0 एन0सिंह (सं0) : शिखर की ओर, पृ0 295
57. सोहनपाल सुमनाक्षर : ये मन्दिर कविता से।
58. वही।
59. डॉ0 धर्मवीर : डॉ0 अम्बेदकर के प्रशासनिक विचार, पृ0 64
60. चण्डी प्रसाद व्यथित : खुद अपना इतिहास बनाओ, कविता से।
61. रवि प्रकाश 'रवि' : प्रतीक्षा का अंत, कविता से।
62. प्रेमशंकर : क्रांति आ रही है कविता से।
63. डॉ0 बाबा साहेब अम्बेदकर : राइटिंग एण्ड स्पीचेज, खण्ड 5, पृ0 169
64. वही, पृ0 169
65. वही, पृ0 5
66. डॉ0 शरण कुमार लिम्बाले : दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र, पृ0 30-31
67. डॉ0 सोहनपाल सुमनाक्षर : ये छुआछूत क्यों है? कविता से।
68. डॉ0 कालीचरण 'स्नेही' : स्वतंत्रयोत्तर हिन्दी काव्य में दलित अस्मिता, पृ0 103
69. डॉ0 कुमार विमल : आलोचना, अक्टूबर-दिसम्बर 1967, पृ0 64
70. गिरिजा कुमार माथुर : लहर, सितम्बर', सन 1960
71. डॉ0 जगदीश गुप्त : लहर 'सितम्बर', सन 1960
72. डॉ0 धर्मवीर भारती : लहर, सितम्बर, 1960
73. योगेन्द्र सिंह : माध्यम पत्रिका, सन 1969
74. कल्याण कुमार शर्मा : धर्म में मानव समता चाहिए, कविता से।
75. केदारनाथ अग्रवाल : श्रमजीवी अपने बेटे को गोठिल हंसिया दे जाता है, कविता से।
76. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 243

द्वितीय अध्याय

छायावादोत्तर पूर्व हिन्दी काव्य में दलित चेतना का क्रमिक विकास :

(क) आदिकालीन काव्य में दलित चेतना का उन्मेष :

हिन्दी साहित्य का आदिकाल जिसे चारणकाल, प्रारम्भिक काल, वीरगाथाकाल, सिद्ध सामंत युग, संधिकाल आदि कई नामों से पुकारा जाता है, कई दृष्टिकोणों से बड़ा महत्वपूर्ण काल है, इसके समय-सीमा को लेकर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। डॉ0 ग्रियर्सन इसका समय सन् 700-1400 ई0 मानते हैं तो मिश्रबन्धु सं0 700-1444 तक। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदिकाल का समय सं0 1056 से 1375 तक माना है। डॉ0 रामकुमार वर्मा ने इसका समय सं0 750 से 1000 मानना अधिक उचित समझा है। इस काल का सम्पूर्ण वातावरण अशांतिमय था। इस अशांति के अनेकानेक कारण हैं। राजनेताओं की लड़ायी का केन्द्र बिन्दु सत्ता प्राप्त करना था। तो धर्माचार्य धर्म की आड़ में अपनी बातों को जनमानस के बीच में पहुँचाने को आतुर थे। धर्म शक्ति और राजनीति के दलदल में फंसा जनमानस त्रसित एवं दिग्भ्रमित था। सम्राट हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात राजनीतिक क्षेत्र में व्यापक उथल-पुथल हुआ तो धार्मिक क्षेत्र में वैदिक एवं पौराणिक धर्म वास्तविक आदर्शों से दूर हट गये। दोनों परिवर्तनों का प्रभाव सीधे तत्कालीन मानव समाज पर पड़ा। इन परिवर्तनों के फलस्वरूप सामाजिक परिस्थितियों में व्यापक असुंतलन पैदा हो गया। सामाजिक रूढ़िवादिता ने समाज को रूढ़िग्रस्त बना दिया। सामाजिक जीवन के नियम अत्यन्त कड़े हो गये। वर्ण व्यवस्था के मानक उदारवादी न रहकर कट्टरवादी हो गये। जाति की पहचान गुण और कर्म के आधार पर वंशानुक्रम प्रधान हो गयी। एक जाति में अनेक उपजातियाँ बन गयी। सार्मथ्यवानों पर तो कोई विशेष असर नहीं पड़ा पर जो शक्तिहीन दलित थे, वे इस दुर्व्यवस्था से अध्यधिक प्रभावित हुए। दलित चेतना का इस काल में क्या रूप था और किन-किन रूपों में चैतन्यता आयी, उसे कई रूपों में देखा जा सकता है।

1. सिद्ध साहित्य में दलित चेतना का उन्मेष :

आठवीं शताब्दी भारत के इतिहास में राजनैतिक, धार्मिक, साहित्यिक और सामाजिक दृष्टि से नये युग की सूत्रपात की द्योतक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल की विषम स्थिति के सम्बन्ध में लिखा है -''भारत के इतिहास में यह वह समय था जब मुसलमानों के हमले उत्तर पश्चिम की ओर से लगातार होते रहते थें इनके धक्के अधिकतर भारत के पश्चिमी प्रान्त के निवासियों को सहने

पड़ते थे, जहाँ हिन्दुओं के बड़े-बड़े राज्य प्रतिष्ठित थे।"[1] हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद राजनीतिक क्षेत्र में उथल पुथल तो हुई पर बौद्ध धर्म के हीनयान और महायान सम्प्रदाय उत्कर्ष पर थे। हीनयान शील सदाचार और वैयक्तिक निर्वाण पर जोर देता था। महायान शील सदाचार को महत्व तो देते थे, किन्तु वैयक्तिक निर्वाण के स्थान पर मानव मात्र के निर्वाण को अपना लक्ष्य मानते थे। बौद्ध धर्म का उदय वैदिक कर्मकाण्ड की जटिलता एवं हिंसा की प्रतिक्रिया में हुआ तो सिद्ध परम्परा बौद्ध धर्म की विकृति स्वरूप हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि -"बौद्ध धर्म विकृत होकर वज्रमान सम्प्रदाय के रूप में देश के पूर्वी भागों में बहुत दिनों से चला आ रहा था। इन बौद्ध तांत्रिकों के बीच वामाचार अपनी चरम सीमा को पहुँचा। ये बिहार से लेकर आसाम तक फैले थे और सिद्ध कहलाते थे। "चौरासी सिद्ध" इन्हीं में हुए जिनका परम्परागत स्मरण जनता को अब तक है।"[2] महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन ने सिद्ध साहित्य पर महत्वपूर्ण कार्य किया है। उन्होंने सिद्धो की कुल 84 संख्या बतायी है। जो विभिन्न जातियों के हैं। शूद्र वर्ग में उत्पन्न होने वाले सिद्धों के नाम कुछ इस प्रकार हैं- 1. जोगिपा-डोम, 2. सर्वभक्ष-शूद्र, 3.भद्रपा-शूद्र, 4. महीपा-शूद्र, 5. मनिपा-कछुवा, 6. चर्पटी-कहार, 7. कन्थलीग-दर्जी, 8. शालिपा-शूद्र, 9. चमरिपा-चमार, 10. क्षत्रपा-शूद्र। इन सिद्धों के द्वारा अपनी जाति अथवा वर्ग के लिए जो कुछ कहा गया वह अप्राप्त है। सिद्ध सम्प्रदाय के प्रवर्तक 'सरहपा' माने जाते है। राहुल सांकृत्यायन इन्हें नालन्दा के ब्राह्मण कुल का मानते हैं। इन्होंने कई क्रान्तिकारी परिवर्तन किये। सहज जीवन को सरहपा जी ने बहुत महत्व दिया। बौद्ध धर्म का अध्ययन इन्होंने नालन्दा में ही किया। भक्ष्य-अभक्ष्य, गम्य-अगम्य की पुरानी धारणाओं पर इन्होंने सीधी चोट की। गुरू को विशेष महत्व देते हुए बौद्ध धर्म के तिःशरण के स्थान पर चतुःशरण को मान्यता दी - 'गुरू शरण गच्छामि'। सरहपा ने तद्युगीन वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था, सामाजिक भेदभाव एवं बाह्य आडम्बर का खुलकर विरोध किया। राहुल सांस्कृयायन ने सरहपा के गीतों का हिन्दी छायानुवाद किया हैं। उनमें से सरहपा ने दलितों के सम्बन्ध जो कुछ कहा है वह इस प्रकार है -

1. "ब्राह्मण न जानते भेद। यों ही पढ़े ये चारों वेद।
   मट्टी, पानी, कुश, लेई पठन्त, घर ही बैठी अग्नि होमन्त।
2. एक दंडी त्रिदंडी भगवा भेसे। ज्ञानी होके हंस उपदेसे।
   मित्थे ही जग वहा भूले। धर्म-अधर्म न जानत तुत्थे

3. यदि कहऊ तोहि कह न जा इ।

अथवा कहऊ जनके मन पत्थमन जागरई।

यदि प्रमोद विधि वस, मूढ़ लहेऊ भेद

यदि चाण्डाल घरे भुंजई तऊ न लागे लेप

4. वर्ण अचार प्रमाण रहित, अच्छर भेद अनन्त

को पूजइ कहं पूजियइ जासु आदि न अंत।"[3]

दलित चेतना से सम्बन्धित 2 छन्द और प्राप्त होते हैं पर इनकी रचना किसने की यह सही-सही कह पाना बहुत कठिन है।

जे यहु लषै सु गुर का पूरा। भेदहि भाव विचारे।

तिसकी नाव न छूटे हंस डूबै। सदा अपन पौ तारे।

इनके जाति भेद कुल नाही। पुरिष सबकै उपकारी।

साध पुरिख इनके जाति कुजाति न पूछिये। पढ़ि मलि ग्रुवै कोई

तिस ठाई पुरिष नहि पाइये। जिनके धोखा दुविध्या होई।

2. वेद पढ़े पढ़ि ब्रम्हा मूवा। पढ़ि गुनि भाटन गारो।

राजन करन्ता राजा मूरा। रूप देषि देषि नारी।"[4]

2. नाथ साहित्य में दलित चेतना की दृष्टि :

वज्रयान की सहज साधना नाथ संप्रदाय के रूप में विकसित हुई। जीवन को कर्मकाण्ड के जाल से मुक्तकर सहज रूप की ओर ले जाने का श्रेय नाथों को ही जाता है। नाथ साहित्य उन संतो द्वारा रचित लोक साहित्य है जो 'नाथ' को परम तत्व स्वीकार कर उसकी प्राप्ति के लिए योग साधना करते थे। इस संप्रदाय में जो दीक्षित होता था उसके नाम के अंत में 'नाथ' उपाधि जोड़ दी जाती थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "नाथ संप्रदाय जब फैला तब उसमें जनता की नीची और अशिक्षित श्रेणियों के बहुत से लोग आये जो शास्त्र ज्ञान सम्पन्न न थे। जिनकी बुद्धि का विकास बहुत सामान्य कोटि का था। पर अपने को रहस्यदर्शी प्रदर्शित करने के लिए शास्त्रज्ञ पंडितों और विद्वानों को फटकारना भी वे जरूरी समझते थे।"[5] वर्ण रत्नाकर में नाथों की संख्या 76 बतायी गयी है। पर इनमें जो महत्वपूर्ण नाम है वे इस प्रकार हैं - नवनाथ, आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ,

जालंधरनाथ, चौरंगीनाथ, गोपीनाथ आदि। राहुल सांस्कृत्यायन, मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ को सिद्ध मत का मानते हैं और आदिनाथ को नाथ पंथ का प्रथम सिद्ध मानते हैं दलित चिंतक श्री माता प्रसाद जी ने मत्स्येन्द्र नाथ को इस परम्परा का प्रथम गुरू माना है और गोरखनाथ को इनके शिष्य के रूप में स्वीकार किया है।[6]

नाथ सम्प्रदाय के दार्शनिक पक्ष का मूल्यांकन करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है - "नाथ संप्रदाय के सिद्धान्तों में ईश्वरों पासना के बाह्य विद्वानों के प्रति उपेक्षा प्रकट की गयी। घट के भीतर ही ईश्वर को प्राप्त करने पर जोर दिया गया। वेदशास्त्र का अध्ययन व्यर्थ ठहराकर विद्वानों के प्रति अश्रद्धा प्रकट की गयी। तीर्थाटन आदि निष्फल कहे गये।"[7] शास्त्र आधारित रूढ़िवादी व्यवस्था ने समाज के एक बहुत बड़े वर्ग को उपेक्षित कर रखा था। वर्ण और जातिवादी नीतियों ने उसका जीवन संकुचित और जटिल कर रखा था। नाथ पंथी व्यवहारिक जीवन में सहजता के पक्षधर थे इसीलिए योगी ब्राह्मणों से असंतुष्ट और वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रति अनास्थाशील थे। नाथ सम्प्रदाय में किसी भी जाति का या वर्ण का या आश्रम का व्यक्ति दीक्षित हो सकता था। दीक्षित होने पर योगी में जाति वर्ण अथवा आश्रम का भेद नहीं रहता। योगी इनसबसे परे होता है। वह अतिवर्णाश्रमी हो जाता है। इसलिए इसको पंचमाश्रमी कहा गया है।

गोरखनाथ जी तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था से संतुष्ट न होने के कारण कुव्यवस्था के खिलाफ जमकर विरोध किाय। उनका मानना था कि किसी भी व्यवस्था में जीवन को सहजता मिलनी चाहिए जटिलता नही। न्याय मिलना चाहिए शोषण नहीं। कुरान, वेद और संयासियों की तीर्थ यात्रा की आलोचना करने के पीछे उनका उद्देश्य समाज में समरसता पैदा करना था, जीवन को सहज एवं सरल बनाना था -

"काजी मुल्ला कुराणा लगाया ब्रह्म लगाया वेद।"[8]

कापड़ी सन्यासी, तीरथ, भ्रमाया न पाया नृवारणा पद का भेद।"[8]

गोरखनाथ जी ने पूजा-पाठ छोड़कर योग करने को कहा। क्योंकि इसी में व्यक्ति की भलाई है -

"पूजापाति जपौ जिनि जाय, जो मांहि विढयो आप।

छाड़ौ भेद बणज-व्योपार, पढ़वा गुणिवा लोकाचार।"[9]

वे शूद्रों को शिक्षा देने के पक्षधर थे। नाथ पंथ में जाति के आधार पर कोई भेदभाव नहीं था। ज्ञान तिलक में उन्होंने कहा है -

"वैसन्दर मुनि मुषि ब्रह्म जो होते, सूद्र पढ़ाऊँ वानी।
असंवेद विधि ब्रह्म जग निपजा मैने जुगाति जमाया पानी।"[10]

मन्दिर-मस्जिद विग्रह के सम्बन्ध में गोरखनाथ के विचार अत्यन्त ही मूल्यवान है -

"हिन्दू ध्यावे देहूरा, मुसलमान मसीत।
जोगी ध्यावै परमपद जहाँ देहुरान मसीत।"[11]

मूर्ति पूजा के सम्बन्ध में भी उनकी दृष्टि बड़ी स्पष्ट है-

"सरजीव तोडिला निरजीव पूजिला।
पापची करणी कैसे दूतर तिरीला।"[12]

डॉ0 रामकुमार वर्मा ने नाथ साहित्य के अन्तर्गत गोरखवाणी की भूरि-भूरि प्रशंसा की है-

"गोरखनाथ ने नाथ संप्रदाय को जिस आन्दोलन का रूप दिया वह भारतीय मनोवृत्ति के सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुआ है। उसमें जहाँ एक ओर ईश्वरवाद की निश्चित धारणा उपस्थित की गयी वहाँ दूसरी ओर विकृति करने वाली समस्त परम्परागत रूढ़ियों पर भी आघात किया। जीवन को अधिक से अधिक संयम और सदाचार के अनुशासन में रखकर आध्यात्मिक अनुभूतियों के लिए सहज मार्ग की व्यवस्था करने का शक्तिशाली प्रयोग गोरख ने किया।"[13] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मानना है कि "नाथ साहित्य में ऐसे सहज जीवन का आदर्श उपस्थित किया जो ग्रहस्थ जीवन के लिए अनुकरणीय है -

"सहज शील का धरे शरीर, सो गिरही गंगा का नीर।"[14]

3. वारकरी सम्प्रदाय में दलित चेतना की दृष्टि :

'ज्ञानेश्वरी' और भावार्थ दीपिका ग्रंथ से ज्ञात होता है कि महाराष्ट्र में 'वारकरी सन्तों को मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ जैसे नाथ पंथ अनुयायियों से लोकोन्मुखी सहज चिन्तन धारा मिली। वारकरी सन्तों में शिव के प्रति अटूट आस्था थी। इन संतो ने शैव और वैष्णव के भेद को समाप्त करने के प्रयास के साथ-साथ ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों की उपासना निष्ठा एवं श्रद्धा से की। महाराष्ट्र में निर्गुण और सगुण की धारायें अलग-अलग नहीं हुई। इस सम्प्रदाय में भक्ति, ज्ञान

और कर्म का संतुलन रहा। इस सम्प्रदाय पर विट्ठलनाथ के विचारों का स्पष्ट रूप से प्रभाव देखने को मिलता है।

वास्तव में वारकरी पंथ कोई नया पंथ नहीं है यह गुरू गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित नाथ पंथ का जन सुलभ सुन्दर विकास है। अद्वैत में अडिग आस्था, सदाचरण में अटल निष्ठा, गुरू भक्ति में दृढ़ श्रद्धा, निर्गुण निराकार पारब्रह्म की सर्व व्यापकता में अटूट विश्वास और पारम्परिकता, बाह्य आडम्बर तथा पोथी निष्ठा का घोर विरोध करना वारकरी संतो का ध्येय रहा है। इस संप्रदाय के संस्थापक को लेकर विद्वानों में मतभेद है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार- ''महाराष्ट्र के भक्तों में 'नामदेव' का नाम सबसे पहले आता है।''[15] डॉ0 शिवकुमार शर्मा 'ज्ञानदेव' को वारकरी संप्रदाय का प्रवर्तक मानते हैं।[16] माता प्रसाद जी के अनुसार वारकरी सम्प्रदाय के संस्थापक नामदेव हैं।[17] और यही अधिकांश विद्वानों की भी मान्यता है। नामदेव का जन्म 1270 ई0 में साधारण दर्जी परिवार में हुआ था। आचार्य शुक्ल मानते हैं कि -''नामदेव किसी गुरू से दीक्षा लेकर अपनी सगुण भक्ति में प्रवृत्त नहीं हुए थे, अपने ही हृदय की स्वाभाविक प्रेरणा से हुए थे।[18] शूद्र वर्ण में जन्म लेने के कारण सभी जातीय जटिलताओं से उन्हें गुजरना पड़ा। वे महाराष्ट्र तक ही सीमित नहीं थे। उन्होंने राजस्थान पंजाब और हरिद्वार आदि का भ्रमण कर वहाँ की सामाजिक एवं जातीय संकुचित मानसिकता को जाना समझा और समाज एवं व्यक्ति हित के अनेक बहुमूल्य विचार प्रस्तुत किये। जात-पांत के सम्बन्ध में उन्होंने कहा-

''का करौं जाती का करौ पांती

राजाराम सेऊँ दिन राती।

हंसत-खेलत तेरे देहरे, भगति करत नामा पकरि उठाया।

हीनड़ी जाति मेरी जादराया, छीपी के जनम काहे को आया।

नाना वर्ण गवा उनका एक वर्ण दूध।

तुम कहाँ के ब्राह्मण हम कहाँ के सूद्र।''[19]

नामदेव कहते थे कि मनुष्य सर्वप्रथम मनुष्य है, ब्राह्मण सूद तो सामाजिक व्यवस्था की देन है वे वाह्य कर्मकाण्ड के भी विरुद्ध थे-

''पाहन आगे देवु कटीला।

वाको प्राण नहीं वाकी पूजा रचीला।

निरजीव आगे सर जीव मारै।

देखत जनम आपनों हारै।

आंगणि देव पिछी कडि पूजा

पाहन पूजि भये नर दूजा।

नामदेव कहे सुनो रे घगड़ा

आतम देव न पूजो दगड़ा।'[20]

हिन्दू-मुस्लिम की मिथ्या रूढ़ियों का नामदेव ने कभी समर्थन नहीं किया। बड़े कटु शब्दों में इसका विरोध करते हुए उन्होंने लिखा है -

"हिन्दू अन्धा तुरकौ काना, दुवौते ज्ञानी सयाना।

हिन्दू पुजै देहरा, मुसलमान मसीप्त।।

नामा वही सेविये जहाँ देहरा न मसीत।"[21]

दलित चेतना सम्बन्धी जिन विचारों का बीजारोपण नामदेव ने किया था उसी का विकसित रूप आज का दलित चिन्तन है।

संत नामदेव के लगभग तीन सौ वर्ष बाद वारकरी तथा नाथपंथ के सिद्धान्तों को पुनर्जीवित करने का कार्य सन्त 'एक नाथ' ने किया। विद्वानों ने इनका समय 1533 ई0 से 1599 ई0 तक निर्धारित किया है। इन्होंने सामाजिक शोषण एवं अन्याय परक रूढ़ियों- जैसे पाखण्ड आदि का खण्डन किया है-

'नाम बेचकर दाम लेते हैं।

उसकी करनी हराम है।

फकीर होकर फिकीर करता

उसका मूँ काला है।

× × ×

रोहिदास चमार सब कुछ जाने,

कठोरे गंगा देखा।"[22]

समर्थ रामदास छत्रपति शिवाजी के समकालीन थे। उन्होंने वाह्य आडम्बर के विरोध में लिखा है-

"गंगा गोमती, रेवा तापी
और वनारस नहाया तो क्या जी।"[23]

वारकरी सम्प्रदाय के अन्तर्गत सन्त तुकाराम का भी नाम सम्मान पूर्वक लिया जाता है। इनका जन्म सन् 1518 में ऐसे मराठी परिवार में हुआ जहाँ विट्ठलनाथ की उपासना होती थी। शानदेव और नामदेव ने जिस जनकल्याणकारी विचार धारा को भक्ति के माध्यम से प्रवाहित किया तुकाराम ने उसे और अधिक गति एवं दिशा दी -

"जातनु मुझे कछु नहीं प्यार।
चीत मिले तो सब मिले नहिं तो फोकट संग
पाणी पत्थर एक ही येक ही ठोर। कोरून भीगे अंग।"[24]

वारकरी सम्प्रदाय की संतवाणी की सामाजिक प्रासंगिकता के सम्बन्ध में वारकरी पंथीय वाडमय के उद्भट विद्वान डॉ0 श0दा0 पेडसे ने कहा है - "ज्ञानदेव-नामदेव के काल का विचार करते हुए हमें एक सत्य स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। तेरहवीं शती ही में महाराष्ट्र की भूमि में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों के सन्तों का उदय हुआ और ब्राह्मण निवित्तिनाथ, ज्ञानदेव, सोपान, मुक्तावाई, छीपी, नामदेव, सुवर्णकार, नरहरि, माली, सारता, कुम्हार, गोरा, धेड़, चोखा मेला, ये सारे हिन्दू धर्मान्तर्गत संकुचितता के विरोध में वगावत करने के लिए सिद्ध हुए।"[25]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य और वारकरी साहित्य में भक्ति के माध्यम से लोकोन्मुखी दलित चिन्तन का ऐसा उन्मेष था जिसमें वर्ण, जाति, आडम्बर का विरोध किया गया। इस चिन्तनधारा में दर्जी, कुम्हार, माली, सुनार, भंगी, दासी, नाई और वेश्यापुत्रियों ने बराबर की सहभागिता की। यहाँ एक बात और जो देखने को मिली है वह यह कि समाज शिक्षा धर्म और साहित्य किसी एक वर्ग एवं जाति विशेष का न होकर समस्त मानव समूह का है।

ख-मध्यकालीन हिन्दी काव्य में दलित चेतना का स्वरूप :

आचार्य, रामचन्द्र शुक्ल ने मध्य काल का समय सं0 1375 से सं0 1900 तक माना है।[26] साहित्यिक प्रवृत्तियों को मूलाधार मानते हुए उन्होंने मध्यकाल को 2 भागों में विभक्तकर उसका अलग-

अलग समय निर्धारण किया है-

1. पूर्व मध्यकाल : भक्ति काल (सं0 1375 से सं0 1700 तक)

2. उत्तर मध्यकाल : रीतिकाल (सं0 1700 से सं0 1900 तक)

भक्तिकाल के अन्तर्गत मुख्य रूप से भक्ति साहित्य की दो धारायें मिलती हैं - (1) निर्गुण धारा (2) सगुण धारा। आचार्य शुक्ल ने इन दो मुख्य धाराओं का भी अलग-अलग विभाजन एवं नामकरण किया है -

निर्गुण धारा : (क) ज्ञानाश्रयी शाखा (ख) प्रेममार्गी शाखा

सगुण धारा : (क) रामभक्ति शाखा (ख) कृष्ण भक्ति शाखा[28]

भक्तिकाल हिन्दी काव्य मानव जीवन के लिए पथ प्रदर्शक के साथ-साथ नैराश्य मन को शक्ति और संबल भी प्रदान करता है। भक्तिकाल की आत्मा भक्ति है, जीवन स्रोत रस है और शरीर मानवी है। इसमें अमंगल कम लोकमंगल और लोकरंजन का रूप अधिक है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "समूचे भारतीय इतिहास में भक्ति साहित्य अपने ढंग का अकेला साहित्य है जिसमें जीवन के सभी विषाद नैराश्य और कुंठाएं धुल जाती हैं।"[29]

(1) निर्गुण काव्यधारा में दलित चेतना का स्वरूप :

निर्गुण काव्यधारा के अन्तर्गत ज्ञानाश्रयी शाखा अथवा सन्तकाव्य धारा का एक विशिष्ट स्थान है। बौद्ध साहित्य, सिद्ध साहित्य, जैन साहित्य, नाथ साहित्य एवं वारकरी सम्प्रदाय का समन्वित सारतत्व सन्तकाव्य धारा में एक साथ देखने को मिलता हैं यह काव्य जीवन के व्यावहारिक पक्ष के अत्यधिक निकट है। डॉ0 अशोक प्रभाकर कामत ने सन्तकाव्य के क्रमिक विकास का परिस्थिति जन्य मूल्यांकन करते हुए लिखा है - "वैदिक विशुद्ध आध्यात्मिकता में जब विकृति उत्पन्न हुई और वर्ण विभेद, जाति बंधन, बाह्य आडम्बर और विशेष रूप से पुरोहित समाज का प्रावल्य जब असहनीय हो उठा, तब बौद्ध विचार क्रान्ति कारक रूप में प्रज्जवलित हुआ। बौद्ध धर्म के विकास काल में उसकी परिणति महायान में, महायान की मंत्रयान में और मंत्रयान से बज्रयान में हुई। यहाँ आकर बौद्ध मत भी तांत्रिक साधना का शिकार हुआ। इसके विरोध में एक बार सिद्ध साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ और दसवीं सदी में गुरू गोरखनाथ के रूप में ऐसे महान प्रज्ञावान नेता का धर्म साधना में उदय हुआ, जिसने अपने नाथ संप्रदाय के अन्तर्गत समस्त भारतीय साधना का परिष्करण ही किया। हिन्दी सन्तमत के

प्रवर्तक संत नामदेव और श्रेष्ठ प्रचारक संत कबीर और उनके परवर्ती अनेक संत इसी नाथ पंथ से प्रेरणा ग्रहण कर अपनी सुधार यात्रा में जय शाली बने। ईषा की सातवीं शती में दक्षिण में आलवार संतो के भक्तिगीत मान्यता प्राप्त कर चुके थे। आचार्य रामानुज की परम्परा में रामानन्द एक ऐसे सत्पुरुष हुए जिन्होंने भक्ति की यह शक्ति दक्षिण से उत्तर में संचारित कर दी।"[30]

सन्तकाव्य धारा के अधिकांश संत कवि शूद्र दलित वर्ग के थे। डॉ0 राजदेव सिंह के अनुसार - "मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन और हिन्दी के भक्तिकालीन काव्य से यह बात बहुत स्पष्ट रूप में सामने आती है कि निर्गुण रामभक्त प्रायः दलित कही जाने वाली नीची जातियों वाले थे।"[31] सन्त काव्यधारा के अन्तर्गत जिन सन्त कवियों के काव्य में दलित चेतना सम्बन्धी बहुमूल्य विचार पाये जाते हैं उनके नाम इस प्रकार हैं -

कबीरदास :

काल की क्रूर एवं कठोर आवश्यकताएँ तथा समाज की विद्रूप जटिलाताएं महात्माओं एवं संतो को जन्म देती हैं। कबीरदास का जन्म भी समय की विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ था। वे हिन्दी साहित्य एवं भारतीय समाज की श्रेष्ठतम विभूति है। कबीर के महत्व का प्रतिपादन करते हुए श्रेष्ठ कबीर साहित्य चिंतक हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है - "साधना के क्षेत्र में वे युग गुरू थे और साहित्य के क्षेत्र में भविष्य स्रष्टा। सच्चे कर्मयोगी होने के कारण वे युग-युग गुरू थे। उन्होंने सन्तकाव्य का प्रदर्शन कर साहित्य क्षेत्र में नव निर्माण का कार्य किया था। प्रतिभा उनमें बड़ी प्रखर थी।"[32] भारतीय समाज की संरचना का तानाबाना प्राचीन काल से ही बड़ा उलझा हुआ मिलता है। कबीर के समय में भारतीय समाज के संचालकों में 'कथनी' और 'करनी' में बड़ा मूलभूत अन्तर था। हिन्दू समाज का नियमन करने वाला ब्राह्मण वर्ग जहाँ सैद्धान्तिक दृष्टि से एकता तथा समानता का पक्षधर था, वहीं व्यावहारिक रूप में वह गुण कर्मानुसार व्यक्ति का मूल्यांकन न कर कुल जन्म के अनुसार करता था। वह श्रेष्ठता का मूल्यांकन ब्राह्मण कुल में जन्म से करता था, भले ही उसके क्रिया-कलाप एवं आचरण वैश्य या शूद्र के ही क्यों न हो। कबीर ने कुल मर्यादा के झूठे अभिमान को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने मनुवादी जाति व्यवस्था का खुलकर विरोध किया -

1. जाति पांति पूछे नहि कोई, हरि का भजे सो हरि का होई।[33]
2. एक ज्योति से सब उत्पन्ना, कौन ब्राह्मन कौन सूदा।

माटी एक भेष धरि नाना, सबमें ब्रह्म समाना।

ओं, ओकार आदि है भूला, राजा परजा एकहि मूला।

हम तुम मांहे एकै लोहू, एकहि प्रान जीवन है मोह।।

छीतहिं से उपजा सूद, हमारे कैसे लहू, तुम कैसे दूध

तुम कैसे ब्राह्मण पांडे, हम कैसे सूद।[34]

3. जो तू करता वरन विचारा

जनमत जीन दण्ड अनुसारा

जन्म सूद भये मुये पुनि सूदा

× × ×

एक तुचा हाड़ मल भूता

एक रिधुर एकै गूदा

एक वुंद सो सृष्टि रची है

को बाभन को सूदा।[35]

कबीर का मानना है कि जाति-पांति भेद निरर्थक है। सब मानव पांच तत्व के पुतले हैं। अन्त में सब तत्व जहां का है, वहीं चला जाता है। वे कहते हैं सज्जन गुणी व्यक्ति की पहचान जाति से नहीं ज्ञान से होती है।

जात न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान

मोल करो तलवार का पड़ा रहन दो म्यान।[36]

कबीर का दृढ़ विश्वास था कि व्यक्ति को सुख और शान्ति जाति-वर्ण से नहीं अपितु सम दृष्टि से मिलेगी -

लोहा कंचन सम करि जानहिं, ते मूरत भगवान।[37]

हमारे भारतीय समाज की सबसे बड़ी बिडम्बना यह है कि जब तक स्वार्थ सिद्ध होनी है तब तक कोई भी जाति और व्यक्ति अछूत नहीं है, पर जैसे ही काम निकल गया फिर छूत, अछूत और छुआछूत जैसे शब्द सवर्णों को याद आ जाते हैं। कबीर ने छुआछूत का इन शब्दों में खण्डन किया है -

"का है की कीजै पांडे छोति विचारा।

छोतिहिं ते उपना संसारा

हमारे कैसे लोहू तुम्हारे कैसे दूध।

तुमह कैसे ब्राह्मण पांडे हम कैसे सूद।।

छोति-छोति करता तुम्ह ही जाये

तौ ग्रमवास काहे को आये

जनमत छोति मरत ही छोति

कहै कबीर हरि की निर्मल जोति।"[38]

कबीर की दृष्टि में कोई भी व्यक्ति न तो जन्म से ऊँचा है और न ही नीचा। ऊँच नीच की भावना समाज की जातिवादी सोंच की देन है। मनुष्य की जाति तो मनुष्य जाति है। बाकी सब सामाजिक आडम्बर एवं मानव मस्तिष्क की शरारत है -

"एक बूंद एक मलमूतर, एक चाम एक गूदा

एक जाति मै सब उपजा कौन ब्राह्मण कौन सूदा।"[39]

कबीर कहते हैं कि व्यक्ति में दृष्टि समानता होना परमावश्यक है समानता विकास की दिशा तय करती है।

"ऊँच नीच सम सरिया ताथै जन कबीर निसतरिया"[40]

कबीर आर्थिक पहलू पर समरसता के पोषक है। जीवन यापन के लिए धन आवश्यक है किन्तु संचय वृत्ति आर्थिक विषमता को जन्म देती है। वे कहते हैं - 'मेरी-मेरी झूठ है।' क्योंकि जब मरने के बाद कटि वस्त्र तथा कटि सूत्र तक तोड़कर निकाल लिये जाते हैं तो यहाँ अपना क्या है? वे कहते हैं -

'संत न बांधै गाठरी, पेट समाता लेई।"[41]

कबीर ने जातिगत, वंशगत, धर्मगत एवं शास्त्रगत रूढ़ियों और परम्परा के मायाजाल को बुरी तरह छिन्न-भिन्न किया है एक ओर पण्डित और मुल्ला की कटु आलोचना करते हैं तो दूसरी ओर मन्दिर-मस्जिद एवं तीर्थाटन को निस्सार बताते हैं। दोनों की बताई राह पर शांति मिलने वाली नहीं है -

"अरे उन दोउन राह न पायीं,

हिन्दुन की हिन्दुआई देखी, तुरकन की तुरकाई।"[42]

कबीर के सम्बन्ध में शिवदान सिंह चौहान ने लिखा है - "यह कहकर कि साँई के सब जीव हैं कीरी कुंजर दोय, उन्होंने मानव मात्र की समानता का सिद्धान्त प्रचारित किया।"[43] निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि विद्वानों द्वारा आज जो दलित चेतना का सामाजिक जीवन-दर्शन निर्धारित किया है उसमें से अधिकांश दलितों के हितों की बाते कबीर के काव्य में देखने को मिलती है। सामाजिक शोषण, अनचार और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष समता मूलक समाज की स्थापना सारा दलित दर्शन कबीर की वृहद एवं सहज सोंच का आधार है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर की विलक्षण प्रतिभा एवं महान व्यक्तित्व के सम्बन्ध में लिखा है -"हिन्दी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वन्दी जानता है - तुलसीदास।"[44]

रैदास (रविदास) :

कबीर के समकालीन सन्तों में रविदास या रैदास का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। रामानन्द की शिष्य परम्परा में कबीर के बाद रैदास का नाम प्रमुख है। रैदास का जन्म काशी में चमार जाति में हुआ था। उन्हीं के शब्दों में - "कहि रैदास खलास चमारा।"[45] "नागर जना मेरी जाति विख्यात चमार।" दलित जाति में जन्म के बावजूद उन्होंने अपनी आध्यात्मिक शक्ति से समाज के हर वर्ग को प्रभावित किया। उनका मानना था कि समाज किसी विशेष जाति, वर्ण एवं सम्प्रदाय मात्र का न होकर समाज में रहने वाले हर मानव प्राणी का है। वे समानता एवं समरसता के पोषक थे। जाति व्यवस्था एवं उससे उत्पन्न मानव जीवन की जटिलता के वे प्रबल विरोधी थे। उन्हीं के शब्दों में -

1. "जनम जाति कूँ छाड़ि कर करनी जान प्रधान।

   इहयो वेद को धर्म है कहै रविदास परवान।।

2. ब्राह्मण खतरी वेश, सूद्र रविदास जनम ते नाहि।

   जो चाहे सुवरन कऊ, पावइ करमनि मांहि।।

3. जनम जात मत पूछियो, का जात का पांत।

रविदास पूछ समप्रभु के, कोऊ जनि जात कुजात।।

4. जात पांत के फेर महि, उरकि रहइ सब लोग।
मानुषता को खात हई, जात पांत का रोग।।

5. रविदास जात मत पूछहु, का जात का पात।
व्रामन खत्री वैश सूद्र, सभन की एकै जात।।

6. जात-जात में जात है, ज्यों केलन में पात।
रविदास न मानुस जुड़ सके, जौ लौ जात न जात।।[46]

रैदास का मानना है कि मनुष्य सवर्ण परिवार में जन्म लेने से बडा नहीं हो जाता है, ऊँचा होता है वह सत्कर्म एवं सदाचार से-

1. "रविदास जनम के कारने, होत न कोऊ नीच।
नर कूँ नीच करि डारि है, ओछे करम की कींच।।

2. रविदास ब्राह्मन मत पूजिये, जउ होवै गुन हीन।
पूजहिं चरन चंडाल के, जऊ होवै गुन परवीन।।

3. रविदास सुकरमन करन सों, नीच ऊँच है जाय।
करहु कुकरम ऊँच भी, तो महानीच कहलाय।।

4. ऊँचे कुल के कारने, ब्राहमन कोय न होय।
जो जन है बहमन आत्मा, रविदास कहै ब्रहमन होय।।"[47]

कबीर के समान रैदास भी छुआ-छूत के विरोधी थे। वे कहते हैं कि छुआ-छूत मनोरोग है जो मनुष्य की सोंच को संकुचित कर देता है। इसके चक्कर में पड़कर वह अपने मनुष्यत्व को भूल जाता है। यह कुंठा और प्रतिक्रिया वादी दृष्टि को जन्म देता है -

1. "ब्राहमन वेश सूद अरु खत्री, डोम चमार मलेच्छ मन सोई।
होई पुनीत भगवत भजन ते, आपु तारि तारे कुल दोई।।

2. जाकी छोति जगत कउ लागे, तापर तू ही ढरै।
नीचहुँ-ऊँच करे मेरा गोविन्द, काहू ते न डरै।।[48]

वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रति उनकी दृष्टि बहुत स्पष्ट है -

1. "वर्णाश्रम अभिमान तजि, पदरज बन्दहि जास की।

संदेह ग्रंथि खण्डन निपुन, वाणि विमल रैदास की।।"[49]

रैदास परतंत्रता को जीवन के लिए अभिशाप मानते हैं उनके अनुसार परतंत्रता, तानाशाही एवं सामन्ती व्यवस्था की पोषक है। स्वतंत्रता व्यक्ति के अन्दर आत्मबल तो जगाती ही है जीने की ललक एवं कुछ करने की जिज्ञासा भी पैदा करती है। पराधीनता, दासत्व बोध को विस्तारित करती है -

1. "पराधीनता पाप है, जान लेहु रेमीत।

रविदास दास प्राधीन सों, कौन करे है प्रीति।।

2. पराधीन को दीन क्या, पराधीन बै दीन।

रविदास दास प्राधीन को, सबहीं समझै हीन।।[50]

भक्ति के सम्बन्ध में उनका कहना है कि इसका सम्बन्ध न तो मन्दिर से है और न ही मस्जिद से। इसका सीधा सरोकार मन के समर्पण से है। हिन्दू-मुस्लिम सब भाई-भाई हैं, क्योंकि वे मनुष्य पहले हैं बाकी सब बाद में। सभी धर्मों में मानव धर्म, सहज-धर्म सर्वोपरि है -

1. "मस्जिद सो कुछ घिन नहीं, मन्दिर सो नहि प्यार।

जेहि मंह अल्लह राम नहिं, कहि रविदास चमार।।

2. मुसलमान सो दोस्ती, हिन्दुअन सो कर प्रीति।

रवि जात जोति सब राम की, समझै अपने मीत।

3. रविदास कंगन अरू कनक मंह, जिमे कछु अन्तर नाहि।

तैसऊ ही अन्तर नहीं, हिन्दुअन तुरकन माँहि।।"[51]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि रैदास के काव्य में वे सभी बातें सन्निहित हैं जो दलित हित में हैं, और भविष्य में दलित चेतना को विकसित करने में खाद और पानी का काम की है। उन्हें जीवन, जगत औरसमाज का बड़ा कटु अनुभव था। वे समस्याओं के निराकरण में विश्वास रखते थे। जन्म में नहीं। सहज जीवन, सहज सोंच, सहज धर्म और सहज मानव का सम्पूर्ण रूप उनके व्यक्तित्व में है। मानव हित उनका दर्शन था तो प्रेम प्रसाद उनकी भक्ति।

दादूदयाल :

दादूदयाल-कबीर के मार्ग के अनुगामी होते हुए भी वह नहीं थे जो कबीरदास थे। उन्होंने अपना

एक अलग पंथ चलाया जो -"दादू पंथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अन्य सन्त कवियों की तरह दादू का भी समाज के निचले स्तर से आविर्भाव हुआ था पर सामाजिक व्यवस्था पर जैसा तीखा प्रहार कबीर ने किया था वैसा दादू ने नहीं किया। हजारी प्रसाद द्विवेदी का विचार है - "दादू ने परम्परा समागत ऊँच-नीच विधान के लिए उत्तरदायी समझी जाने वाली जातियों पर उस तीव्रता के साथ आक्रमण नहीं किया जिसके साथ कबीर ने किया था। ..... सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक रूढ़ियों और साधना सम्बन्धी मिथ्याचारों पर आघात करते समय दादू कभी उग्र नहीं होते। अपनी बात कहते समय वे बहुत नम्र और प्रीत दिखते हैं।"[52] दादू ने दलित-दर्शन से सम्बन्धित जो बातें कही है वे इस प्रकार हैं -

1. "दादू पूछे देव कौन तुम जाति कहावै?
2. आये एक कार सब, साँई दिये पठाइ।
   दादू न्यारे नाम धरि,भिन्न-भिन्न हवे जाइ।।
3. दादू न हम हिन्दू होइगे, ना हम मुसलमान।
   पदर्शन में हम नहीं हम राते रहिमान।।

सुन्दरदास :

दादूदयाल के शिष्यों में सुन्दरदास सर्वाधिक शास्त्रीय ज्ञान सम्पन्न महात्मा थें। देश-देशान्तर का उन्होंने भ्रमण किया था। इसलिए उनका अनुभव अधिक था। उनके साहित्य में दलित चेतना के निम्न छन्द प्राप्त होते हैं -

1. "वैसे ही सुन्दर ऊँच-नीच मध्य एक ब्रहम।
   देह भेद देखि भिन्न-भिन्न नाम धारयो हो।।
2. ना हौ कुल गौत्र का मानी, न वर्ण और आश्रम।
   प्रभु जिस सब स्वरूप उसका सब कामों का क्रम।
3. प्रीतिकी रीति कछु नहिं राखत,
   जाति न पांति नहीं कुल गोरा।
   प्रेम को नेम कहूँ नहिं दीसत,
   लाज न कन लगयो बस खहरो।।"[54]

इन सन्त कवियों के अतिरिक्त और भी कई सन्त कवि हैं जिन्होंने दलितों के सम्बन्ध में अपने विचार रखे हैं पर उनमें क्रमबद्धता नहीं है। समय की आवश्यकता के अनुसार वे शब्द जनहित में फूट पड़े हैं -

सन्तरज्जव :

1. "विदुर वांदर वंस सै सो भक्ति न छोड़े।
   नींच-ऊँच देखे नहीं, मुनि माने मोड़े।
2. कुल मरजाद मैण सब भागी बैठा माठी नेरा।
   जाति पांति कछु समझै नहीं किसकूँ करे परेरा।
3. प्रेम प्रीति हित नेह कूँ, रज्जव दुविधा नाहि।
   सेवक स्वामी एक है, आये इस घर माँहि।।"[55]

गुरुनानक :

1. "एक बूंद एक मल मूतर, एक चाम अरू गूदा।
   एक ज्योंति से सब ही जनमै को बाहमन को सूदा।
2. नीचा अन्दरि नीच जाति, नीची हू अति नीच।
   नानक जिनके संग साथ, बड़िया सीधु किया रीस।"[56]

रामदास :

"रविदास चमार उस्तति करि हरि की रीति निमिख इक गाई
पतित जाति उत्तम भया, चरि वरन पये पगि आई।।"[57]

गुरु अर्जुन देव :

"वरनि जाति चिहुन नाहि कोई
सब हक से सृसटि उपाइदा।।"[58]

गुरु अमरदास :

1. "जिये लेखा माँगीए, तिथदेह जाति न जाई।
2. बिन नावे सब नीच जाति है, विसटा कीड़ा होइूँ।"

मलूकदास :

"अवधू क्रा कहि तोहि वखानो

गगन पंडल में अनहद बोले, जाति वरन ना जानो।"[59]

प्रेमाश्रयी काव्य धारा :

सूफी प्रेमकाव्य कोमल हृदय की सुन्दर एवं सरस अभिव्यक्ति है। इस काव्यधारा के कवियों ने प्रेमाख्यानों द्वारा हिन्दू मुस्लिम हृदयों के अजनवीपन को मनोवैज्ञानिक ढंग से दूर किया और साथ-साथ खण्डनात्मकता के स्थान पर हिन्दू मुस्लिम संस्कृतियों का सामंजस्य प्रस्तुत किया। सूफी संतो ने काव्य हेतु जो कथानक चुने हैं उनमें से अधिकांश हिन्दू राज घरानों की हैं। इनमें संतकवियों की तरह न तो जन सामान्य की अनुभूति है और न ही पीड़ा एवं वेदना ही। वे सांस्कृतिक समन्वय की बात तो करते हैं पर व्यक्ति का व्यक्ति, समाज और राष्ट्र से कैसे संतुलन एवं सामन्जस्य बने, इस पर वे मौन हैं। समाज की जाति व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था कैसी हो, छूत-अछूत की भावना कैसे समाप्त हो, सामन्ती व्यवस्था की परतंत्रता से आम आदमी कैसे मुक्ति पाये, मानव जीवन से जुड़े ऐसे अनेक प्रश्नों पर वे कुछ नहीं कहते। अधिकांश दलित लेखकों का मानना है कि प्रेमाख्यानों में दलितों के सम्बन्ध में सीधे कुछ भी नहीं कहा गया है, रहस्यवाद के बीच में कहीं कोई रहस्य छिपा हो तो अलग बात है।

2. सगुण काव्य धारा में दलित चेतना का स्वरूप :

वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया में एक ही साथ दो धर्मों का उदय हुआ-बौद्ध धर्म तथा वैष्णव धर्म। ये दोनों धर्म अहिंसा, उदारता और सदाचार की भावनाओं को लेकर खड़े हुए। बौद्ध धर्म आत्मशुद्धि के प्रचार में लग गया तो वैष्णव धर्म ने भगवान की भक्ति का आश्रय लिया। आगे चलकर इसी वैष्णव धर्म में अवतारवाद की भावना ने अपना स्थान बना लिया। बाद में विष्णु के दो रूप राम और कृष्ण माने जाने लगे। कालान्तर में भक्ति की यही धारा हिन्दी साहित्य में नवीन जीवनदायिनी के रूप में प्रकट हुई। यह काव्य धारा दो रूपों में विकसित हुई- 1. रामकाव्य धारा, 2. कृष्ण काव्य धारा। भारत में भक्ति का विकास यदि भारतीय चिन्ता धारा का स्वाभाविक क्रमिक विकास है तो भक्ति आन्दोलन के अन्तर्गत रामकाव्य धारा विराट भारतीय सांस्कृतिक चेतना का समन्वित रूप है। डॉ0 रामविलास शर्मा का मानना है कि "गोस्वामी तुलसीदास भक्ति आन्दोलन के निर्माता हैं और हिन्दी

रामकाव्य धारा के प्रणेता हैं।"[60] डॉ० गियर्सन के अनुसार बुद्धदेव के बाद भारत में सबसे बड़े लोक नायक तुलसी थे।[61] भारतीय धर्म भूमि पर तुलसीदास के पदार्पण को साहित्यिक घटना के साथ-साथ सांस्कृतिक घटना के रूप में भी देखा जाना चाहिए। उनके काव्य में प्रेम, भक्ति और ज्ञान की त्रिवेणी बहती मिलती है। उनकी दृष्टि इतनी गम्भीर और व्यापक थी कि जाति, वर्ण सम्प्रदाय, ऊँचनीच का भेदभाव आदि की संकीर्ण जटिलताओं तक ही सीमित नही रही। उस विराट दृष्टि में 'सुरसरि सम सबकै हित होई' का भाव था। उनके काव्य का प्रयोजन महान था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते हुए लिखा है - "लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके। क्योंकि भारतीय जनता में नाना प्रकार की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ साधनाएं जातियाँ आचार निष्ठा और विचार पद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयवादी थे। गीता में समन्वय की चेष्टा है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे।"[62] तुलसीदास ने अपने समय की परिस्थितियों का अध्ययन कर पथभ्रष्ट भटकती हुई आदर्शच्युत जनता का मार्गदर्शन तो किया ही घातक मान्यताओं का तिरस्कार कर विरोधी मान्यताओं और विचार पद्धतियों में समन्वय भी स्थापित किया।

तुलसीदास ने राम के शक्ति, शील और सौन्दर्य समन्वित रूप की स्थापना कर यवन अत्याचारी शासकों से भयक्रान्त हिन्दू जनता को ढाढस बंधाया और संबल प्रदान किया। उन्होंने शोषण का, चाहे वह किसी भी प्रकार का हो कट्टर विरोध किया-

'तुलसी जगजीवन अहित, कतहु कोउ हित जानि
सोषक भानु कुषान महि, भवन एक घन दानि।"[63]

राजनीति के क्षेत्र में 'राम राज्य' की परिकल्पना के पीछे उनका उद्देश्य था कि शासक को अत्याचारी और दुराचारी नहीं होना चाहिए। शासक अथवा राजा समाज रूपी परिवार का ही एक सदस्य होता है। उसका धर्म, प्रजा का पालन, रक्षा तथा सुख समृद्धि का रक्षक होना चाहिए। राम राज्य-राज तंत्र नहीं बल्कि प्रजातंत्र का प्राचीन रूप है -

1. "सब नर करहिं परस्पर प्रीती, चलहिं स्व धर्म निरत श्रुति नीती।"

× × × × ×

जो अनीति कछु भाखौ भाई, तौ मोहि वरजेहु मय विसराई।

2. मुखिया मुंख सो चाहिए, खान-पान सों एक।

पालइ पोषइ, सकल अंग, तुलसी सहित विवेक।।"[64]

तुलसीदास का मानना है कि सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित रखने एवं समरसता लाने के लिए कर्तव्यानुसार भारतीय आर्य संस्कृति में वर्णाश्रम धर्म की स्थापना की गयी-

'वर्णाश्रम निज-निज धरम, निरत वेद पथ लोग।'

तुलसीदास के ऊपर ब्राह्मवादी व्यवस्था के पोषक होने का आरोप अक्सर लगाया जाता है। काक भुसुंडि के मुख से शूद्र जन्म की बात कहलवाकर उन्होंने जाति पांति के भेदभाव को समाप्त करने का प्रयास किया है -

"एक बार हरि मन्दिर जपत रहेउ शिव नाम।'[65]

तुलसी निश्चय ही व्यक्तिवाद के विरोधी तथा लोकवाद के समर्थक थे। जो लोग उन्हें नारी निन्दक मानते हैं शायद वे भूल जाते हैं कि तुलसी ने निन्दनीय कर्मों के लिए पुरुषों की भी निन्दा की है और प्रशंसनीय बातों के लिए स्त्रियों की प्रशंसा की है। अपनी पत्नी रत्नावली की प्रशंसा में उन्होंने लिखा है-

"हम तो चाखा प्रेम रस, पतिनी के उपदेश।'[66]

तुलसीदास संत थे इसलिए जातिवादी हो नहीं सकते। आखिर उस विरक्त महात्मा को जाति विशेष से लगाव एवं दुराव क्यों होगा? वे तो राम के भक्त हैं इस लिए उन्हें राम भक्त ही सबसे अधिक प्रिय हैं -

1. "जाके प्रिय न राम वैदेही।
   सो छाड़िये कोटि बैरी सम, जद्यपि परम स्नेही।"[67]
2. "तुलसी भगत सुपच भलो, भजे रैन दिन राम।
   ऊचों कुल केहि काम को, जहाँ न हरि को नम।।
3. जाति पांति कुल धर्म बड़ाई, धन बल परिजन गुन चतुराई
   भगति हीन नर सोहे कैसा, विन जलवारिद सोहै जैसा।"[68]

दरिद्रता दलित जीवन के लिए अभिशाप है। समाज का हर जन सामान्य वर्ग किसी न किसी रूप में हर काल में दलित-शोषित रहा है। भारत की अधिकांश जनसंख्या कृषि पर आधारित रही है इसलिए गंभीरतापूर्वक चिन्तन किया जाये तो किसान वर्ग में सबसे अधिक दलित है। डॉ0 रामविलास

शर्मा तुलसीदास की वाणी को मूलतः पीड़ित कृषक जनता की वाणी मानते हैं।[69]

कविता वली में कृषक एवं अन्य लोगों के उत्पीड़न के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है -

1. "किसवी, किसान-कुल, वनिक, भिखारी, भाँट,
   चाकर, चपल, नट, चोर चार, चेटकी।
   पेट को पढ़त, गुनगढ़त, चढ़त गिरि,
   अटत गहन वन अहन अखेट की।।
   ऊँचे-नीचे करम, धरम, अधरम, करि,
   पेट ही को पचत, बेंचत बेटा-बेटकी।
   तुलसी बुझाइ एक राम घनश्याम ही तें,
   आगि बड़वागि तें बड़ी है आगि पेट की।"[70]

2. "खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि
   बनिक को वनिज न चाकर को चाकरी
   दारिद दसानन दवाई दुनी दीन-बंधु,
   दुरित दहन देखि, तुलसी हहा करी।[71]

तुलसीदास ने यहाँ 'दरिद्रता' को रावण की संज्ञा दी है जो संसार के हर प्राणी को अपने चंगुल में दबाये हुए है। पेट की भूंख में हर अग्नि से कहीं अधिक लपट होती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि तुलसीदास मानवीय करुणा के अन्यतम् कवि हैं। उनके राम दलितों के रक्षक है एवं दीनबंधु भी - 'सवरी, गीध, सुसेवकनि, सुगति कीन्ह रघुनाथ।' निषाद राज जो सामाजिक दृष्टि से परिव्यक्त अन्त्यज है, राम के लिए भरत सम भ्राता हैं। बनवासी कोल किरात राम के दर्शन से प्रसन्न होते हैं। आभीर जवन, किरात खस स्वपचादि सभी राम के स्मरण से मोक्ष लाभ करते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि तुलसी का काव्य लोक संस्कृति का रक्षक एवं लोक मंगल दोनों है। इसमें देश-विदेश की कोटि-कोटि जनत की व्यथा, प्रतिरोध भावना और सुखी जीवन की आकांक्ष का भी भाव है।

तुलसीदास के अतिरिक्त भक्तिकाल की रामकाव्य धारा में और जिन भक्त कवियों ने थोड़ा-बहुत लिखा वह तुलसी के विचार और मूल्यों के नीचे दब सा गया। पर उसके महत्व को नकारना

न्याय संगत नहीं होगा।

कृष्ण काव्य धारा :

भक्ति काल के अन्तर्गत कृष्ण काव्य धारा का एक विशिष्ट स्थान है। पावन ब्रजभूमि को अपनी अनन्त बाल लीलाओं से तीर्थ धाम बना देने वाले कृष्ण का लोकरंजक रूप समाज के हर वर्ग एवं जाति के लिए पूज्यनीय तथा बन्दनीय है। अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का जो वर्णन किया है उसने जनमानस में भक्ति के साथ-साथ जीवन के हर पहलू को छुआ है। कृष्ण काव्य धारा में दलित चेतना के सम्बन्ध में अलग से विस्तार पूर्वक कुछ नहीं कहा गया है, फिर भी प्रसंगानुसार कुछ छन्द अवश्य मिल जाते हैं।

जैसे- 1. "खेलन में को काकौ गुसैया।

2. जाति, गोत, कुल नाम गनत नहि, रंग होइके रानो।

3. जाति पांति कुल कानि न मानत, वेद पुरानन साखी।

4. जाति न काहू की प्रभु जानत, भक्ति भाव हरि जग जुग मानत।

5. व्यास जाति तजि भक्ति कर, कहत भागवत टेरि।
जातिहिं भक्तिहिं नहि वने, ज्यों केरा ढिंग वेरि।।"[72]

सूरदास मूलतः भक्त थे और भक्ति का प्रचार-प्रसार उनका कार्य क्षेत्र था। इसलिए समाज सुधारक का रूप उनमें देखने को कम मिलता है।

कृष्ण भक्त कवि ओरछा निवासी हरिराम व्यास के काव्य में नाम मात्र के कुछ छन्द ऐसे प्राप्त होते हैं जिनमें दलित चेतना सम्बन्धी भाव एवं विचार उपलब्ध हैं-

1. "मुहरे मेवा अनत की मिथ्या भोग विलास।
वृन्दावन के स्वपच की जूठिन खइये व्यास।

2. भक्ति में कहा जनेऊ जाति

3. व्यास बड़ाई छाड़िके हरि चरनन चित जोरि।
एक भक्त रैदास पर, वारौ ब्राहमनि कोरि।"[73]

भक्त ध्रुवदास ने जाति का बन्धन भक्त के लिए अनावश्यक माना है -

'तहाँ जाति नहि कुल विचार, कौन सु उत्तम गंवार

सार भजन हरिवंश के।"[74]

समग्र भक्ति साहित्य का दलित चेतना की कसौटी पर जब हम मूल्यांकन करते हैं तो संत काव्य धारा में दलितों के सम्बन्ध में सबसे अधिक विचार बिन्दु प्राप्त होते हैं। विद्वान लोग इसका प्रमुख कारण सन्तो का दलित जातियों में उत्पन्न होना माना है। इन सन्तों ने दलितों का जीवन भोगा भी है।

3. रीतिकालीन काव्य में दलित चेतना का स्वर :

रीतिकालीन साहित्य की सृष्टि सामंतीय वातावरण में हुई। उस समय के अधिकांश कवि किसी न किसी राज दरबार से सम्बद्ध थे, इसलिए उनसे 'स्वान्त सुखाय और बहुजन हिताय, साहित्य की आशा नहीं की जा सकती है। रीतिकालीन कवियों की वाणी में सूर, तुलसी और कबीर जैसी तनमयता, सात्विकता एवं उदात्त चेतना नहीं है। उनकी समस्त अन्तस्चेतना सुरा-सुन्दरी और सुराही के इर्द-गिर्द चक्कर लगाती रही। दरबारी वेश्यायों और रक्षिताओं के मणि मंजीर की मधुर ध्वनि को छोड़कर उस काल का अधिकांश कवि जनकोलाहल को सुनने के लिए कभी आतुर नहीं हुआ। भाव सौन्दर्य की अपेक्षा उसे रूप सौन्दर्य अधिक आकर्षित करता रहा। उसे नारी का वाह्य स्वरूप तो अच्छा लगा, पर उसकी आन्तरिक पीड़ा दुख, दर्द, घुटन और पराधीनता का उसे बोध नहीं हो सका। इसीलिए रीतिकालीन काव्य हिन्दी साहित्य और उसके पाठक के बीच में अपना महत्वपूर्ण स्थान नहीं बना पाया। 'देव' कवि के साहित्य में एक स्थान पर दलितों के सन्दर्भ में संकेत मिलता है -

"है उपजे रजबीजुहि ते बिनसे, हूँ सबे छिति छाँड़ के छांड़े।
एक से देखु कंछू न विसेसि, ज्यों एक उन्हें कुम्हार के माड़े।
तापर ऊँच और नीच विचारि, वृथा वकवाद बढ़ावत चाँड़े।
वेदनि मूँदि किये इन दुंद, कि सूद अपावन पावन पाड़ै।[75]

बिहारी ने धार्मिक कर्मकाण्ड एवं वाह्य आडम्बर के सम्बन्ध में लिखा है-

1. "जपमाला छापा तिलक सरै न एकौ काम
   मन काँचे नाचै वृथा साँचै राचै राम।
2. तथि तीरथ हरि राधिका तन दुति कर अनुराग।
   जिहि ब्रज केलि निकुंज मग पग-पग होत प्रयाग।

3. स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा देखि विहंगि विचार।

बाज पराये पानि परि तू पच्छी न मारि।"[76]

यहाँ हमें यह कहने में कोई संकोच नही है कि रीति काव्य में दलित चेतना सम्बन्धी छन्द नाम मात्र है।

(ग) 'नवजागरण कालीन काव्य में दलित चेतना का स्वरूप':

1. आर्यसमाज का दलित लेखन पर प्रभाव :

भारत में अंग्रेजों का शासन हो जाने के बाद भारतीय राजनीति एवं सामाजिक व्यवस्था पर मुख्य रूप से दो प्रकार का प्रभाव पड़ा -

1. राजनीतिक एवं प्रशासनिक दृष्टि से हिन्दुस्तान गुलाम हो गया।
2. सामाजिक दृष्टि से विकास की नयी-नयी सम्भावनाएं बढ़ी।

अंग्रेजी सत्ता के दृढ़ हो जाने के बाद अंग्रेज शासकों ने यह महसूस किया कि सत्ता के स्थायित्व के लिए यहाँ की प्राचीन व्यवस्था में कुछ मूल परिवर्तन करना अति आवश्यक है। वे जानते थे कि हम यहाँ तब तक पूर्ण रूपेण सफल नहीं हो पायेंगे जब तक यहाँ कि शिक्षा व्यवस्था को नही बदलेंगे। इसीलिए उन्होंने सर्वप्रथम अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार-प्रसार हेतु नये-नये शिक्षा संस्थान खोले। आर्थिक विकास हेतु नये कलकारखानों की स्थापना की। रेल व्यवस्था में सुधार लाया, परिवहन व्यवस्था हेतु सड़कों का निर्माण कराया। पर इस सबके मूल में भारत हित कम उनका अपना हित सर्वोपरि था। यह बात दूसरी है कि विकास की यह योजनाएं आगे चलकर अंग्रेजी शासन के लिए घातक सिद्ध हुई। अंग्रेजों ने अंग्रेजी शिक्षा का विकास भारतीय मानसिकता को बदलने एवं शासन व्यवस्था में सुधार लाने हेतु किया। पर हमारे यहाँ के कुछ प्रबुद्ध मनीषियों ने अंग्रेजी शिक्षा का खूब लाभ उठाया। अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन कर उन्होंने यह जाना समझा कि नकारात्मक सत्ता एवं सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध कैसे संगठित होकर क्रान्ति एवं चेतना के बीज बोये जाने चाहिए। क्योंकि इसके पहले पाश्चात्य देशों में पुनर्जागरण के लिए आन्दोलन हो चुका था। राजाराम मोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द एवं स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि मनीषियों ने सत्ता एवं व्यवस्था परिवर्तन हेतु अत्यधिक महत्वपूर्ण कार्य किये। इनके द्वारा भारतीय जनमानस में चतुर्दिक नव जागरण का संदेश पहुँचाते ही संगठन एवं आन्दोलन की नयी नई संभावनाएं बनी। ये मनीषी यह भी जानते थे कि जब तक दलितों

को नये मूल्यों एवं मानकों से परिचित कराकर जागृत नहीं किया जायेगा तब तक व्यापक परिवर्तन असंभव है। इसलिए सर्वप्रथम इन्होंने आन्तरिक भारतीय सामाजिक व्यवस्था में सुधार लाने पर जोर दिया। राजाराम मोहनराय के नेतृत्व में बंगाल में ब्रह्म समाज द्वारा विधवाओं की दशा सुधारने का जो प्रयास किया गया वह भारतीय सामाजिक परिवर्तन का प्रकाश पुंज बना।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत हिन्दुओं की जाति व्यवस्था सबसे जटिल एवं कठोर व्यवस्था है। इस जाति व्यवस्था से दलित जनता सदैव से पीड़ित होती आ रही है। इसके दुष्प्रभाव से कुछ ने इस्लाम कबूल कर लिया था। अंग्रेजी सत्ता के बाद इसाई मिसनरियों ने दलित जनता के बीच जाकर इसाई धर्म स्वीकार करने के लिए लालायित किया। लोग आकर्षित भी हुए क्योंकि इसाई धर्म में भेद-भाव नहीं था। बहुत सारे दलितों ने इसाई धर्म स्वीकार कर लिया। इसे देखकर प्रबुद्ध हिन्दुओं का चिन्तित होना स्वाभाविक था। वे जानते थे कि इससे भारत का दलित समाज हिन्दू धर्म से आगे चलकर अलग हो सकता है। इन जटिल परिस्थितियों का पूर्वाभास होने के फलस्वरूप स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'आर्य समाज' की स्थापना कर वैदिक धर्म की नये सिरे से व्याख्या की। उन्होंने वेद को अपौरुषेय माना। वेदों में वर्णित वर्ण व्यवस्था की नये मानकों के आधार पर व्याख्या कर उसे लोकोन्मुखी बनाया। जन्माधारित वर्ण व्यवस्था को नकारकर कर्म के आधार पर उसे लोक ग्राह्य बनाया। उन्होंने दलितों के बीच में इस विचार का प्रचार किया कि जन्म से कोई ऊँचा-नीचा नहीं होता। यदि अच्छा कार्य करता है तो कोई किसी जाति में भले ही पैदा होता हो वह कर्म के अनुसार ही सम्मान पाने का अधिकारी है। इसके अलावा स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पाखण्ड, मूर्ति पूजा, भूत प्रेत, बाल-विवाह अवतार वाद का विरोध किया तथा समग्र नारी हित में विधवा विवाह का समर्थन किया। अनेक शिक्षा संस्थानों की स्थापना कर जनमानस को साक्षर करने का उन्होंने संकल्प लिया। वे जानते थे कि शिक्षा के द्वारा ही दलितों का हित हो सकता है। इससे दलित अपने अधिकारों के प्रति संचेत होंगे ही, जीवन जीने का मूल्य भी समझने लगेंगे। उसे धर्म और अधर्म की परख हो जायेगी। कुण्ठा और निराशा के स्थान पर आशावादी दृष्टि का संचार होगा। वह भी समझने लगेगा कि धर्म का अर्थ बाह्य आडम्बर करना नहीं बल्कि लोकवादी दृष्टि का जागरण करना है। स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचारों को आत्मसात करते हुए बाद में पं0 गंगाराम, लाला मुंशीराम, लाला बदरीदास स्वामी श्रृद्धानन्द, गणेश शंकर विद्यार्थी, लाला लाजपत राय जैसे अनेकानेक समाज सुधारकों ने आर्य

समाज के विचारों को आगे बढ़ाया। आर्य समाज का प्रभाव तत्कालीन हिन्दी कवियों पर विशेष रूप से पड़ा। 'वन्दना के स्वर' नामक काव्य ग्रन्थ में कई आर्य समाजी कवियों ने स्वामी दयानन्द के दलित सम्बन्धी दर्शन को कविता के माध्यम से व्यक्त कर दलित चिन्तन धारा को आगे बढ़ाने का प्रयास किया। नाथूराम शर्मा, रूपनारायण पाण्डेय, कुँअर सुखलाल, उमाशंकर वर्मा, जगदीश साधक, धर्मदेव विद्या मार्तण्ड, निरंकार देव सेवक, प्रेम कुमारी ठाकुर, तन्मय बुखारिया, ताराचन्द बेकल, दामोदर स्वरूप विद्रोही, भारतेन्दु नाथ, राम प्रकाश राकेश, अमेठी नरेश रणज्जय सिंह, रामनिवास शर्मा मयंक, राजनारायण आर्य, डॉ0 विष्णु देव शर्मा, डॉ0 सरोजिनी कुलश्रेष्ठ, डॉ0 वीरेन्द्रपाल शर्मा, श्रीपाल सिंह 'क्षेम' और क्षेमचन्द्र 'सुमन' जैसे मनीषियों ने आर्य समाजी सिद्धान्तों को हिन्दी कविता के माध्यम से व्यक्त कर हिन्दी और हिन्दी समाज का उपकार तो किया ही, दलितों को भी समाज की मुख्य धारा से जोड़ने का प्रयास किया। इस मानवीय दृष्टि ने समाज के लोगों को नये सिरे से सोंचने एवं विचारने को विवश किया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के पूर्व भारतीय सामाजिक व्यवस्था बड़ी विषम थी। श्री निरंकार देव सेवक ने उस स्थिति के सम्बन्ध में लिखा है -

"लोग लकीरों के फकीर बन पत्थर पूज रहे थे
ईश्वर की महान सत्ता को विलकुल भूल गये थे
छुआ-छूत का भूत सनातन धर्म बना बैठा था
पाखण्डी समाज में फिरता मन ही मन ऐठा था।
नीच कहे जाने वालों का कुछ अधिकार नहीं था।
मरते दम तक अत्याचारों से उद्धार नहीं था।"[77]

'निश्चित ही सामाजिक व्यवस्था चिन्तनीय थी, इस कथन को नकारा नहीं जा सकता। आर्य समाज से प्रभावित जो कविताएं दलितों को केन्द्र में रखकर लिखी गयी उनकों निम्नलिखित कोटियों या श्रेणियों में रखा जा सकता है -

1. पूर्ण दलित दर्शन की कविताएं
2. जाति पांति के भेद पर आधारित कविताएं
3. छुआ-छूत और भेद-भाव आधारित कविताएं

4. आर्य समाज की प्रशंसा से सम्बद्ध कविताएं

5. स्वामी दयानन्द सरस्वती की प्रशंसा में कविताएं

इन कविताओं में हिन्दू समाज में दलितों की स्थिति और उनके प्रति समाज की धारणा का स्पष्ट दर्शन मिलता है।

1. पूर्ण दलित-दर्शन की कविताएं-

ये वे कविताएं है जिनमें दलितों की सारी जटिलताओं को एक साथ उल्लेखित करने का प्रयास किया गया है। जगदीश साधक एवं उमाशंकर की ऐसी कुछ कविताएं यहाँ दृष्टव्य हैं जो दलितों के हित में लिखी गयीं है :

1. "दुखी जातियों ने दुष्टों की, एक चाल भी नहीं सही।
   दासी बनकर मरने वाली नारी अबला नहीं रही।
   पोपों पण्डों मुल्लाओं की सभी चालें मंद हुई
   मंदिर, मस्जिद, गोरखधन्धों की दुकानें बन्द हुई।
   पूजने वाली अचल मूर्तियों के सिर चकनाचूर हुए
   ऊँच-नीच के छूत-छात के भूत सभी काफूर हुए।"[78]

2. " नारी थी बनी हुई अबला
   मूच्छित सी संस्कृति और कला
   जीवन में सुख का नाम नहीं था, किंचित
   सर्वत्र एक सा आडम्बर
   बहु वर्ण जाति दल में बंटकर,
   वैषम्य व्यवस्था से जन समाज था पीड़ित
   रूढ़ियाँ अन्ध विश्वास प्रबल
   सबको थे बना रहे थे दुर्बल
   था छुआ-छूत का भूत लगा जन-जन को।"[79]

2. जाति-पांति का भेदभाव :

नाथूराम शर्मा 'शंकर' ने 'शंकर सरोज, आर्य समाज अभ्युदय, दयानंदाय और पंचपुकार में

दलितें की दशा और दिशा पर अनेक महत्वपूर्ण कविताएं लिखी हैं, जो दलित चेतना को सशक्त बनाने में सहायक सिद्ध हुई हैं। जाति व्यवस्था एवं उसके पड़े कुप्रभाव पर उनकी एक कविता इस प्रकार है-

1. जांति-पांति के विकट जाल में, जूझे फंसे गंवार।
   मै अब सबको सुलझा दूंगा, करके एका कार।
   इस प्रकार से समझाते हैं, सबको नारायण कृत वेद।
   फिर क्या मेल मानसिकता है कल्पित जाति-पांति भय-भेद।"[80]

रूप नारायण पाण्डेय ने 'सत्यानाश भयो भारत को' नामक कविता के माध्यम से यह एहसास कराने की कोशिश की है कि भारत माँ का हित सबको साथलेकर चलने में है। जाति के नाम पर लड़ने एवं विभेद पैदा करने पर कभी किसी का भला होने वाला नहीं है-

"अपना ही अंग हैं ये अत्यन्त असंख्य इन्हें,
गले न लगाया तो अवश्य पछताओगे।
ममता के मंत्र से विषमता का विष जो,
उतारा नही जाति को तो जीवित न पाओगे
पक्षाघात पीड़ित समाज जो रहेगा पंगु
उन्नति की दौड़ में कहाँ से जीत पावोगे
साधना स्वराज की सफल कभी होगी नहीं
अगर अछूतों को न आप अपनावोगे।"[81]

3.छुआछूत का भेदभाव :

किसी भी समाज का बल वहाँ का जन समुदाय होता है। यदि उनमें भाईचारा का सम्बन्ध है तो बहुत अच्छी बात है नहीं तो समाज टूटकर बिखर जाता है। यह टूटना और बिखरना न तो व्यक्ति के हित में है और न ही समाज के। राष्ट्र की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती -

"सामाजिक बल को लग बैठी, छल की छूत-अछूत।
जलकर जाति-पांति ने तोड़ा, सुख साधन का सूत।
युगाचार से भागना भूल है, अविश्वास ही दुख का मूल है।

डरेगा नहीं, तो किसी पाप से, बचेगा नहीं शोक संताप से

तने-तर्क ताने पुराने रहे, नयी चाल के बोल बाने रहे।

घने जाल-जाली बुना कीजिए, न कोरी कहानी सुना कीजिए।

रचो, ढोंग पाखण्ड छूटे नही, छुआ-छूत का तार टूटे नहीं।

मिले झुंड मे बोल-बोला करे न अंधेरे की पोल खोला करें।"[82]

कुवँर सुखलाल 'मुसाफिर' मानते हैं कि जिन सामर्थ्यवान लोगों को लोककल्याण का कार्य करना चाहिए वे अपने स्वार्थ के लिए समाज को मिटाने पर लगे हैं आखिर यह कैसा न्याय और कैसी व्यवस्था है।

"जिन्हें संसार में संसार का उपकार करना था,

जिन्हें संसार में वैदिक धर्म का विस्तार करना था,

अनाथों और अछूतों का जिन्हें उद्धार करना था,

जिन्हें इस देश और जाति का बेड़ा पार करना था,

उन्हें देखो कि बाहम बरसरे पैकार बैठे हैं,

समाजों को मिटाने के लिए तैयार बैठे हैं।

उठो अब आर्य वीरों फिर से अपना संगठन करके

समाजों को बचाओं फूट से कोई जतन करके।"[83]

नाथूराम शर्मा कहते हैं कि समाज में कोई अछूत नहीं है-

'खुल खेलो रही न रोक, दुविधा दूर भई,

दूर-दूर छुआ-छूत के नारे, हो गये छिन्न-भिन्न हम सारे।"[84]

स्वामी दयानन्द सरस्वती मानव कम महामानव की श्रेणी में अधिक हैं। आर्य समाज कोई संस्था नहीं बल्कि एक ऐसी विचार धारा है जो सब की भलाई को लक्ष्य में रखकर आगे बढ़ती है। धर्म देव विद्या मार्तण्ड ने आर्य समाज की प्रशंसा में लिखा है -

'जाति भेद को दूर भगाता

अस्पृश्यत्व कलंक मिटाता

प्रेम भाव को सदा बढ़ाता

अमर रहे प्रिय आर्य समाज।"[85]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आर्य समाज के आदर्श विचारों का दलित-चेतना एवं लेखन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। जिस व्यथा, पीड़ा घुटन शोषण और संत्रास को लेकर दलित कुंठित था आर्य समाज ने उसे कहने के लिए मंच प्रदान किया।

2. महात्मा गांधी का दलित-दर्शन एवं उसका दलित समाज पर प्रभाव :

संसार में जीवन द्रष्टा एवं समाज स्रष्टा अनेक हुए हैं। जीवन और मृत्यु के बीच अनवरत संघर्ष करते हुए लोक के लिए अपने को बलिदान करने वालों की कमी नहीं। त्याग और तपस्या का वरण करके जिन महापुरुषों ने विश्व समाज को नयी दृष्टि एवं नया जीवन दिया, उन्हीं साधकों में एक साधक सावरमती का संत महात्मा गांधी भी था। हिन्दुस्तान की धरती पर गांधी जी के पदार्पण को एक ऐतिहासिक एवं राजनीतिक घटना के रूप में देखना चाहिए। सत्य और अहिंसा के अस्त्र से वे जीवन पर्यन्त ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जड़ों पर प्रहार करते रहे। इसी के बल पर उन्होंने स्वतंत्रता आन्दोलन को नयी दिशा एवं शक्ति दी। वे जानते थे कि जब तक समाज के हर धर्म और जाति के लोग संगठित होकर स्वाधीनता आन्दोलन से नहीं जुड़ेंगे तब तक अंग्रेजी हुकूमत के चंगुल से भारत माँ को मुक्त करा पाना संभव नहीं है। इसीलिए वे अपनी पद्यात्रा एवं सभाओं के बीच राजनीतिक चर्चा के साथ-साथ सामाजिक विचार भी रखते जाते थे। जनजागृति से सामाजिक चेतना लाने हेतु उन्होंने चार महत्वपूर्ण बातों पर विशेष रूप से जोर दिया।

1. वर्ण व्यवस्था :

गांधी जी ने परम्परागत स्वीकार्य वर्ण व्यवस्था के भाव एवं अर्थ को युग की मांग के अनुसार परिभाषित किया। उनके अनुसार - "वर्ण का अर्थ इतना ही है कि हम सब अपने वंश और परम्परागत काम को केवल जीविका के लिए ही करें वशर्ते कि वह नैतिकता के मूल सिद्धान्तों के विरुद्ध न हो। ..... मेरा विश्वास है कि मनुष्य इस जगत में कुछ स्वाभाविक योग्यताएं लेकर पैदा होता है। इन्हीं के आधार पर वर्ण व्यवस्था का सिद्धान्त बनाया गया है। इसके अनुसार सबको काम करना चाहिए।"[86]

गांधी जी वर्ण धर्म की धारणा में ऊँच-नीच की कल्पना को कोई महत्व नहीं देते - वे कहते हैं - "मेरी समझ में कोई मनुष्य न तो जन्म से और न कर्म से ही बड़ा बन जाता है। मेरा विश्वास

है कि जन्म के समय स्त्री मनुष्य बराबर होते हैं। ..... मेरी राय में दूसरे किसी मनुष्य से श्रेष्ठ होने का दावा करना मनुष्यता को लांछन लगाना है। जो अपनी उच्चता का दावा करता है, वह उसी क्षण मनुष्य होने का अधिकार भी खो देता है।"[87]

2. अस्पृश्यता का विरोध :

गांधी जी अस्पृश्यता को भारतीय समाज के लिए एक कलंक मानते थे। उनका कहना था कि यह एक ऐसा घातक रोग है जो समस्त समाज को नष्ट कर देगा। वे अछूतों को समान राजनीतिक और आर्थिक अधिकार दिलाने के पक्ष में तो थे ही उनके द्वारा सबसे अधिक जोर इस बात पर दिया गया कि अछूतों को भी सवर्ण हिन्दुओं के समान मन्दिर प्रवेश और पूजा आराधना का अधिकार मिलना चाहिए। ऐसा होने से अछूतों में आत्म सम्मान की भावना जाग्रत होगी और उनके प्रति सवर्ण हिन्दुओं का दृष्टिकोण बदलेगा। उन्होंने सवर्ण हिन्दुओं और अछूतों के बीच विवाह सम्बन्ध तथा गोद लेने के सम्बन्ध स्थापित करने पर बल दिया। अछूतों को 'हरिजन' सम्मान प्रद नाम गांधी जी ने ही प्रदान किया था और हरिजनों की स्थिति में सुधार के लिए उन्होंने जितने प्रयत्न किये उतना कम ही लोग कर पाये हैं।

3. साम्प्रदायिक एकता :

सामाजिक क्षेत्र में गांधी जी का एक प्रमुख आदर्श भारत के सभी सम्प्रदायों (हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई और पारसी) को एकता के सूत्र में आबद्ध करना था। उन्होंने साम्प्रदायिकता विशेषकर हिन्दू-मुस्लिम एकता पर जोर दिया और मि0 जिन्ना के द्विराष्ट्र सिद्धान्त' को मानने के लिए कभी तैयार नहीं हुए। उनका कहना था कि धर्म को राष्ट्रीयता का आधार नहीं माना जा सकता। धर्म सदाचार सिखाता है और जीवन जीने की प्रेरणा पैदा करता है।

इसके अतिरिक्त गांधी जी ने स्त्री सुधार एवं बुनियादी शिक्षा पर भी अपने बहुमूल्य विचार समाज के सामने रखे हैं। स्त्रियों के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है - "स्त्रियाँ किसी भी दृष्टि से हीन नहीं होती। कमजोर कहना अन्याय और उनका अपमान करना है।"[88] पर्दा प्रथा, बाल-विवाह और देवदासी प्रथा स्त्रियों के दलित होने की तरफ ही संकेत करते हैं। शिक्षा के सम्बन्ध में वे मानते थे कि समाज के सभी वर्ग और जाति को समान रूप से शिक्षा का अवसर मिलना चाहिए। शिक्षा से दलितों को दूर रखना समाज एवं देश को कमजोर करना है। शिक्षित होने से दलित आर्थिक दृष्टि

से तो सम्पन्न होगा ही, समाज भी वैचारिक दृष्टि से सशक्त होगा।

गांधी जी के दलित-दर्शन का सवर्ण और दलित दोनों पर समान रूप से प्रभाव पड़ा। उनके दर्शन में दलितों को अपने विकास की नयी-नयी संभावनाएं दिखी। सवर्ण जातियों में सबसे बड़ा बदलाव यह आया कि दलितों के प्रति उनके हृदय में सहानुभूति और अपनत्व का भाव जगा। हिन्दी के परवर्ती कवियों ने गांधी जी के वर्ण व्यवस्था एवं अस्पृश्यता सम्बन्धी उदारवादी विचारों को आत्मसात कर रूढ़िवादी मिथक को तोड़ने का प्रयास किया। गांधी जी जनमानस को यह समझाने में सफल रहे कि दलित ईश्वरीय व्यवस्था की देन न होकर सामाजिक व्यवस्था का दुष्परिणाम है। दलितों का इसमें कोई दोष नही है। व्यक्ति का मूल्यांकन जाति से नहीं गुण से करना चाहिए। जिनको हम अछूत मानते हैं वे भी हमारे आपकी तरह मनुष्य है। सुमित्रा नन्दन पंत ने उनके दलित प्रेम के सम्बन्ध में लिखा है -

"सदियों का दैन्य तमिस्र तुम ;
धुन तुमने, कात प्रकाश सूत,
हे नग्न! नग्न पशुता ढक दी
बुन नव संस्कृत मनुजत्व पूत!
जग पीड़ित छूतो से प्रभूत,
छू अमृत स्पर्श से, हे अछूत।
तुमने पावन कर मुक्त किये
मृत संस्कृतियों के विकृत भूत।[89]

घ. भारतेन्दु युगीन कविता में दलित चेतना का स्वर :

आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास में भारतेन्दु युग का विशिष्ट स्थान है। इस युग के लेखकों ने पुनर्जागरण की विकासोन्मुखी प्रवृत्तियों को आत्मसात करके हिन्दी लेखन में नयी चेतना जगायी। राजनीतिक चिन्तक जहां एक ओर पुनर्जागरण के माध्यम से देश में राजनीतिक चेतना जागृत करने हेतु अथक प्रयास में लगे थे तो वहीं दूसरी ओर हिन्दी के शुभचिन्तक हिन्दी के माध्यम से समाज में नव जागरण का शंखनाद कर रहे थे। हिन्दी के प्रख्यात समीक्षक डॉ0 रामविलास शर्मा मानते हैं कि "सन 1857 का स्वाधीनता संग्राम हिन्दी प्रदेश के नव जागरण की पहली मंजिल है। दूसरी मंजिल

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का युग है।"[90] डॉ0 शिवकुमार शर्मा भारतेन्दु युग के लेखकों का अलग ढंग से मूल्यांकन करते हैं। वे कहते हैं - "भारतेन्दु और उसके समकालीन हिन्दी और हिन्दू जाति के उद्धार के लिए आन्दोलन करने वाले देश प्रेमी पत्रकार और प्रचारक ही अधिक थे, काव्य और साहित्यकार कम।"[91]डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी ने डॉ0 शिवकुमार के मत से अपनी असहमति प्रकट करते हुए लिखा है - भारतेन्दु युगीन साहित्य संक्रान्ति कालीन चेतना का रूप है। एक तरफ कवियों का संस्कार परिलक्षित है तो दूसरी तरफ गद्य में उनकी बौद्धिक क्षमता का सशक्त रूप देखने को मिलता है।[92]

मनुष्य की अवधारणा के रूप हिन्दी साहित्य के इतिहास में कई बार बदले हैं। भारतीय एवं पाश्चात्य सांस्कृतिक टकराहट के फलस्वरूप जनमी नव जागरण की संस्कृति ने भारतेन्दु युग में हिन्दी अवधारणा एवं सामाजिक रिश्तों को एक नया स्वरूप प्रदान किया है। हिन्दी के कुछ समीक्षकों का मानना है कि भारतेन्दु युग का जागरण हिन्दू पुनरुत्थान है। डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इसका खण्डन करते हुए लिखा है - "भारतेन्दु युग का जागरण हिन्दू पुनरुत्थान नहीं है"[93] सन् 1884 में बलिया में व्याखान देते हुए एक बार भारतेन्दु जी ने कहा था - "इस महामंत्र का जप करो, जो हिन्दुस्तान मे रहे, चाहे किसी रंग, किसी जाति का क्यों न हो, वह हिन्दू है। हिन्दू की सहायता करो। बंगाली, मराठी, पंजाबी, मद्रासी, वैदिक, जैन, मुसलमान सब एक का हाथ पकड़ो।[94]

भारतेन्दु युग में कई अनेक महत्वपूर्ण लेखकों ने हिन्दी साहित्य की श्री वृद्धि की है पर उनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण नाम भारतेन्दु हरिश्चन्द का ही है। आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता भारतेन्दु का रचना संसार जितना विराट है उतना ही क्रान्तिकारी एवं बहुआयामी भी। उनकी प्रतिभा ने साहित्य की किसी भी विधा को अछूता नहीं छोड़ा। अपने संक्षिप्त जीवन में उन्होंने वह सब कुछ किया जो भारतीय समाज एवं जनमानस के लिए आवश्यक था। उनका कहना था कि समाज के हर वर्ग, जाति एवं सम्प्रदाय के लोगों की प्रगति के बिना देश का भविष्य सशक्त नहीं होगा। अंग्रेजी शासन के अन्याय के विरुद्ध तीखे स्वर में उन्होंने लिखा है -

"अंधा धुंध मच्यौ सब देसा,
मानहु राजा रहत विदेशा।"[95]

मुस्लिम शासकों के टूटते बिखरते राज की अव्यवस्था को देखते अंग्रेजी शासन की नयी व्यवस्था सराहनीय तो थी पर इस तरह का आर्थिक कठोर शोषण इसके पहले कभी नहीं हुआ -

"अंग्रेज राज सुख साज सजे हैं, भारी
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।"[96]

भारतेन्दु जी समता मूलक समाज के पोषक थे। उन्होंने लिखा है - सभी मनुष्य ब्रह्म के अंश हैं न कोई छोटा है और न कोई बड़ा। सभी के जीवन रस स्रोत का स्थान भी एक ही है -

"ऊँच नीच सब एकहि सारा,
मानहुँ ज्ञान ब्रह्म विस्तारा।"[97]

उन्होंने समाज की ऊँच नीच व्यवस्थ पर बडे तीखे व्यंग्य किये हैं -

'ऊँच नीच सब एकहि ऐसे
जैसे भंडुवे पंडित तैसे।"[98]

जाति-पांति के माध्यम से शोषण करने वालों को उन्होंने खूब खरी-खोटी सुनायी है। वे कहते हैं कि जातीय वैमनस्यता से समाज का सत्यानाश हो जायेगा-

"रचि बहु विधि के वाक्य पुरातन मोहि घुसाये
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रकटहि चलाये।।
जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो।
खान पान सम्बन्ध सबन सौ वरजि छुड़ायौ।।[99]

भारतेन्दु जी कहते हैं कि विकलांग मानसिकता वालों ने छुआ-छूत का समाज में जो जहर फैला रखा है, उससे भविष्य संवरने वाला नहीं है। धर्म मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने का कार्य करता है तोड़ने का नहीं। हमें इस घृणित रूढ़ि और आडम्बर से मुक्त होना होगा-

1. "हमारा नाम है सत्यानास, आये हैं राजा के हम पास।
धरके ही लाखों हम भेस, किया चौपट यह सारा देश।
बहुत हमने फैलाये धर्म, बढ़ाया छुआ छूत का कर्म।
होके जयचंद हमने एक बार, खोल ही दिया हिन्द का द्वार।"[100]

2. "अपरस सोला, छूत रचि
भोजन प्रीति छुड़ाय।
किये तीन तेरह सबै,
छौंका चौका लाय।"[101]

भारतेन्दु युग के विद्वान बद्रीनाथ भट्ट ने भी छुआ-छूत की भावना की निन्दा की है। वे कहते हैं कि हे द्विजराज हमे मत छुइयेगा। क्यों कि हम अछूत हैं और आप आर्य जाति के वंशज हैं। आपको तो ईश्वर का दर्जा प्राप्त है -

"हमें न छूना हे द्विजराज।

हम है सूद्र, अछूत, आप हैं आर्य जाति सिरताज।"[102]

भारतेन्दु युग के अन्य लेखकों ने भी दलितों के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये हैं हिन्दी साहित्य के इतिहास में संकेत तो मिलते हैं पर प्रमाण स्वरूप उनकी रचनाएं अनुपलब्ध है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारतेन्दु युग के लेखकों ने दलितों से सहानुभूति रखते हुए लोक सेवा के माध्यम से उन्हें राष्ट्र की नव जागरण धारा से जोड़ने का प्रयास किया। उन्होंने दलितों को समझाया कि पहले विचार बदलते हैं, तब संस्कार उनका अनुसरण करते हैं। दलित समुदाय को समाज की मुख्य धारा से जुड़ने के लिए वैचारिक एवं सांस्कृतिक बदलाव लाना होगा।

च. द्विवेदी युगीन कविता में दलित चेतना का स्वर :

महावीर प्रसाद द्विवदी एवं उनके समकालीन लेखकों का जो महत्व हिन्दी लेखन एवं भाषा परिमार्जन की दृष्टि से है वही महत्व आधुनिक हिन्दी साहित्य में दलित चेतना के विकास की दृष्टि से भी है। डॉ0 रामविलास शर्मा द्विवेदी युग को हिन्दी नव जागरण का तीसरा चरण मानते हैं।"[103] इस युग के सभी लेखक प्रतिभा सम्पन्न विचारक थे, इसलिए इनकी संवेदना का मूल स्वर भाषा एवं समाज का चतुर्मुखी विकास करना था। समाज की हर अच्छी-बुरी गतिविधि से परिचित होने के कारण समाज के विकास में अवरोधक हर उस सामाजिक एवं धार्मिक रुढि का विरोध किया जो संकीर्णता से जकड़ी थी। इनकी मानवीय संवेदना ने इन्हें यह कहने की हिम्मत दी कि -"समाज के नेता तुम्हें बोलने देंगे लेकिन जहाँ तुमने व्यवहार क्षेत्र में पाँव रखा भारतीय समाज को सुधारने चले, वर्ण व्यवस्था में हांथ लगाया, ऊँच नीच का भेद मिटाने की तरफ बढ़े, वही जोरों से विरोध शुरू हो जायेगा। दूसरे शब्दों में सामन्ती समाज व्यवस्था को बदलना सबसे मुश्किल कामं है। सामाजिक कुरीतियों को मिटाना बहुत कठिन हैं धार्मिक अन्ध विश्वासों को निर्मूल करना दुष्कर है।"[104] दलित चेतना का ऐसा सशक्त एवं गम्भीर विचार आधुनिक हिन्दी साहित्य में प्रथम बार प्रत्यक्ष रूप में मुखरित हुआ। महावीर प्रसाद द्विवेदी जिन दिनों सरस्वती पत्रिका के सम्पादक थे, सामाजिक विसंगति से सम्बन्धित एक लेख छापा

था। जिसका सार इस प्रकार है - "इस दुनिया की सृष्टि एक ऐसे ईश्वर ने की है जिसकी कोई जाति नहीं, जो ऊँच नीच का कायल नहीं, जो ब्राह्मण-अब्राह्मण, चाण्डालों और कीड़े मकोड़ों तक में अपनी सत्ता प्रकट करता है। छुआ-छूत के मानने वालों को ऐसे भ्रष्ट ईश्वर का संसार छोड़ देना चाहिए।"[105] द्विवेदी युग के जिन लेखकों ने दलितों से सहानुभूति रखते हुए उनका आत्मबल बढ़ाने एवं स्वाभिमान जगाने हेतु संवेदनशील कविताएं लिखी उनमें अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', ब्रह्मदत्त दीक्षित, राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल, गया प्रसाद शुक्ल 'स्नेही', पं0 माधव शुक्ल आदि का नाम प्रमुख है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी की सामाजिक दृष्टि बहुत व्यापक थी। उनकी दृष्टि में समाज में रहने वाला हर मानव प्राणी समान है। सभ्य समाज वर्गहीन होता है। उन्हीं के शब्दों में - "गण समाज वर्गहीन होता है, वहाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं, राज्य सत्ता द्वारा एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर शासन नहीं, सब लोग मिलकर श्रम करते हैं और अपना-अपना भाग पाते हैं।"[106] उनके अनुसार सामंती व्यवस्था दलितों का शोषण तो करती ही है, समाज का सर्वनाश भी कर देती है - "सामन्ती व्यवस्था में व्यक्तिगत सम्पत्ति है, श्रम विभाजन है, धनी और दरिद्र का भेद है, वर्ण व्यवस्था है, दंड विधान है, स्वर्ग और नरक है।"[107] समाज के शोषक जन समुदाय को यह समझाने की कोशिश करते है कि शोषण और दरिद्रता का कारण वर्ग शासन एवं श्रम विभाजन नहीं है। मनुष्य पापी हो गया है। इसलिए ईश्वर उसे दण्ड दे रहा है। द्विवेदी जी ने इस भ्रांति को दूर करने की कोशिश की। उन्होंने लिखा है - "ईश्वर नहीं संसार ही दुख का कारण है। चूंकि इस दुख का बहुत बड़ा सम्बन्ध वर्ण व्यवस्था से है इसलिए पुरोहित वर्ग ने कहा कि इस व्यवस्था की सृष्टि स्वयं ईश्वर ने की है।"[108] द्विवेदी जी इसे दलितों के साथ हुई, घिनौनी हरकत मानते हैं। सितम्बर 1914 सरस्वती पत्रिका के अंक में पटना के हीरा डोम की कविता 'अछूत की शिकायत' प्रकाशित कर द्विवेदी जी ने दलितों के साथ हो रहे अन्याय का पर्दाफास किया -

"हमनी के राति दिन, दुखवा भोगत वानी
हमनी के सहेवे से मिनती सुना इवि
हमनी के दुख भगवनओ न देखता जे
हमनी के कवले कलेसवा उठा इवि....."[109]

इस कविता मे हर उस वर्ग की आलोचना की गयी है जिसने दलित समाज का हक छीनकर उत्पीड़न किया है। इस कविता में प्रतिरोध का जो स्वर है, शोषण चक्र के भीतरी तंत्र की जो पहचान है, श्रम करने वाले के महत्व का जो ज्ञान है, करुणा और त्याग के साथ आत्म सम्मान की जो भावना है, द्विवेदी जी की दृष्टि में समाज के हर वर्ग को इस पर सहानुभूति पूर्वक विचार करना चाहिए।

खड़ी बोली के संरक्षक और उद्धारक अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने प्रकृति एवं पेड़ पौधे के प्रतीक के माध्यम से यह बताने की कोशिश की है कि समानता में ही समरसता है-

"कन्द मूल फल दीन जनों का जीवन रखते।
हम चाहे दे छोड़ खबर उनकी तुम रखते।।
जाति वर्ण ऊँचे नीचे का भाव न रखकर।
करता हूँ सब पर समान उपकार अतुलवर।"[110]

समाज के जो लोग छुआछूत के नाम पर दलित समाज को छलते हैं, उन्हें हरिऔध जी समझाने की कोशिश करते हैं -

"जो बहुत दुख पा चुके है आज तक।
कम न दुख होगा उन्हे अब दुख दिये।
सब तरह से जो बेचारे हैं दबे
मत उन्हें आंखे दिखाकर देखिये।
× × × × ×
बाहरी जांति-पांति के पचड़े।
भीतरी छूत-छात की साधे।
× × × × ×
आज छुआ-छूत चिंता से छिदे
कौन सी छाती हुई छिलनी नहीं।"[111]

ब्रह्मदत्त दीक्षित हरिजनों को मानव समाज का अभिन्न अंग मानते हैं। उनकी दृष्टि में हरिजन प्रेम के पात्र हैं निरादर के नहीं। हरिजन की सेवा ही ईश्वर की सेवा है अछूतों का निरादर ईश्वर का निरादर है -

"वे पतित, अछूत, अपूत दीन, उनसा है जग में धन्य कौन,

जग का वैषम्य सहा करते वे शांत तपस्वी धीर मौन।

उनकी शबरी से राम बने, उनकी कुबरी से श्याम बने,

अविराम उन्हीं की सेवा से कितने घनश्याम ललाम बने।

उनके हित नारायण नर हो, पृथ्वी तल पर अवतीर्ण हुए,

उनके पद् प्रक्षालन करके, पुरुषोत्तम भव उत्तीर्ण हुए।"[112]

दीक्षित के अनुसार सभी धर्मों में मानव धर्म सर्वश्रेष्ठ हैं, क्योंकि इस धर्म का सम्बन्ध पाखण्ड से नहीं बल्कि मानवीय संवेदना से है, जो दिल को दिल से जोड़ता है -

"जो जितना दीन हीन जग में, उतना ही प्रभु का प्यारा है,

जो इनको दीन हीन रखता, वह स्वार्थी है हत्यारा है।

मानव-मानव संतत समान, सन्तान एक की एक प्राण,

सब का है मानव धर्म एक जीवन के हित सबके समान।[113]

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के संवेदनशील व्यक्तित्व में व्यापकता एवं गहरायी समान रूप से देखने को मिलती है। उनकी रचनाओं में जहाँ एक तरफ राष्ट्रीय जन जागरण का शंखनाद है तो दूसरी तरफ समाज सुधार का संदेश भी है। वे जाति से किसी को ऊँचा-नीचा नहीं मानते। व्यक्ति की जाति उसके गुण-कर्म है।

1. "लिखी नहीं माथे पर जाति

गुण कर्मों से उनकी जाति

उनको दो पद है दो हस्त

सुजातीय हैं मनुज समस्त।

है उत्थान पतन सर्वत्र

हम सब कर्म पवन के पत्र

होंगे पति उच्च भी तत्र।"[114]

व्यक्ति जब भूखा होता है तो जाति पांति गौण हो जाती है। उसे पेट भरने के लिए सिर्फ रोटी चाहिए। धर्म-अधर्म की परिभाषा वह भूल जाता है-

"कुल जाति पांति न चाहिए यह सब रहे या जाय रे
बस एक मुट्ठी अन्न हमको चाहिये अब हाय रे
इस पेट पापी के लिए ही हम विधर्मी बन रहे,
निज धर्म मानस से निकल अघ पंक में है सन रहे।"[115]

समाज जिन दलितों को अछूत कहता है वे कही आसमान से अपने आप टपके नहीं है, वे भी मानव विकास की कहानी है। अतीत के हमारे वंशज हैं। इतिहास के पन्नों में उनकी भी सभ्यता एवं संस्कृति का उल्लेख है। वर्तमान में उन्हें उपेक्षा एवं तिरस्कार की नहीं बल्कि सुसंस्कार एवं शिक्षा की आवश्यकता है -

"जन्म जहाँ चाहे दे देव,
निज वस है गुण कर्म सदैव
पंकज रूप, रंग या गंध
रखत नहीं पंक, सम्बन्ध
करो अछूतो का उद्धार, उन्हें शिखाओं शुद्धाचार।"[116]

गुप्त जी मानते हैं कि दलितों के उत्पीड़न के जिम्मेदार भले ही कुछ लोग हों, पर हम भी उनकी दीन दशा एवं उपेक्षित जीवन के लिए कही न कही दोषी हैं-

"रहो न हे हिन्दू संकीर्ण, न हो स्वयं ही जर्जर जीर्ण।
बढ़ो बढ़ाओ अपनी बाहें, करो अछूत जनों पर छांह।
है समाज के वही सपूत, रखते हैं ज़ो सब को पूत।
इन्हें समाज नीच कहता है पर ये भी तो है प्राणी।
इनमें भी मन और भाव है, किन्तु नहीं वैसी वाणी।"[117]

'जय भारत' नामक रचना में एकलव्य गुरु द्रोणाचार्य से प्रश्न करता है कि हमें शिक्षा से क्यों वंचित रखा गया। हम भी तो ईश्वर के ही अंश है और मनुवंश में जनमे हैं -

"गुरुवर नहीं अराजन्यों में क्या ईश्वर का अंश
और नहीं है क्या उनका भी वही मूल मनुवंश।[118]

रामचन्द्र शुक्ल को कतिपय विद्वान ब्राह्मण वादी संस्कृति का पोषक मानते हैं। बहुतों ने

मनगढ़न्त आरोप लगाकर उन्हें दलित विरोधी सिद्ध करने की कोशिश की। जबकि सत्य यह है कि वे दलितों की संवेदना से पूर्ण रूपेण परिचित थे। उनके लिखी गयी 'अछूत की आह कविता में दलितों का समग्र जीवन दर्शन देखनें को मिलता है। वे दलितों के शुभ चिन्तक और हित रक्षक दोनों थे-

'धर्म हिन्दू का हमें अभिमान है
नित्य लेते नाम है भगवान का
× × × × ×
श्वान छूना भी जिन्हें स्वीकार है।
है उन्हें भी हम अभागों से घृणा।
× × × × ×
हम अछूतों से बताते छूत हैं,
कर्म कोई कुछ करे पर पूत हैं
जो दयानिधि कुछ तुम्हें आये दया।
तो अछूतों की उमड़ती आह का
यह असर होवे कि हिन्दुस्तान में।
पांव जम पाये परस्पर प्यार का"[119]

गांधी जी के अछूतोद्धार के समर्थक माधव शुक्ल ने अछूतों की वेदना का बड़ा ही दर्दनाक चित्रण किया है। दलित अछूत समाज के सामने अपना दुख प्रकट करते हुए कहता है कि स्वराज्य की लड़ायी लड़ने वाले सामर्थ्यवान लोगों मैं भी हिन्दुस्तानी हूँ। मेरी इस दुर्दशा के जिम्मेदार आप ही लोग हैं। जिन्दगी भर अपनी सेवा करायी, जूठन खिलाया, चिथड़े पहनने को विवश किया, जमीन छीनी, छल प्रपंच से जेल भिजवाया, दाने-दाने को मोहताज किया। क्या इतने से अभी संतोष नहीं मिला। मैं तो सेवक हूँ। सेवा करना हमारा धर्म है। शोषण, प्रतिक्रिया ईर्ष्या द्वेष छल प्रपंच घृणा तिरस्कार जैसे शब्द आपकी ही वाणी से निकलते हैं -

"हमको अब पहचानो भाई।
दूर-दूर कर छूत-छूत नित, तुमने हमें दुराये।
खेत छुड़ाये जेल भिजाये, सब विधि हमें सताये।

दिया न हम मरते को दाना, नहीं कूप का पानी।

राम-राम कर हा हा खाये, तुमने एक न मानी।

तुम समर्थ हम रहे अकिंचन, तुम पर्वत हम राई।

किन्तु तुम्हारे दुव्यवहारों से हम, हो गये इसाई।[120]

गया प्रसाद 'स्नेही' का कहना है कि दलितों को सहानुभूति के लिए समाज के लोगों से गिड़गिड़ाना नहीं चाहिए। उन्हें तो सामाजिक दुव्यर्वस्था के ठेकेदारों से सीधे प्रश्न पूंछना चाहिए कि तुम्हारे अन्दर कौन सी ऐसी खासियत है कि आप लोग अमृत हो गये और अछूत दलित कैसे अपूत हो गया? आप कैसे व्यास और वशिष्ट के वंशज हो गये और कैसे बाल्मीकि वंश अछूत हो गया?

"एक ही विधाता के अमृत-पुत्र , एक देश,

कुछ यो अपूत कूछ पूत कैसे हो गये?

सब की नसों में, रक्त एक ही प्रवाहित है,

कुछ देवदूत कुछ भूत कैसे हो गये?

जाने क्या समाई धुन भारत निवासियों को,

होके ब्रहमज्ञानी अवधूत कैसे हो गये?

बन्धु भी वशिष्ठ, व्यास, विदुर, पराशर के

बाल्मीकि वंशज, अछूत कैसे हो गये?[121]

स्नेही जी कहते हैं कि शोषकों ने क्या कभी अपनी निन्दनीय करनी पर विचार किया?

"इनको छूने से डरते हो,

स्वयं कर्म क्या-क्या करते हो

क्या मल-मूत्र नहीं तुम धोते?

सेवक अगर अछूत न होते।

द्विज तुम देव दूत कैसे हो?

कैसे हमें भूत कहते हो?

नेकी का बदला बद देते,

कार्य क्षेत्र में हो विष बोते।"[122]

इतिहास इस बात का साक्षी है कि किसी जाति, वर्ण अथवा वर्ग का स्वरूप एक जैसा नहीं रहा हैं शुक्ल जी मानते हैं कि आने वाला समय दलितों का हितैषी होगा-

"कलि में सतयुग सत्य रूप वर लाने वाले।
समता का संदेश सप्रेम सुनाने वाले।
समता सरि की बाढ़ में ऊँच नीच बह जायेगा।
समतल जल की ही तरह, एक रूप रह जायेगा।"[123]

भगवतीचरण वर्मा मूलतः तो उपन्यासकार हैं पर 'कर्ण' नामक कविता में उन्होंने जाति-पांति की भावना से सम्बन्धित विचार प्रकट किया है। कर्ण कहता है कि मेरी शक्ति ही मेरी पहचान है। धर्म का आचरण करना मेरा संस्कार है -

"मै निष्कलंक मैं निर्भय, मैं अपराजित।
मैं धर्म पर दृढ़ जैसे ध्रुव तारा
मैं कर्ण विश्व में विदित नाम है मेरा
मैं नहीं जानता जाति पांति की कारा।"[124]

वियोगी हरि पूछते हैं कि सभी भारत माँ की कोख में जनमें है तो एक कैसे पूज्य हो गया और दूसरा कैसे अछूत हो गया?-

"गंगा और अछूत दोउ, अच्युत पद संभूत।
एक भयो कैसे पूत, अरु दूजो राह अछूत।[125]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि द्विवेदी युगीन हिन्दी कविता में दलित चेतना का जो स्वर है उसमें शोषण के दर्द के साथ-साथ अन्याय एवं उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष करने का संदेश भी है। दलितों को झूँठी सहानुभूति नहीं, बराबर का हक चाहिए।

छ. छायावाद युगीन कविता में दलित-चेतना का बदलता स्वर :

हिन्दी साहित्य की परम्परा में 'छायावाद' का एक विशिष्ट स्थान है। इसका आविर्भाव द्विवेदी युगीन काव्य धारा की स्थूल बौद्धिकता, इतिवृत्तात्मकता तथा कोरी नैतिकता के प्रति सूक्ष्म की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। लेकिन यह भी सच है कि मात्र प्रतिक्रिया स्वरूप ही इसका जन्म नहीं हुआ अपितु

इसके पीछे सामाजिक एवं साहित्यिक कारण थे। वस्तुतः "छायावाद हमारी विशष सामाजिक और साहित्यिक आवश्यकता से पैदा हुआ और उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसने ऐतिहासिक कार्य किया। समाज और साहित्य को उसने जिस तरह पुरानी रूढ़ियों से मुक्त किया उसी तरह आधुनिक राष्ट्रीय और मानवतावादी भावनाओं की ओर भी प्रेरित किया। व्यक्तित्व की स्वाधीनता, विराट-कल्पना, प्रकृति-साहचर्य, मानव-प्रेम, वैयक्तिक प्रणय, उच्च नैतिक आदर्श, देश भक्ति, राष्ट्रीय स्वाधीनता आदि के प्रसार द्वारा छायावाद ने हिन्दी जाति के जीवन में ऐतिहासिक कार्य किया। कविता के रूप विन्यास को पुरानी संकीर्ण रूढ़ियों से मुक्त करके उसने नवीन अभिव्यंजना प्रणाली के लिए द्वार खोल दिया।"[126] यह सत्य है कि इस युग में व्यक्तिवादी काल्पनिक तथा पलायनवादी भावनाओं की प्रधानता थी लेकिन 'युगान्त' युगवाणी, विधवा, भिक्षुक, वह तोड़ती पत्थर, जागो फिर एक बार, राम की शक्ति पूजा तुलसीदास आदि कविताओं की वस्तुगत यथार्थता को कदापि नजरन्दाज़ नहीं किया जा सकता क्योंकि ये कविताएं छायावाद की यथार्थ सामाजिक दृष्टि को उद्घाटित करने की भरपूर क्षमता रखती है। वस्तुतः "छायावाद ने रीतिकालीन परम्परा से हिन्दी काव्य को मुक्त किया। प्रकृति प्रेम, विश्ववन्धुत्व, नारी के सम्मान की प्रतिष्ठा, अतीत पर गर्व और सामन्ती रूढ़ियों के विरुद्ध व्यक्ति के गौरव की घोषणा जन कल्याण की भावना आदि जैसे भावों से ओत-प्रोत इस काव्य धारा ने जहाँ साहित्य को सशक्त बनाया वही इसकी मानवतावादी चिन्तनधारा ने सर्वहारा वर्ग से अपने को जोड़ते हुए कालजयी बना लिया।"[127]

छायावादी कवियों की रचना धर्मिता में मुख्य रूप से नहीं पर गौड़ रूप में दलितों के प्रति संवेदना के स्वर अवश्य मिलते है। जयशंकर प्रसाद 'कानन-कुसुम' में सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण की कामना तो करते ही हैं, जन सामान्य हित में बाधक, पुरोहितों, मठाधीशों और कर्मकाण्डों की आलोचना भी करते हैं। मन्दिर, मस्जिद, और गिरिजा घर की सीमाओं में विराट सत्ता को बांधना प्रसाद जी उचित नहीं समझते। उनकी दृष्टि में दलित और कुबेर सब एक जैसे हैं क्योंकि दोनों का संरक्षक एक ही ईश्वर है। भेदभाव ईश्वर नहीं मनुष्य अपनी स्वार्थ सिद्धि हेतु करता है -

"जिस मंदिर का द्वार सदा उन्मुक्त रहा है,
जिस मंदिर में रंग नरेश समान रहा है
जिसके हैं आराम प्रकृति कानन ही सारे

जिस मंदिर के दीप इन्दु दिनकर और तारे

उस मंदिर के नाथ को, निरुपम निरुमय स्वस्थ को

नमस्कार मेरा सदा पूरे विश्व गृहस्थ को।"[128]

सुमित्रानन्दन पंत की कविताओं में जहाँ एक तरफ प्रकृति का सुकुमार एवं विराट रूप देखने को मिलता है तो वहीं दूसरी तरफ सृष्टि के समस्त जीवों में श्रेष्ठ मनुष्य की सुन्दरता की उन्होंने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यह समय जहाँ राष्ट्रीय आन्दोलन की दृष्टि से महत्वपूर्ण था वही सामाजिक आन्दोलन की दृष्टि से भी अत्यन्त प्रभावशाली था। इसके पीछे मूलभूत कारण यह था कि पंत निराला जैसे अनेक कवि यह जानते थे कि बिना सामाजिक क्रान्ति के राष्ट्रीय क्रान्ति सफल नहीं होगी। दलितों के प्रति एक विशेष वर्ग के लोगों में जो उपेक्षा का भाव था, पंत जी ने उन्हें समझते हुए कहा -

"भारत मस्तक का कलंक यह

जाति पंक्तियों में जन खण्डित

जहां मनुज अस्पृश्य चरण रज

शब्द रहे वह कैसे जीवित।"[129]

वर्ग और जाति की दुहाई देने वालों मैं तुम से पूछता हूँ कि क्या मानव संस्कृति को विखण्डित कर स्वर्णिम भारत की कल्पना सार्थक होगी। जिन्हें तुम अभिशाप समझते हो उनको अभिशप्त तो हमी आपने किया है। हम और आप से तो अच्छे वे पक्षी समूह हैं तो स्वतंत्र भाव से बिना किसी का अहित किए हुए एक दूसरे के साथ रहते हैं -

"आज मानवी संस्कृतियाँ हैं वर्ग चयन से पीड़ित,

पुष्प, पक्षियों सी वे अपने ही विकास में सीमित।

इस विशाल जन जीवन के जग से हो जाति विभाजित।

व्यापक मनुष्यत्व से वे सब आज हो रही वंचित।"[130]

अर्थ की लोलुपता ने मानव को इतना स्वार्थी बना रखा है कि वह यह भूल गया है कि मनुष्य का धर्म दूसरों की सेवा करना है। जातीय संकीर्णता पतितोन्मुखी होती है -

"जाति, वर्ण वर्गों में मानव जाति विभाजित,

अर्थ शक्ति से रक्त प्राण जन गण के शोषित।"[131]

पंत जी जानते थे कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता के साथ-साथ सामाजिक स्वतंत्रता भी आवश्यक है। पर उनको इस बात का संदेह है कि जाति, धर्म एवं सम्प्रदाय में वंटा भारतीय समाज क्या एकरूपता को जल्दी स्वीकार कर लेगा। दलित जो सदियों से शोषित और उपेक्षित हैं उनको समाज के ठेकेदार लोग क्या अपने बीच में स्वीकारने के लिए तैयार हो जायेंगे। हित तो दलितों को मुख्य धारा में जोड़ने से ही है, अन्यथा राजनीतिक चेतना से जब क्रिया की प्रतिक्रिया होगी तो बड़ी भयावनी होगी।

कालजयी निराला का तो कहना ही क्या है। न यश की कामना और न धन का लोभ। जाति का बन्धन भी उन्हें नहीं बांध पाया। सरोज स्मृति में कान्यकुब्ज ब्राह्मणों की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा है -

'ये कान्यकुब्ज कुल कुलांगार
खाकर पत्तल मे करे छेद।"[132]

'तुलसीदास' कविता में वे कहते हैं - जैसे सूर्य को राहु ने ग्रस लिया हो और उसकी आभा मंद पड़ जाय, वैसे ही संस्कारों की छाया में देश काल बंधा हुआ है। देश में छोटे-छोटे सम्प्रदाय मत मतांतर परस्पर संघर्ष में लगे हैं। वर्ण व्यवस्था विश्रृंखल हो गयी है। क्षत्रिय, रक्षा नहीं कर सकते ब्राह्मण चाटुकार हो गये हैं। शूद्र वर्ण व्यवस्था के चरण बनकर दूसरे वर्गों को ऊँचा उठाये हैं। इसके बदले उन्हें अपमान मिलता है। आखिर यह विषमता एवं विसंगति कब तक चलेगी-

"चलते-फिरते पर निस्सहाय,
वे दीन क्षीर्ण कंकाल काय,
आशा-केवल जीवनोपाय उर-उर में
रण के अश्वों से शस्य सकल
दल मल जाते ज्यों दल के दल
शूद्र गण क्षुद्र जीवन-संवल पुर-पुर में
वे शेष-श्वास पशु मूक-भाष
पाते प्रहार अब हताश्वास
सोचते कभी आजन्म ग्रास द्विज गण के
होना ही उनका धर्म परम

वे वर्णाधम, रे द्विज उत्तम

वे चरण-चरण वस वर्णाश्रम रक्षण के।"[133]

निराला ने व्यक्तिगत हित के लिए कभी न ही जिया। उनका सम्पूर्ण जीवन मानव हित के लिए था। दलितों से उन्हें विशेष प्रेम था। दलितों के प्रति उनके हृदय में दर्द एवं वेदना तो थी ही, सहानुभूति और दया का भाव भी था-

दलित जन पर करो करूणा

दीनता पर उतर आये

प्रभु तुम्हारी शक्ति अरूणा

मधुर हो मुख मनो भावना

सहज चितवन पर तरंगित

हो तुम्हारी किरण तरूणा

देख वैभव न हो नत सिर

समुन्नत मन सदा हो स्थिर

पार कर जीवन निरंतर

रहे बहती भक्ति वरुणा।"[134]

निराला जी कहते हैं - "जिस तरह एक ओर प्रकृति वर्णाश्रम धर्म को तोड़ रही है उसी तरह दूसरी ओर वह शूद्र शक्ति भी अभ्युत्थान की तैयारी कर रही है। अधिकार भोग पर मनुष्य मात्र का बराबर दावा है।"[135]

निराला जी 'शूद्र' शब्द को छुद्र का रूपान्तर मानते हैं जो आगे चलकर सूद्र के रूप में प्रचलित हुआ - "यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि शूद्र भी कर्मानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बन सकते हैं। शूद्रों के इस अधिकार पर भारत का भविष्य जातीय संगठन अवलम्बित है। अधिकार के बिना जीवन की कोई व्याख्या नहीं हो सकती।"[136] 'हरिकृष्ण प्रेमी' की सामाजिक सोंच गांधी दर्शन से पूर्णतः प्रभावित रही। प्रेमी जी ने गांधी जी के हरिजनोद्धार आन्दोलन का पूर्ण समर्थन किया। गांधी जी के दलित प्रेम की उन्होंने भूरि-भूरि प्रशंसा की हैं। जिन्हें अस्पृश्य कहा जाता है क्या उन्हें स्वतंत्र सुख भोगने और जीन का अधिकार नहीं है? जब प्रकृति की दृष्टि में कोई भेदभाव नहीं है

तो मनुष्य ऐसा करने को क्यों आतुर रहता है। विभेद पैदा करने की उसकी मनोवृत्ति ने धरती, आसमान, समुद्र, मनुष्य सब को तो उसने बांट दिया। काश ऐसा वह न करता तो क्या मानव जाति का विकास न होता? कदापि नहीं? ऐसा न होता तो शायद सामाजिक समरसता अधिक होती। प्रेमी जी इस सबके मूल में अज्ञानता को दोष देते हैं। ऊँच नीच, जाति-पांति, शोषण, मिथ्याडम्बर अस्पृश्यता जैसी मनोवृत्ति के मूल में प्रेमी जी संकुचित वर्ण व्यवस्था को दोषी मानते हैं। श्रेष्ठ विचार एवं मूल्य विचारों की संकीर्णता को तोड़ते हैं। गांधी जी ने ऐसा ही किया था-

"कर्म कोई है न ऊँचा, कर्म कोई है न नीचा,
उच्च वर्गों के हृदय का कम किया अभिमान तूने।
हरिजनों की बस्तियों में वास करता था स्वयं तू,
न्याय संगत दीन-दलितों को दिया उत्थान तूने।
मंदिरों में ले गया, अस्पृश्यता की जड़ हिला दी,
वेद मंत्रो का सुनाया हरिजनों को गान तूने।
रूढ़ियों को पालना ही, मर्म भोले जन समझते,
मर्म बतला धर्म का सद्धर्म को दी जान तूने।
मानवोचित हरिजनों को फिर दिलाया स्थान तूने।"[137]

सुभद्रा कुमारी चौहान नर-नारी के सामाजिक विभेद से बहुत व्यथित है। पुरुष, प्रधान समाज आखिर जीने के लिए सारे अधिकार क्यो नहीं देता, जो उसने अपने लिए बना रखे है? नारी कोख से ही जन्म लेने वाला नर आखिर नारी को अछूत क्यों मानता है? समाज में उसे उपेक्षा की दृष्टि से क्यो देखा जाता है? मंदिर मे पूजा अर्चना की मनाही क्यो? सामाजिक मर्यादा के नाम पर बंधनों में बांध दिया जाता है। शिक्षा से वंचित रखा जाता है। आखिर ऐसा क्यों है? क्या नारी के सहयोग के बिना नर आगे बढ़ पायेगा। नारी आखिर में दलित क्यो है? प्रभु तुम तो मेरी पीड़ा को समझो-

"मैं अछूत हूँ मंदिर में आने का मुझको अधिकार नहीं है,
किन्तु देवता यह न समझना तुम पर मेरा प्यार नहीं है।
× × × × ×
मुझको भी अधिकार मिले वह जो सबको अधिकार मिला है।

मुझको प्यार मिले जो सबको देव तुम्हारा प्यार मिला है।

तुम सबके भगवान कहो, मंदिर में भेदभाव कैसा?

हे मेरे पाषाण पसीजो बोलो क्यों होता ऐसा।

यह निर्मम समाज का बंधन और अधिक अब सह न सकूंगी,

यह झूंठा विश्वास प्रतिष्ठा, झूठी इसमें रह न सकूंगी

मेरा भी मन हैं, जिसमें अनुराग भरा है प्यार भरा है

जग में कही बरस जाने को, स्नेह और सत्कार भरा है,

तुम कह दो तुमको उनकी इन बातों पर विश्वास नहीं है।

छूत-अछूत धनी-निर्धन का भेद तुम्हारे पास नहीं है।

'सोहनलाल द्विवेदी' की दृष्टि में दलित हित ही राष्ट्रहित है। दलितों और उपेक्षितों को साथ लिए बिना सामाजिक हित की बात करना निरर्थक है। 'युगधार' कविता में वे कहते हैं -

'क्रांतिकारी' कविता में

पद्‌दलितों को मै उकसाती

दलितों को मै पथ दिखलाती।"[139]

द्विवेदी जी का मानना है कि वह दिन दूर नहीं जब नव जागरण चेतना दलितों की झुग्गी-झोपड़ियों तक पहुंचेगी और नव निर्माण की नव संस्कृति का जन्म होगा। भेदभाव के बंधन राजनीतिक विवशता वश टूटेगे, क्योंकि लोकतंत्र में उन्हीं की जय होगी जिनके पास संख्या बल अधिक होगा। दलितों को सहानुभूति पूर्वक अंगीकृत किया जायेगा तो अच्छी बात है अन्यथा आने वाला समय सामंती शोषकों के लिए कल्याणकारी कम कष्टदायक अधिक होगा-

"यहीं ले रहा है, आज अपनी शैशव उठान,

जहाँ नहीं भेद-भाव, जहाँ नहीं है दुराव,

जाति-वर्ग-धर्म का जहां नहीं है प्रभाव।

यहाँ नहीं कोई कही अछूत। मानव है सभी पूत,

विश्व कोलाहल हलचल महारव

छोर छूकर ग्राम को होता शान्त,

किसका यह तप प्रशान्त?

होके दुरित उनके ताप, पाप, अभिशाप,

किसका यह बल प्रताप। कौन पुण्य श्लोक आप।''[140]

मस्ती और अल्लड़पन से मधु के गीत गाने वाले 'हरिवंश राय बच्चन' का हिन्दी जगत् से सर्वप्रथम परिचय उमर खैय्याम की रूवाइयों के अनुवाद से हुआ। पर बाद में जब वे युग जीवन के घात-प्रतिघात की ऊष्मा से प्रभावित हुए तो सामाजिक जीवन से सरोकार के लिए आतुर हो कह उठे- मनुष्य का जीवन अतीत के बिना अधूरा तथा वर्तमान के प्रति उदासीनता से अपूर्ण है। अतीत उसे संबल प्रदान करता है जब कि वर्तमान उसे गतिशील बनाता है। अतीत में हमारी अनुभूति, हमारा ज्ञान, संस्कृति की गौरवशाली परम्परायें सन्निहित है तो वर्तमान में जीवन की अभिलाषा पूर्ण करने का समग्र साधन उपलब्ध है। संघर्ष हताशा नहीं सार्मथ्य पैदा करता है -

''उद्घाटन नये से पुराने का होता है।

सृजन नये का पुराने से होता है

एहि क्रम कर अथ-इति कहुँ नाहीं।''[141]

'मिट्टी का द्रोणाचार्य' नामक कविता में बच्चन जी की दलित चेतना का यथार्थ रूप देखने को मिलता है। ज्ञान को जातिवाद की सीमा में बांधना अनुचित कार्य है। एकलव्य को शूद्र के नाम पर द्रोणाचार्य के द्वारा शिक्षा न देना दलित समाज का अपमान करना है। द्रोणाचार्य के इस कृत्य से इतिहास पर धब्बा लगा है-

''कुछ नहीं

एकलव्य द्रोणाचार्य की

उस करुण गाथा में

कि जिसको याद कर

अभिगान अपने पूर्वजो पर कर सकूँ मैं,

तीन वर्णों से बहिष्कृत,

उस निषाद सुपुत्र को

जब धनुर्विद्या दान

देने से किया इन्कार

द्रोणाचार्य ने या

कौन जीती थी बड़ाई?

लीक ही पीटी नहीं थी।"[142]

रामकुमार वर्मा के 'एकलव्य काव्य में वर्तमान दलित-दर्शन की जीवन्तता एवं समग्रता देखने को मिलती है। उन्होंने रूढ़िवादी मानसिकता वालों को यह समझाने का प्रयास किया कि कोई व्यक्ति जन्म और जाति से महान नहीं होता बल्कि उसकी महत्ता उसके प्रशस्त गुणों और कर्मों पर आधृत है। जीवन को जीवान्त अथ च ज्वलन्त बनाने के समवायी उपकरण है - त्याग, तपस्या, साधना, लगन और सतत् अध्यवसाय। इन पर किसी व्यक्ति जाति या वर्ग का विशेष अधिकार नहीं है। कोई भी व्यक्ति इन्हें अर्जित कर महामहिम बन सकता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि इस काल में दलितों को केन्द्र में रखकर जो कविताएं लिखी गयी हैं उनमें अतीत का रोना धोना कम भविष्य के प्रति अधिक आसक्ति का भाव है। इनमें नयी संस्कृति का नव उन्मेष तो है ही, भविष्य सुन्दर बनाने के बहुमूल्य सुझाव भी हैं।

सन्दर्भ

1. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्यका इतिहास, पृ0 21
2. वही, पृ0 6
3. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 37
4. वही, पृ0 38
5. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास,पृ0 12
6. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 38
7. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 11
8. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 40
9. वही, पृ0 40
10. वही, पृ0 40
11. वही, पृ0 40
12. वही, पृ0 40
13. रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ0 25
14. हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास, पृ0 36
15. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 47
16. शिवकुमार शर्मा : हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ, पृ0 125
17. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा,पृ0 41
18. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ048
19. वही, पृ0 42
20. वही, पृ0 42-43
21. शिवकुमार शर्मा : हिन्दी साहित्य, युग और प्रवृत्तियाँ, पृ0 144
22. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 44
23. वही, पृ0 44
24. वही, पृ0 44

25. वही, पृ0 45

26. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 1

27. वही, पृ0 1

28. वही, पृ053

29. हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास,पृ0 70

30. अशोक प्रभाकर कामत : महाराष्ट्र के नाथ पंथीय कवियों का हिन्दी काव्य, पृ0 327

31. राजदेव सिंह : निर्गुण रामभक्ति और दलित जातियाँ, पृ0 31

32. हजारी प्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ0 10

33. श्याम सुन्दर दास : कबीर ग्रंथावली, पृ0 35

34. वही, पृ0 35

35. वही, पृ0 36

36. वही,पृ0 36

37. वही, पृ0 36

38. वही, पृ0 36

39. वही, पृ0 31

40. वही, पृ0 32

41. वही, पृ0 30

42. वही, पृ0 40

43. शिव कुमार शर्मा : हिन्दी साहित्य, युग और प्रवृत्तियाँ, पृ0 153

44. हजारी प्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ0 15

45. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 50

46. वही, पृ0 50-51

47. वही, पृ0 50-51

48. वही, पृ0 50-51

49. वही, पृ0 52

50. वही, पृ0 52

51. वही, पृ0 51

52. हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ0 99

53. माता प्रसद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 52-53

54. वही, पृ0 54

55. वही, पृ0 54

56. वही, पृ0 55

57. वही, पृ0 55

58. वही, पृ0 55

59. वही, पृ0 53

60. रामविलास शर्मा : तुलसी के सामाजिक मूल्य, पृ0 1

61. हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ0 95

62. वही, पृ0 95-96

63. तुलसीदास : रामचरित मानस से

64. वही

65. वही

66. तुलसीदास ग्रंथावली : नागरी प्रचारणी सभा काशी

67. वही, पृ0 455

68. तुलसीदास : रामचरित मानस

69. रामविलास शर्मा : तुलसी के सामाजिक मूल्य, पृ0 6

70. तुलसीदास : पृ0 कवितावली, 185

71. वही, पृ0 185

72. हरवंशलाल शर्मा : सूर और उनका साहित्य से

73. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 58

74. वही, पृ0 58

75. वही, पृ0 59

76. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (सं0) : बिहारी, पृ0 167, 179, 203

77. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 64

78. वही, पृ0 63

79. वही, पृ0 63

80. वही, पृ0 61

81. वही, पृ0 62

82. वही, पृ0 62

83. वही, पृ0 62

84. वही, पृ0 61

85. वही, पृ0 64

86. वी0एल0 फड़िया : आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन, पृ0 334

87. वही, पृ0 334

88. वही, पृ0 335

89. सुमित्रानन्दन पंत : बापू के प्रति कविता से

90. रामविलास शर्मा : महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ0 12

91. शिवकुमार शर्मा : हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ, पृ0 456

92. रामस्वरूप चतुर्वेदी : हिन्दी साहित्य और सम्वेदना का विकास, पृ0 92

93. वही, पृ0 100

94. वही, पृ0 100

95. हेमंत शर्मा (सं0) : भारतेन्दु समग्र, पृ0 400

96. वही, पृ0 461

97. वही, पृ0 534

98. वही, पृ0 534

99. वही, पृ0 462

100. वही, पृ0 462

101. वही, पृ0 461

102. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 72

103. रामविलास शर्मा : महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ0 15

104. वही, पृ0 107

105. वही, पृ0 16

106. वही, पृ0 160

107. वही, पृ0 160

108. वही, पृ0 160

109. वही, पृ0 160

110. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 100

111. वही, पृ0 100

112. वही, पृ0 78

113. वह, पृ0 80

114. वही, पृ0 80

115. मैथिलीशरण गुप्त : भारत भारती, पृ0 85

116. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 80

117. वही, पृ0 81

118. वही, पृ0 81

119. वही, पृ0 73-74

120. वही, पृ0 74-75

121. वही, पृ0 75-76

122. वही, पृ0 76

123. वही, पृ0 77

124. वही, पृ0 82

125. वही, पृ0 90

126. नामवर सिंह : छायावाद, पृ0 154

127. रामविलास शर्मा (सं0) : समालोचक (यथार्थवाद विशेषांक) फरवरी 1959, पृ0 198

128. जयशंकर प्रसाद : कानन कुसुम, नमकार कविता से

129. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 85

130. सुमित्रानन्दन पंत : ग्राम्या, पृ0 77

131. वही : स्वर्ण किरण (स्वर्णोदय कविता से)

132. निराला : सरोज स्मृति से।

133. निराला : तुलसीदास, पृ0 20

134. निराला : अर्णिमा, पृ0 114

135. विश्वनाथ तिवारी (सं0) : निराला, 44

136. वही, पृ0 44

137. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 85-86

138. वही, पृ0 83-84

139. सोहनलाल द्विवेदी : युगधार, पृ0 4

140. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 87

141. शिवकुमार शर्मा : हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ, पृ0 524

142. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 101

तृतीय अध्याय

"प्रगतिवादी काव्य में दलित चेतना"

1. मार्क्सवाद का प्रगतिवादी साहित्य पर प्रभाव :

प्रगतिवादी विचार धारा मूलतः कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकबाद पर आधारित हैं। सर्व प्रथम यूनान में 'डाइलेक्टिक' शब्द का प्रयोग उस पद्धति के लिए किया गया था, जिसके द्वारा दो परस्पर विरोधी विचारधारा के विद्वान शास्त्रार्थ के द्वारा किसी एक निश्चित सत्य तक पहुँचने का प्रयत्न करते थे। हीगेल ने इस शब्द का प्रयोग उस पद्धति के लिए किया, जिसके द्वारा उत्पत्ति, विकास और परिवर्तन के सिद्धान्त को समझा जा सकता था। हीगेल विचार को प्रमुख मानकर बाह्य जगत को उसी का प्रत्यक्षीकरण मानते थे। उन्होंने इस सिद्धान्त के अनुसार एक निरपेक्ष ब्रह्म की भी कल्पना की थी। मार्क्स ने हीगेल के उत्पत्ति, विकास और परिवर्तन का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया किन्तु उसने उसकी निरपेक्ष ब्रह्म की कल्पना स्वीकार नहीं की। इसके साथ ही उसने हीगेल के विपरीत, विचार को प्रमुखता न दे, बाह्य जगत को ही प्रमुखता दी। मार्क्स का मत था कि इतिहास की व्याख्या निरपेक्ष ब्रह्म के आधार पर नहीं, बल्कि आर्थिक आधार पर ही संभव है। कार्लमार्क्स की इस धारणा के पूर्व एक जर्मन विद्वान 'थायरवाख', हीगेल के सिद्धान्त के विपरीत भौतिकवाद के सिद्धान्त को जन्म दे चुका था। उसने सृष्टि के विकास में 'प्रकृति पदार्थ' को प्रथम स्थान दिया और मनुष्य को प्राकृतिक विकास की ही एक इकाई घोषित किया। मार्क्स मनुष्य को चेतन रूप में एक ऐसा प्राणी मानता है जिसमें वातावरण को बदल देने की क्षमता है। मार्क्स की विचारधारा वास्तव में हीगेल और थायरवारव के कथन के विशेष अंशो का एक समन्वय थी। इसमें हीगेल की द्वन्द्वात्मक प्रणाली और थायरवाख के प्रकृतिवाद का समन्वय था। हीगेल और थायरवाख के सिद्धान्तों में 'वर्ग संघर्ष' का कोई स्थान न था। मार्क्स ने वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त 'चार्ल्स हाल' से ग्रहण किया। चार्ल्स हाल का मत था कि सभ्यता के साथ ही सम्पति और शोषक का जन्म और विकास हुआ। इससे वर्ग संघर्ष की भावना का जन्म हुआ। उसका मत था कि यदि देश के अर्थ और शासन क सूत्र गरीबों के हाथ में हों तो सदैव के लिए युद्ध की संभावना का अंत हो जाय। मार्क्स के मतानुसार संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं- स्वीकारात्मक और नकारात्मक। इन दोनों तत्वों के संघर्ष का नाम ही जीवन है, जिसका आधार वस्तु (मैटर) है। दोनों विरोधी तत्व वस्तु में स्थिति हो निरन्तर संघर्षरत रहते हैं। इसी से चेतना का जन्म होता है यह चेतना द्वन्द्वात्मक होती हैं। इसी आधार पर कार्ल मार्क्स के इस सिद्धान्त को 'द्वन्द्वात्मक

भौतिकवाद' कहा गया है।

काव्य में 'प्रगतिवाद' एक विशिष्ट राजनीतिक विचारधारा का द्योतक है। यह विचारधारा कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद पर आश्रित है। मार्क्स और एंजिल्स के ''कम्युनिष्ट मेनिफेस्टो' के प्रकाशन के पश्चात् समाजवाद को लेकर नयी-नयी विचारधारायें सामने आयी, किन्तु उन सबमें मार्क्सवादी विचारधारा ही सर्वाधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई। साहित्य भी इस विचारधारा से अप्रभावित न रह सका।

मार्क्स का प्रगतिवाद वास्तव में सामाजिक व्यवस्था के आर्थिक दृष्टिकोण से सम्बन्धित हैं। उनके मतानुसार जिस प्रकार विश्व का निर्माण भौतिक पदार्थों के संगठन से संभव हुआ, उसी प्रकार समाज का निर्माण आर्थिक व्यवस्थाओं से संभव हुआ। मनुष्य की सामाजिक प्रगति वस्तुओं के उत्पादन की शक्तियों के विकास पर ही आधारित है। राजनीतिक और सामाजिक प्रगति के मूल में भी यह वस्तु उत्पादन की शक्ति का परिमाण ही कार्य करता है। जिस समाज में वस्तु उत्पादन की शक्ति जितनी अधिक परिमाण में होगी, वह समाज राजनीतिक और सामाजिक प्रगति में उतना ही आगे होगा। इस वस्तु उत्पादन शक्ति की न्यूनाधिकता के कारण ही समाज में आर्थिक विषमता देखी जाती है, जो वर्गवाद अथवा द्वन्द्वात्मक स्थिति की जन्मदात्री है। इस द्वन्द्व की स्थिति के चरम सीमा पर पहुँचने पर वर्ग संघर्ष का अन्त हो जाता है, और एक वर्गहीन समाज का जन्म होता है। इस इतिहास-निर्माण में जिस वर्ग संघर्ष एवं धार्मिक दार्शनिक अथवा सांस्कृतिक संघटनों का योग देखते है, उनके मूल में भी अर्थ व्यवस्था ही है। इस अर्थ व्यवस्था की विषमता ही वर्ग संघर्ष को जन्म देती है, सामाजिक उत्क्रांति की प्रेरणा भरती और वर्तमान व्यवस्था के प्रति रोष अथवा क्षोभ उत्पन्न कर परिवर्तन का आवाहन करती हैं। वर्ग संघर्ष में समस्त मानव समाज दो भागों में विभक्त हो जाता है। एक वर्ग वस्तु का उत्पादक होता है और दूसरा उस वस्तु का उपभोक्ता होता है। प्रथम वर्ग अपनी समस्त शक्ति लगाकर वस्तु उत्पादन के परिमाण में वृद्धि करता जाता है और दूसरा वर्ग उनकी उन वस्तुओं पर अधिकार करता जाता है। द्वितीय वर्ग की अधिकार-लालसा और प्रयत्न प्रथम वर्ग के हृदय में असंतोष रोष और क्षोभ उत्पन्न करता और इस प्रकार वर्ग-संघर्ष आरम्भ हो जाता है। इस संघर्ष का नाम मानव सभ्यता के विकास के साथ ही हुआ और उसके विकास के साधनों के साथ यह संघर्ष भी विविध रूपों में विकसित होता गया। मार्क्सवाद इस संघर्ष का अन्त कर एक साम्यवादी समाज की व्यवस्था करना

चाहता है। वह ऐसे समाज का निर्माण करना चाहता है, जिसमें समाज विचार धारा, समाज आकांक्षा, समाज, प्रयत्न समाज सुख-भोग-साधन समानाधिकार और समाज सुख सुविधाएं उपलब्ध हों। इस प्रकार के समाज की स्थापना के लिए वर्ग संघर्ष की अग्नि को अधिकाधिक प्रज्वलित रखना आवश्यक है। जहां संघर्ष नहीं-शोषित वर्ग शोषकों से भयभीत है, वहाँ शोषित वर्ग को चेतना और प्रेरणा प्रदान कर सर्वहारा क्रान्ति के लिए तैयार किया जाना आवश्यक हैं। इस संघर्ष की तह में श्रमिकों का शोषण करने वाले पूंजीपति ही नहीं, पण्डे, पुरोहित, मौलवी, पादरी और जातिवादी वर्ण व्यवस्था के पोषक वे लोग भी है जो जनता की अन्ध श्रद्धा और अन्ध विश्वासपूर्ण धर्म भावनाओं से अनुचित लाभ उठाने में सदैव संलग्न रहते हैं। वे राजनीतिक नेता भी है, जो पूंजीवादियों की सत्ता अक्षुण बनाये रखने में ही लोक कल्याण देखते है और पूंजीवादी शासन व्यवस्था के समर्थक है। प्रगतिवाद इन सबका विरोधी हैं अतः जो साहित्य प्रतिक्रियावादी पूंजीवादी प्रवृत्ति, मनोवृत्ति और व्यवस्था का विरोधी है। वही प्रगतिवादी साहित्य है इसका शक्ति स्रोत मार्क्सवादी विचारधारा है जो समता और संतुलन में विश्वास रखती है।

क. पाश्चात्य प्रगतिवादी साहित्य पर प्रभाव :

प्रगतिवादी साहित्य का जन्म सर्वप्रथम सन् 1907 में इटली में हुआ जब मारनेति ने 'भविष्यवाद' नामक एक नवीन विचारधारा को जन्म दिया। उसने कहा कि "संसार अब एक नये रूप में परिवर्तित हो चुका है। सामाजिक व्यवस्था सम्बन्धी मान्यताएं बदल चुकी हैं। अतः साहित्य की मान्यताएं अपरिवर्तित नहीं रखी जा सकती। उसके मूल्य और मापदण्ड में भी नवीन दृष्टिकोण आवश्यक है।"[1] उसने रूढ़िवादी विचारों का ही विरोध नहीं किया, बल्कि साहित्यिक परम्पराओं में भी अभूतपूर्व परिवर्तन की घोषणा कर दी। छन्दों की श्रृंखला भंग कर दी गयी और व्याकरण के नियमों को तिलांजलि दे दी। उसने कहा कि "अब चन्द्र और कमल में सौन्दर्य दर्शन न कर यंत्रो में किया जाना चाहिए" उसकी इस विचार धारा से साहित्य की प्राचीन मान्यताओं के स्थान पर नयी मान्यताएं स्थापित होने लगी। कुछ समय के पश्चात् 'मारनेति का भविष्यवाद दो विचारधाराओं में विभक्त हो गया। एक विचारधारा के अनुसार वर्तमान मानव समाज में भविष्य-दर्शन का सिद्धान्त स्थिर हुआ और दूसरी विचारधारा मानव महत्तावाद का प्रतिपादन करने लगी।

सन् 1918 में प्रथम विश्व युद्ध होने के पश्चात् रूस से तानाशाही का अंत हो गया और उसके

स्थान पर 'वोलशेविक' दल की सत्ता स्थापित हो गयी। इस समय तक काव्य में रूप को ही महत्व दिया जाता था, किन्तु इसके पश्चात ही रूसी काव्य जगत् में यथार्थवाद का प्रवेश हुआ। फ्रेंच साहित्य में प्रकृतिवाद की प्रधानता थी। रूस की क्रांति का विश्व पर गहरा प्रभाव पड़ा। रूस में नयी सत्ता स्थापित हुई थी, जिससे उसे लोकप्रिय बनाना आवश्यक था। वहाँ के साहित्यिकों ने मार्क्सवादी बोलशेविज्म को अपने साहित्य का मूलाधार बना सृजन आरम्भ किया। इस साहित्य ने सामान्य जनता के हृदय में राजसत्ता प्राप्त करने की अभिरूचि उत्पन्न की। रूसी साहित्य द्वारा आर्थिक विषमता दूर कर वर्गहीन समाज की स्थापना की भावनाओं का प्रचार होने लगा। सन् 1932 के आस-पास रूसी साहित्यकारों पर प्रतिबंध लगा दिया गया। वे श्रमिकों में क्रांति की भावना जागृत करना चाहते थे। उन्होंने साहित्य में एक नये वाद को जन्म दिया जो सामाजिक यथार्थवाद के नाम से प्रसिद्ध है। मार्क्सवादी विचारधारा इस वाद के अधिक अनुकूल थी, अतः रूसी साहित्यकार इसी धारा के प्रचार में लग गये।

सन् 1930 के पश्चात् अंग्रेजी साहित्य में भी मार्क्सवादी विचार धारा का प्रवेश हो गया। वहाँ के कवि उच्च वर्गीय जनता के मनोरंजन के लिए साहित्य का निर्माण न कर जन सामान्य के जीवन से सम्बन्धित साहित्य का निर्माण करने लगे। उन्होंने पूंजीवादी शोषण के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा फहराया और श्रमिकों में विद्रोहात्मक भावनाएं जागृत की। जो साहित्य एक सीमित वर्ग तक ही सीमित था, उसे सर्वहारा वर्ग की सामान्य गतिविधियों से जोड़कर संवेदनशील तो बनाया ही, आम आदमी के दुख दर्द का सहयोगी भी बना दिया।

ख. प्रगतिवादी हिन्दी साहित्य पर प्रभाव :

सन् 1918 की रूसी क्रांति से भारत भी अप्रभावित न रह सका। एक ओर अंग्रेजी शासन का दमन चक्र तीव्रगति से धूम रहा था तो दूसरी ओर यहाँ का पूंजीवादी दल श्रमिकें के शोषण में निरत था। निम्नवर्ग पर उच्च वर्ग के सामाजिक अत्याचार पूर्ववत् चल रहे थे। यहाँ के साहित्यकारों ने यह स्थिति छुपी न थीं इसीलिए वे सामान्य जनता को शासकों, पूंजीपतियों एवं समाज एवं धर्म के ठेकेदारों के अत्याचारों से मुक्त करने के लिए चिन्तित थे। सन् 1925 में कुछ भारतीय तरुणों ने यहाँ साम्यवादी दल की स्थापना की और मार्क्सवादी सिद्धान्तों का प्रचार प्रसार आरम्भ हो गया। हिन्दी काव्य साहित्य छायावाद और रहस्यवाद की भावनाओं को लेकर आगे बढ़ रहा था। इन दोनों

काव्य वादों का आधार व्यक्तिवाद था। अतः यह काव्यवादों का आधार व्यक्तिवाद था। अतः यह काव्यधारा मार्क्सवादी विचार धारा के अनुकूल न थी। मार्क्सवादी साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव से तत्कालीन कवि और साहित्यकार प्रभावित होने लगे और हिन्दी साहित्य में नयी विचार धारा का अभ्यास होने लगा। देश में चतुर्दिक स्वतंत्रता संग्राम चल ही रहा था। 31 दिसम्बर 1929 को लाहौर कांग्रेस के द्वारा 'पूर्ण स्वतंत्रता' प्रस्ताव पारित करने के पश्चात एक नया रूप ग्रहण करने लग गया था। इस प्रस्ताव की कार्यान्विति के रूप में यहाँ सन् 1930 और 1932 में दो महान देशव्यापी आन्दोलन हुए थे। ये ही वे आन्दोलन थे, जिनमें देश के कृषकों और श्रमिकों ने एक बहुत बड़ी संख्या में भाग लिया था। इसका कारण महात्मा गांधी के नेतृत्व में होने वाली जन-जागृति तो थी ही, पर इसका एक कारण वह विश्व व्यापी मंदी भी थी, जिसने कृषकों, श्रमिकों एवं अन्य मध्यवर्गीय जनता का जीवन दूभर कर दिया था। वे उस सामाजिक और राजनीतिक स्थिति का अन्त कर देना चाहते थे, जिसने उन्हें महान आर्थिक संकट से पूर्ण जीवन व्यतीत करने को विवश किया था। यह देश की पूर्ण स्वतंत्रता के बिना संभव नहीं था। अतः उन्होंने स्वतंत्रता प्राप्ति के महान यज्ञ में खुले हृदय से आहुति देना अपना कर्तव्य समझा। यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि उस समय देश के नेतृत्व में धनिकों और पूजीपंतियो का बहुत बड़ा हाथ था। अतः शोषित और आर्थिक संकट ग्रस्त जनता के हृदय में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात राजसत्ता पर इन पूंजीपतियों और धनिकों के अधिकार की आशंका स्वाभाविक थी। इसीलिए उन्होंने एक ओर कांग्रेस द्वारा संचालित स्वतंत्रता आन्दोलन में योगदान आरम्भ किया और दूसरी ओर अपने तंत्र संगठनों को भी जन्म दिया। इस राजनीतिक स्थिति और मनोभावना का प्रभाव साहित्यकार पर भी पड़ा और उन्होंने ने भी अपने संगठन बनाने आरम्भ किये।

इन दिनों डॉ0 मुल्कराज आनन्द, सज्जाद जहीर, भवानी भट्टाचार्य, जे0सी0घोष, एम0सिन्हा आदि नवोदित लेखक लंदन में थे। उन्होंने सन् 1935 में 'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' नामक एक संस्था को जन्म दिया और इस संस्था की स्थापना के उद्देश्यों एवं योजनाओं पर प्रकाश डालने वाला एक विस्तृत परिपत्र अपने भारतीय मित्रों को भेजा। इस परिपत्र में कहा गया था- "भारतीय समाज में नित नये परिवर्तन होते जा रहे हैं। प्राचीन रूढ़िवादी विचारों और विश्वासों की जड़े हिलती जा रही है और इस प्रकार एक नये समाज का जन्म होने जा रहा है। अतः यह नितान्त आवश्यक है। कि भारतीय साहित्यकार वहां के जनजीवन में होने वाले इस क्रान्तिकारी परिवर्तन को शब्द और रूप

दे और इस प्रकार राष्ट्र की प्रगति में सहायक हों। हमें भारतीय सभ्यता की परम्परा की रक्षा करते हुए अपने देश की पतनोन्मुख प्रवृत्तियों की कड़ी आलोचना करनी है तथा अपनी आलोचनात्मक एवं रचनात्मक कृतियों के द्वारा वे साधन जुटाने हैं जो हमें अपने लक्ष्य की पूर्ति में सहायक हो सकते हैं। भारत के नये साहित्य का हमारे वर्तमान जीवन के मूल तथ्यों से समन्वित होना आवश्यक है और वे तथ्य है - हमारी दरिद्रता, हमारा सामाजिक पतन और हमारी राजनीतिक पराधीनता।"[2]

परिपत्र में आगे कहा गया था - "वह सब जो हमें निष्क्रिय अकर्मण्य और अन्ध विश्वासी बनाता है, हेय है, हम उसी को प्रगतिशील समझते हैं, जो हममें आलोचना की प्रवृत्ति लाता, युगानयुग से चली आयी रुढ़ियों को बुद्धि की कसौटी पर कसने को प्रोत्साहित करता हमें कर्मशील बनाता और हमें संगठनात्मक सर्जना की प्रेरणा देता है।"[3]

परिपत्र में संस्था का उद्देश्य बतलाते हुए कहा गया था - "इस संस्था का उद्देश्य भारत के विभिन्न भाषा-भाषी लेखकों का संगठन करके ऐसे प्रगतिशील साहित्य की रचना करना है जो कलात्मक दृष्टि से निर्दोष हो और जिसके माध्यम से देश के सांस्कृतिक अवसाद को दूर कर हम भारतीय स्वतंत्रता एवं सामाजिक उत्थान की दिशा में प्रवृत्त हो सके।"[4] भारतीय लेखकों की तरूण पीढ़ी ने परिपत्र का हार्दिक स्वागत और समर्थन किया और दूसरे ही वर्ष सन् 1936 में इसका प्रथम अधिवेश प्रेमचन्द्र की अध्यक्षता में लखनऊ में हुआ। प्रेमचन्द्र जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा - "हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो, जो हमे गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"[5] उन्होंने आगे कहा कि - "हमारे लिए कविता के वे भाव निरर्थक हैं, जो हमारे हृदय पर संसार की नश्वरता का अधिपत्य दृढ़ करते हैं और जिनसे हमारा हृदय निराशा से भर जाये। हमें उस साहित्य की आवश्यकता है, जो हमारी बदलती हुई मान्यताओं परम्पराओं और मूल्यों के अनुरूप हो। साहित्य का लक्ष्य केवल व्यक्तिगत विकास अथवा मनोरंजन नहीं है, जीवन तथा समाज की छवियों को अपने में मूर्त कर मानव समाज का कल्याण करना है, ... हमें उस कला की आवश्यकता है, जिसमें कर्म का संदेश हो।.....अतः हमारे पथ में अहंवाद अथवा अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को प्रधानता देना वह वस्तु है, जो हमें जड़ता, पतन और लापरवाही की ओर ले जाती है। हमारे लिए ऐसी कला की आवश्यकता

न व्यक्तिगत रूप में उपयोगी है और न समुदाय रूप में।"[6]

प्रेमचन्द्र ने संगठन के सम्बन्ध में कहा था - 'मेरे विचार में 'प्रगतिशील लेखक संघ' यह नाम ही गलत है। साहित्यकार या कलाकार स्वाभावतः प्रगतिशील होता है। अगर उसका स्वाभाव यह न होता तो शायद वह साहित्यकार ही न होता। साहित्यकार बाहर की कमी को जब देखता है तो उसे पूरा करने के लिए वह वेचैन हो जाता है। अपनी कल्पना में वह व्यक्ति और समाज को सुख और स्वच्छन्दता की जिस अवस्था में देखना चाहता है, वह उसे दिखायी नहीं देता। इसलिए वर्तमान मानसिक और सामाजिक अवस्थाओं से उसका दिल कुढ़ता रहता है। वह इन अप्रिय अवस्थाओं का अन्त कर देना चाहता है जिससे दुनिया में जीने और मरने के लिए इससे अधिक स्थान हो जाय ...... पर शायद इस विशेषता पर जोर देने की जरूरत इसलिए पड़ी कि प्रगति या उन्नति से प्रत्येक लेखक या ग्रन्थकार एक ही अर्थ ग्रहण नहीं करता। जिन अवस्थाओं को एक समुदाय उन्नत समझ सकता है, दूसरा समुदाय असंदिग्ध अवनति मान सकता है। इसलिए कि यह साहित्यकार अपनी कला को किसी उद्देश्य के अधीन ही करना चाहता। उसके विचारों में कला केवल मनोभावों के व्यक्तिकरण का नाम है, चाहे उन भावों से व्यक्ति या समाज पर कैसा ही असर क्यों न पड़े। उन्होंने इसे और स्पष्ट करते हुए कहा - "उन्नति से हमारा तात्पर्य उस स्थिति से है, जिससे हममें दृढ़ता और कार्य-शक्ति उत्पन्न हो, जिससे हमें अपनी दुरवस्था की अनुभूति हो, हम देखें कि किन कारणों से हम इस निर्जीवता और ह्रास की अवस्था को पहुँच गये और उन्हें दूर करने की कोशिश करें।"[7]

इस लखनऊ अधिवेशन के कुछ समय पूर्व नागपुर में बाबू राजेन्द्र प्रसाद जी की अध्यक्षता में होने वाले "हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के अधिवेशन के साथ ही 'भारतीय साहित्य परिषद' का अधिवेशन महात्मा गांधी की उपस्थिति में हुआ था, जिसमें प्रेमचन्द्र के अतिरिक्त पं0 जवाहरलाल नेहरू, कन्हैया लाल मणिक लाल मुंशी, आचार्य नरेन्द्र देव आदि भी उपस्थित थे। इस अवसर पर श्री अख्तर हुसेन रायुपरी ने एक घोषणा पत्र वहां उपस्थित साहित्यकारों में वितरित किया था। नवोदित साहित्यिक प्रवृत्तियों को समझने की दृष्टि से यह घोषणा पत्र बड़ा महत्वपूर्ण था। इस घोषणा पत्र पर पं0 जवाहरलाल नेहरू, प्रेमचन्द्र, आचार्य नरेन्द्र देव, मौलवी अब्दुल हक तथा अखतर हुसैन रायपुरी के हस्ताक्षर थे। घोषणा की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं -

"हमारा ख्याल है कि साहित्य की समस्याओं को जीवन की समस्यायों से अलग नहीं किया

जा सकता। जीवन एक पूर्ण इकाई है। इसे साहित्य, दर्शन, राजनीति इत्यादि के खानों में बांटा नहीं जा सकता। साहित्य जीवन का दर्पण है। यही नहीं बल्कि वह जिन्दगी के कारवां का पथ प्रदर्शक है। उसे सिर्फ जीवन के साथ-साथ नहीं चलना बल्कि उसका नेतृत्व करना है। हम सब जानते हैं कि हमारी जिन्दगी किधर जा रही है और उसे किधर जाना चाहिए "लेखक मनुष्य भी है और समाज की उन्नति के लिए उसे उतना तो करना ही है जो प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। मानवता के नाम पर हम पूछते हैं कि आज तब प्रगति और प्रतिक्रिया की शक्तियों में निर्णायक संग्राम छिड़ चुका है, क्या साहित्य अपने आपको तटस्थ रख सकता है? सौन्दर्य और कला का आवरण ओढ़कर वह जीवन संघर्ष से पलायन का मार्ग ग्रहण कर सकता है। क्या वह यथार्थ चित्रण की फसल पर बैठकर क्रान्ति और क्रिया का चित्र ले सकता है? ..... भावना प्रत्येक कला का प्राण है तो फिर गरीबों और पीड़ितों की दुर्दशा लेखक को भाव-शून्य क्यों कर रख सकती है? अगर जीवन की सबसे प्रमुख समस्या यह है कि समाज के चेहरे से बेकारी,दरिद्रता और अत्याचार के दाग धोये जायें तो कदाचित् यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती है कि साहित्य का संकेत किस ओर हो। वह क्या कहे, किससे कहे और किस ढंग से कहे? अतएव भारतीय लेखकों से हमारी यह आशा संगत और समयोचित है कि वे यह सिद्ध कर दिखायेंगे कि साहित्य का आधार जीवन है और जीवन निरन्तर विकास और परिवतन की कहानी है। जीवित और शाश्वत् साहित्य वही है जो जीवन को बदलना चाहता है और उसे उन्नति का मार्ग दिखाता है और समूची मानवता की सेवा उसका मनतव्य है। हमें आशा है कि हमारा साहित्य जीवन से अपने को सम्बद्ध करेगा और जीवन की पताका फहरायेगा।"[8]

दोनों घोषणाओं को एक साथ देखने से स्पष्ट हो जाता है कि लखनऊ अधिवेशन और नागपुर अधिवेशन के घोषणा पत्रों का मूल स्वर एक ही है। दोनों उस साहित्य के निर्माण का आग्रह करते हैं जो देश के वास्तविक जनजीवन की अभिव्यक्ति करता हो, जो शोषित मानवता के उत्थान का संदेश देने में समर्थ हो और जो सामूहिक जनजीवन की विषमताओं, आपदाओं और अभावों का अंत कर प्रगति के पथ पर अग्रसर कर सके। यही प्रगतिवदी साहित्य का स्वरूप है जो मार्क्सवादी विचारधारा से प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों से किसी न किसी रूप में प्रभावित है। दोनों अधिवेशनों की प्रगतिवादी साहित्य के सूत्रपात और विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका है।

'भारतीय प्रगतिशील लेखक-संघ' का द्वितीय अधिवेशन सन् 1938 में कलकत्ता में आचार्य

रवीन्द्रनाथ टैगोर की अध्यक्षता में हुआ। इस अधिवेशन के घोषणा पत्र में अधिक स्पष्टता से देश की तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक एवं साहित्यिक स्थिति पर प्रकाश डाला गया तथा कट्टरपंथी, रूढ़िवादी, आध्यात्म एवं निष्क्रिय आदर्शवाद की कड़ी आलोचना करते हुए पूर्ण सजगता के साथ ऐसे साहित्य के निर्माण का भारतीय लेखकों से आग्रह किया गया जो एक नये विश्व के निर्माण में सक्षम हो। घोषणा पत्र में कहा गया - "प्रत्येक भारतीय लेखक का कर्तव्य है कि वह भारतीय जीवन में होने वाले परिवर्तनों को अभिव्यक्ति दे और साहित्य में वैज्ञानिक बुद्धिवाद का समावेश कर देश की सामाजिक क्रान्ति की भावना को अधिकाधिक विकसित तथा सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न करे। उन्हें साहित्यिक समीक्षा की ऐसी दृष्टि का विकास करना चाहिए जो परिवार, धर्म, काम, युद्ध और समाज के ज्वलन्त प्रश्नों पर सामान्यतः प्रतिक्रियाशील तथा रूढ़िवादी प्रवृत्तियों का विरोध करे। उन्हें उन साहित्यिक प्रवृत्तियों का भी विरोध करना चाहिए, जो साम्प्रदायिक भावना जाति-द्वेष तथा मानव के शोषण की भावना को पुष्ट करती है।"[9] इस द्वितीय घोषणा पत्र में संघ का उद्देश्य बतलाते हुए कहा गया कि - "जो साहित्य और अन्य कलाएं रूढ़िपंथी हांथो में पड़कर निर्जीव होती जा रही हैं, उनको इन हांथो से मुक्त कराके उनका निकटतम सम्बन्ध जनता से कराना और उन्हें जीवन के यथार्थ का माध्यम तथा नये विश्व का निर्माण करने वाली शक्ति बनाना है।"[10] निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि मार्क्सवाद में जिस संघर्ष उत्थान, संगठन और सर्वहारा वर्ग के कल्याण की बात कही गयी है, प्रगतिवादी लेखकों ने उसी दर्शन को आगे बढ़ाने की कोशिश की। प्रगतिवादी लेखकों ने भारतीय परिदृश्य के अनुसार मार्क्सवादी चिन्तन को आत्मसात किया। हर उस दलित वर्ग एवं जाति को अपनी सोच का केन्द्र बनाया जो आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से पिछड़ने के कारण उपेक्षित रहा।

ग. हिन्दी विद्वानों की दृष्टि में प्रगतिवाद का स्वरूप :

'प्रगतिवाद' के स्वरूप के सम्बन्ध में हिन्दी के सभी विद्वान एक मत नहीं है। यहाँ तक कि अपने आपको प्रगतिवादी कहने वाले विद्वान भी दो दलों में विभाजित हैं। डॉ0 रामविलास शर्मा एवं उनके समर्थकों का मानना है कि कार्ल मार्क्स की विशिष्ट मान्यता को लेकर साहित्य के क्षेत्र में जो विचारधारा आगे बढ़ी उसे "प्रगतिवाद के नाम से सम्बोधित करना सर्वथा उचित है। शिवदान सिंह चौहान, अमृत राय, डॉ0 रांगेय राघव जैसे विद्वान प्रगतिवाद को मार्क्स की मान्यता से प्रभावित तो मानते हैं किन्तु भारतीय प्रगतिवादी विचारधारा को मार्क्स की सीमा से आगे बढ़कर भारतीय

चिन्तनधारा के प्रभाव की बात करते हैं। तात्पर्य यह है कि एक वर्ग मार्क्सवादी मान्यताओं के अवतारण और प्रत्यक्षीकरण में ही सामाजिक संरचना एवं रचनाधर्मिता की कल्पना करता है तो दूसरा वर्ग मार्क्स की मान्यताओं को वहीं तक स्वीकार करना चाहता है जहां तक वे उज्जवल भारतीय परम्पराओं की रक्षा करते हुए भारतीय जन जीवन के उत्थान में सहायक है। मतवैभिन्य होते हुए भी दोनों के उद्देश्य में बहुत बड़ी समानता है - दोनों साम्राज्यवाद सामन्तवाद, पूंजीवाद तथा भारतीय जनजीवन को उपेक्षित और जर्जरित करने वाले रूढिवाद के विरोधी हैं। दोनों एक ऐसे समाज की रचना के समर्थक है जो वर्ग भेद विहीन, शोषण विहीन, दरिद्रता और जातिवादी कुत्सित मानसिकता के अभिशाप से मुक्त पूर्ण स्वतंत्रता और जीवन की सम्पूर्ण सुख सुविधा से युक्त हो। प्रगति के स्वरूप को लेकर हिन्दी के बहुत सारे विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनमें से कुछ प्रमुख परिभाषाएं इस प्रकार हैं -

बाबू गुलाबराय :

"प्रगतिवाद वर्गहीन समाज का समर्थक है। वह एक प्रकार से मार्क्सवाद का साहित्यिक रूप कहा जा सकता है।"[11]

लक्ष्मीकांत वर्मा :

"प्रगतिवाद सामाजिक यथार्थवाद के नाम पर चलाया गया वह आन्दोलन है, जिसमें जीवन और यथार्थ के वस्तु सत्य को उत्तर छायावाद काल में प्रश्रय मिला और जिसने सर्वप्रथम यथार्थवाद की ओर साहित्यिक चेतना को अग्रसर करने की प्रेरणा दी।"[12]

धर्मवीर भारती :

"रूढ़ अर्थों में प्रगतिवाद साहित्य की उस दिशा विशेष को कहते हैं जो मार्क्सवादी जीवन-दर्शन के अनुसार साहित्य के लिए निर्देशित की गयी है।"[13]

मन्मथनाथ गुप्त :

"प्रगतिवाद की विशेषता यह है कि मनुष्य को अपना कच्चा माल मानने पर भी वह भावुकता मय मानवतावाद में बहकर वर्ग संघर्ष के प्रति अन्धा नही है, केवल इतना ही नहीं, वह इस संघर्ष में क्रान्तिकारी कार्य की ओर भी हांथ बढ़ाता है।"[14]

शिवकुमार मिश्र :

"प्रगतिवाद कोई आकस्मिक अथवा अनहोनी घटना न थी, उसके पीछे वह सच्चाई थी जिसका

युग जीवन से सीधा सम्बन्ध था ..... हम प्रगतिवादी चेतना के गहरे मार्क्सवादी समाजवादी बोध को स्वीकार करते हैं। मार्क्सवाद-समाजवाद के प्रगतिवादी चेतना को न केवल गहराई तथा दीप्ति प्रदान की है, उसे ठोस वैज्ञानिक तथा जनवादी भी बताया है।"[15]

डॉ0 श्यामनन्दन किशोर :

"भारत का प्रगतिवाद पूर्णतः रूस या मार्क्स की देन नहीं है। एक विश्व व्यापी असन्तोष वाणी पाने को छटपटा रहा था। ब्रिटिश शासन की समसामयिक परिस्थितियों के कारण इस देश की मिट्टी में भी असन्तोष फैलता जा रहा था। मार्क्सवादी विचारधारा ने इसी असन्तोष और विद्रोह के भाव को स्पष्ट ठोस और जीवन्त दर्शन देकर प्रगतिशील बनाया है।"[16]

त्रिलोचन पाण्डेय :

"प्रगतिवाद का आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहा जा सकता है। वह आत्मा की निरपेक्ष सत्ता नहीं मानता। विश्व में केवल आर्थिक, भौतिक सत्ता है। इसलिए वह साहित्य को वैयक्तिक चेतना न मानकर सामूहिक चेतना मानता है। वह वर्ग संघर्ष की भावना को तीव्र करता है, सामन्ती बुजुर्वा वर्ग से उसे कोई सहानुभूति नहीं।"[17]

शिवकुमार शर्मा :

"जो विचारधारा राजनीतिक क्षेत्र में साम्यवाद सामाजिक क्षेत्र में समाजवाद और दर्शन में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है, वही साहित्यिक क्षेत्र में प्रगतिवाद के नाम से अभिहित की जाती है।"[18]

घ. मार्क्सवादी विचारधारा का दलित चेतना पर प्रभाव :

विश्व साहित्य की किसी भी विचारधारा अथवा काव्य चेतना का जन्म अनायास एक आकस्मिक घटना के रूप में कभी नहीं हुआ। प्रत्येक विचारधारा परिस्थिति प्रसूत होती है। मार्क्सवादी विचारधारा अकस्मात् प्रकट नहीं हो गयी। मार्क्स ने हीगेल के 'द्वन्द्वात्मक विकासवाद' के सिद्धान्त को स्वीकार का उसका विकास किया। कार्ल्स मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक विकासवाद को उपयुक्त रूप देकर यह दर्शाने का प्रयास किया कि द्वन्द्वात्मक विकास का तत्व जड़ वस्तुओं, सामाजिक सम्बन्धों और मानवीय इतिहास में भी होता है। उन्होंने द्वन्द्वात्मक विकास का सूत्र माना कि किसी भी क्षेत्र में अपने अस्तित्व के पुराने स्वरूप का नाश किये बगैर विकास नहीं होता। मार्क्सवाद के अनुसार- आज तक का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है और ये वर्ग उत्पादन सम्बन्धों के कारण निर्मित होते हैं। मार्क्स प्रणीत

भौतिकवाद का मानना है कि उत्पादन पद्धति, उत्पादक सम्बन्ध और वर्ग कलह के कारण सामाजिक स्थितियों में अन्तर होता है। धर्म नीति, कला-साहित्य और संस्कृति का आधार आर्थिक प्रेरणा है, यह ऐतिहासिक भौतिकवाद का सूत्र है। कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंजिल्स ने सन् 1847 में कम्युनिष्ट मैनिफेस्टो प्रकाशित किया। इस घोषणा पत्र में साम्यवादी समाज-रचना का वर्णन किया है। पूंजीपति समाज व्यवस्था समाप्त करने के लिए सभी मजदूरों को एक होकर क्रान्ति करनी चाहिए, यही कम्युनिष्ट घोषणा पत्र कहता है। मार्क्सवाद ने पूंजीवाद का नाश करने के लिए हिंसात्मक वर्ग संघर्ष की भूमिका को भी प्रोत्साहित किया। इतना ही नहीं मार्क्स और एंजिल्स ने ये भी कहा कि मजदूरों, क्रान्ति के बाद शोषण मुक्त वर्गहीन समाज रचना अस्तित्व में आने तक कुछ समय के लिए मजदूरी को एकतंत्री तानाशाही आवश्यक है। मार्क्सवाद ने सम्पत्ति के निजी अधिकार के नष्ट होने की जो बात की उसका व्यापक स्वागत हुआ। निजी अधिकार को नष्ट कर सभी अधिकार राजसत्ता को सौंप दिये जाये, एक तरह से साम्राज्यवादी शक्तियों के लिए खुले रूप में चुनौती थी। डॉ0 शरण कुमार लिंबाले के अनुसार "मार्क्सवाद शोषितों का विचार है। यानि कि अधिकार सम्पन्न लोगों द्वारा चलाये गये क्रूर शोषण को निदर्यता से कुचलना और शोषितों यानि अधिकार विहीन लोगों को सभी तरह का न्याय दिलाना - यह मार्क्सवाद का प्रभाव सूत्र है। शोषण मुक्त वर्ग विहीन समाज रचना का निर्माण करना-यह मार्क्सवाद का लक्ष्य है।"[19]

विचारधारायें समय और परिस्थिति के अनुसार बदलती रहती हैं। जिस विचार धारा का जहाँ जन्म होता है वहाँ वह अपने मौलिक रूप में होती है, और उस क्षेत्र के समाज पर उसका सीधा प्रभाव पड़ता है। लेकिन वही विचारधारा जब दूसरे देशकाल और परिस्थिति में पहुँचती है तो उसके बहुत सारे मानदण्ड बदल जाते हैं। क्योंकि हर देशकाल और समाज के अपने सामाजिक संस्कार और मूल्य होते हैं। मार्क्सवादी विचारधारा का भारत में प्रादुर्भाव अपने मौलिक रूप में नहीं हुआ। इस देश की सभ्यता, संस्कृति, सामाजिक व्यवस्था, शिक्षा एवं साहित्यिक परम्परा ने चिन्तनकारों को नय कलेवर बनाने के लिए विवश किया। तात्पर्य यह कि मार्क्सवादी विचारधारा का भारतीय धरती पर प्रादुर्भाव प्रत्यक्ष रूप में नहीं परोक्ष रूप में हो पाया। मार्क्सवादी दर्शन ने सामाजिक विकास एवं प्रगति हेतु जो नये आयाम निर्धारित किये वे किसी भी मानव समाज के विकास के लिए आवश्यक हैं। जहाँ तक भारतीय दलित चेतना एवं दलित लेखन पर मार्क्सवाद के प्रभाव की बात है तो अप्रत्यक्ष रूप में इसका

प्रभाव पड़ा है। मार्क्सवादी विचारधारा का दलित चिन्तनधारा के विकास में जिन बिन्दुओं पर प्रभाव पड़ा है वे इस प्रकार हैं - 1. शोषण मुक्त समाज की स्थापना, 2. चिन्तन का केन्द्र शोषित पीड़ित आम आदमी, 3. शोषितों का विरोध 4. सर्वहारा वर्ग के कल्याण की कामना का भाव। 5. वर्गहीन समाज की परिकल्पना 6. आर्थिक संतुलन 7. प्रगति में सहायक नवीन जीवन मूल्यों के प्रति आसक्ति 8. श्रम की महत्ता 9. संगठन पर जोर 10. जनजागृति पर जोर 11. धार्मिक रुढ़ियों का विरोध। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मार्क्सवादी विचारधारा का हिन्दी साहित्य के प्रगतिवादी युग में हुए दलित लेखन पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। सबसे महत्वपूर्ण बात जो हुई वह यह कि दलितों के हित की बात केवल दलित लेखकों ने ही नहीं की, बल्कि सवर्ण लेखकों ने भी व्यापक स्तर पर दलितों के साथ हो रहे अन्याय एवं उत्पीड़न को साहित्य के माध्यम से समाज के सामने प्रस्तुतकरने की कोशिश की। उनके कल्याण हेतु तमाम उपाय भी सुझाये।

मार्क्स आर्थिक क्रान्ति के साथ-साथ सामाजिक क्रान्ति के भी पक्षधर थे। पर उनकी सामाजिक क्रान्ति को लेकर विद्वानों में मतभेद है। विद्वानों का एक वर्ग यह मानता है कि मार्क्सवादी विचार धारा पाश्चात्य समाज में सामाजिक क्रान्ति लाने में तो सफल रही पर भारतीय सामाजिक व्यवस्था में वह बहुत अधिक क्रान्तिकारी साबित नहीं हुई। डॉ0 शरण कुमार लिंवाले का कहना है कि ''भारत में मार्क्सवादी लोग मजदूरों के प्रश्नों पर लड़ते रहे लेकिन जाति व्यवस्था और छुआछूत की ओर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया। इसी कारण मार्क्सवादी दलितों के विश्वास भाजक नहीं बन सके।''[20]

डॉ0 अम्बेदकर का मानना है कि मार्क्सवाद भारतीय दलित चेतना के सामाजिक संदर्भों में अपूर्ण है - ''जाति भेद और छुआछूत यह दोनों कम्युनिज्म में नही है।''[21] वे बड़े स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि - ''लेनिन ने हिन्दुस्तान में जन्म लिया होता तो पहले जाति भेद और छुआछूत को पूरी तरह से नष्ट किया होता और वैसा किये बिना क्रान्ति की कल्पना उनके मन में आयी ही नहीं होती। तिलक बहिष्कृत वर्ग में पैदा होते तो 'स्वराज्य मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है, ऐसी गर्जना करने की बजाय अस्पृश्यता नष्ट करना ही मेरा परम कर्तव्य है, ऐसा ही विश्वास के साथ कहा होता।''[22]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मार्क्सवाद का दलित चेतना के विकास में अप्रत्यक्ष रूप से योगदान रहा। मार्क्सवाद का भारतीय सामाजिक परिस्थिति के सन्दर्भ में विकास होना चाहिए। मार्क्स ने भारतीय देहातों की व्यवस्था का उत्कृष्टता से विश्लेषण किया है। इस विश्लेषण को जाति व्यवस्था

धर्म और नीति के सन्दर्भ से जोड़कर नये विचारों का निर्माण करना होगा। हिन्दू धर्म द्वारा निर्मित विषम व्यवस्था पर विचार किये बिना भारतीय मार्क्सवाद विकसित नहीं हो सकता क्योंकि भारतीय समाज में विषमता केवल पूंजीवाद के फलस्वरूप ही नहीं है। यह विषमतः संश्लिष्ट रूप की है। हिन्दू धर्म में जाति नीति और कल्पना का मूल्यांकन किये बिना दलित समाज को प्रगति में बाधा उत्पन्न होगी। इसलिए दलितों के हित को देखते हुए सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों पर एक साथ संघर्ष करना होगा।

च. भीमराव अम्बेदकर के सामाजिक चिन्तन का प्रगतिवादी दलित काव्य चेतना पर प्रभाव :

दलित संघर्ष और जागरण के प्रतीक डॉ0 भीमराव अम्बेदकर उच्चकोटि के दूरदर्शी विचारक थे। उनका समग्र जीवन संघर्षमय रहा। उन्होंने जहां एक तरफ भारतीय राजनीति को नयी दिशा दी तो दूसरी तरफ भारतीय सामाजिक व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने हेतु नया सामाजिक दर्शन प्रस्तुत किया। वे अक्सर कहा करते थे कि अतीत की प्रशंसा एवं वर्तमान पर रोने से कुछ नहीं मिलने वाला है। यदि ईमानदारी से कुछ करना है तो इस मूल मंत्र का अनुसरण करना होगा- 'शिक्षित बनो, संगठित हो, और संघर्ष करो- सफलता तुम्हारे कदम चूमेगी।' डॉ0 धर्मवीर ने उनके बहुआयामी व्यक्तित्व के सम्बन्ध में लिखा है - ''बाबा साहेब डॉ0 भीमराव रामजीराव अम्बेदकर का आधुनिक भारत के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होंने गांधी और जिन्ना से अलग अपने समय को एक नयी पहचान और एक नया मोड़ दिया था। चूंकि वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी व्यक्ति थे इसलिए उनके योगदान राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों तक फैले हुए हैं। उन्होंने समाज, इतिहास, राजनीति, धर्म, शिक्षा और कानून के क्षेत्रों में अपनी दृष्टि के मील के नये पत्थर जोड़े हैं।'[23]

बाबा साहेब अम्बेदकर राष्ट्रभक्त के साथ-साथ समाज सुधारक भी थे। भारतीय दलित समाज के उत्थान हेतु जीवन के हर मोर्चे पर उनको जो लड़ायी लड़नी पड़ी वह किसी भी जागरूक भारतीय से छिपी नहीं है। उनका मानना था कि जितना आवश्यक देश के लिए आजादी है उतना ही आवश्यक वर्ण व्यवस्था, जातिवाद एवं अछूत प्रवृत्ति की कुरीति से मुक्ति का है। हमें राजनीतिक आजादी के साथ-साथ सामाजिक स्वतंत्रता भी चाहिए। उन्होंने लिखा है - ''भारत की आजादी की इस जद्दोजहद में स्वतंत्रता का कोई हेतु बनता है तो वह अछूतों का हेतु है। हिन्दुओं का केस और मुसलमानों का केस-

वे स्वतंत्रता के लिए नहीं है। उनके संघर्ष स्वतंत्रता से भिन्नसत्ता के लिए हैं।"[24] अम्बेदकर का स्पष्ट मानना था कि भारतीय समाज का पूर्ण विकास तब तक सभव नहीं है जब तक दलितों, पिछड़ों और उपेक्षितों को समाज की मुख्य धारा से नहीं जोड़ा जायेगा। इनकी उपेक्षा करके सामाजिक विकास की बात करना बेइमानी होगी। भारतीय समाज में इनकी संख्या सर्वाधिक है इसलिए उनके विकास हेतु आवश्यक है कि वर्ण व्यवस्था, जातिवाद एवं अस्पृश्यता पर नये सिरे से विचार किया जाय। इस व्यवस्था परिवर्तन के लिए उन्होंने नये सामाजिक मूल्य एवं नयी सोच विकसित करने की बात कही। वर्णव्यवस्था, जातिवाद एवं अस्पृश्यता ने दलितों का बडा अहित किया है। अम्बेदकर ने इसीलिए अपने सामाजिक दर्शन के अन्तर्गत इन तीनों पर विस्तार से विचार-विश्लेषण किया है -

1. वर्ण व्यवस्था :

हिन्दू धर्म ग्रन्थ भारतीय संस्कृति एवं सामाजिक संरचना के मेरूदण्ड माने जाते हैं। डॉ0 अम्बेदकर वेदादि शास्त्रों का गहन अध्ययन करने के बाद इस नतीजे पर पहुँचे कि दलितों की दृष्टि से हिन्दुओं की सामाजिक बुराइयों की जड़ उनके धर्मशास्त्रों में है। वे भारतीय समाज में अस्पृश्यता, जाति प्रथा और वर्ण व्यवस्था के व्याप्त सामाजिक भेदों के मूल कारण उनके धर्म ग्रन्थों में माना करते थे। उनकी यह खोज केवल प्राचीन भारतीय समाज तक सीमित नहीं थी बल्कि वे मानते थे कि चातुर्वर्ण्य समाज व्यवस्था का असर बींसवी शताब्दी के हिन्दुओं पर भी पूरा-पूरा है। इसमें उन्होंने जो महसूस किया वह यह था कि प्राचीन भारतीय वर्ण व्यवस्था सामाजिक थी जबकि अपने समय की वर्ण व्यवस्था को उन्होंने कुछ राजनीतिक भी बताया। उनके अनुसार "चाहे हम इस बात को माने या न माने परन्तु इस देश की राजनीति व्यवस्था चातुर्वण्य का प्रतिविम्ब है।"[25] उन्होने बताया कि शूद्र इस देश के शासन में कोई हिस्सेदारी नहीं रख रहे हैं। उनका मानना है कि वर्ण व्यवस्था में अस्पृश्य लोग सामाजिक रूप से शूद्र या अतिशूद्र थे। लेकिन उनके समय में उन्हें राजनीतिक रूप से शूद्र बनाया जा रहा है। उनके अनुसार वर्ण व्यवस्था के शूद्रों पर शासक वर्ग के सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक प्रभुत्व में राजनीतिक प्रभुत्व भी जोड़ा जा रहा है। मनुवादी व्यवस्था पर वे कहते है - "नया कानून आ जाने पर भी मनु धर्म के प्रचार करने पर कोई कानूनी रोक नहीं लगायी गयी है। यह बात सच है कि आज के न्यायालय मनु के धर्म को कानून के रूप में स्वीकार नहीं करते लेकिन कानून मनु के धर्म को कानून विरोधी भी घोषित नहीं करता।'[26] वे पूछते हैं कि - 'जब पंडित लोग

माता-पिता में और माता-पिता अपने बच्चों में इस मनु धर्म का लगातार प्रचार कर रहे हैं तो मनुस्मृति का समाज पर से असर कैसे समाप्त हो सकता है। जिस वर्ण व्यवस्था के हथियार से दलितों को और दलित बनाया गया, निम्न कोटि का समझा गया, शिक्षा से दूर रखा गया, स्वामित्व के अधिकार से वंचित रखा गया उसे कमजोर करना बहुत आसान काम नहीं है। यह भारतीय सामाजिक संरचना का प्राण तत्व है। यह सार्मथ्यवान लोगों के लिए आक्सीजन है। अम्बेदकर ने वर्ण व्यवस्था का जो विरोध किया उसका मूल कारण यह है कि वे समाज के सभी लोगों का भला चाहते थे। उनका विरोध उन नीतियों से था जो छल छद्‌म से समाज के बहुत बड़े जन समुदाय का अनेकों रूप से शोषण कर रही थी। धर्म और नीति सामाजिक व्यवस्था को सशक्त बनाने के लिए होते हैं, शोषण के लिए नहीं। दलितों की गरीबी का एक कारण वर्ण व्यवस्था भी है। प्रगतिवादी काव्यधारा का समय अम्बेदकर के जीवन का स्वर्णिम समय है। इसलिए अम्बेदकर की विचारधारा का साहित्यकारों के ऊपर अवश्य ही प्रभाव पड़ा है। अम्बेदकर सबकी प्रगति चाहते थे और प्रगतिवादी लेखक भी यही लक्ष्य लेकर चल रहे थे। संकीर्ण रुढ़िवादी मान्यताओं का विरोध दोनों ने किया। दलितों की पीड़ा दर्द घुटन एवं संत्रास देने वालों पर अम्बेदकर ने प्रहार किया तो प्रगतिवादी लेखकों ने भी।

2. जातिवाद :

डॉ0 अम्बेदकर ने हिन्दुओं की समाज व्यवस्था में जातिवाद की कभी प्रशंसा नहीं की। वे जाति व्यवस्था के विरोधी के रूप में जाने जाते हैं। उन्होंने 'एन्निहिलेशन आफ कास्ट' नाम से एक पुस्तक लिखी जिसे उनके समाज-दर्शन के घोषणा पत्र के रूप में जाना जाता है। इस पुस्तक में उन्होंने जातिवाद के सम्बन्ध में लिखा है- "जाति ने जनचेतना को मार दिया है। जाति ने जनकल्याण को पूरी तरह नष्ट कर दिया है। जाति ने जन जागरण को असम्भव बना दिया है। एक हिन्दू के लिए उसकी जनता अपनी जाति है। उसकी जिम्मेदारी अपनी जाति के लिए है। उसकी वफादारी उसकी अपनी जाति तक सीमित हैं उसके गुण जातीय गुण हो गये है। उसके शील उसके जातीय शील बनकर रह गये हैं। उसमें जरूरत मंदो के लिए कोई सहानुभूति नहीं है। जाति में योग्यता और गुण के लिए कोई स्थान नहीं है, गरीबों के लिए सहायता की भावना नहीं है। जाति में किसी के दुखों की कोई चिन्ता नहीं है। यदि दान और सहायता की भावना है तो वह जाति से शुरू होती है और जाति में ही समाप्त हो जाती है।"[27] आगे उन्होंने इसी बात को पुनः जोर देकर दोहराया है - "अपनी जाति से बाहर

के लोगों में मैरिट देखना और मानना एक हिन्दू की क्षमता में नहीं है। गुणों की प्रशंसा की जा सकती है परन्तु वह व्यक्ति अपना जाति भाई होना चाहिए। सारी नैतिकता एक आदिम नैतिकता के समान है कि मेरा जाति-भाई हो चाहे वह सही हो या गलत, मेरा जाति भाई हो चाहे वह अच्छा हो या बुरा। "[28] अम्बेदकर का मानना है कि सम्प्रदायिकता की तरह जातिवाद भी हिन्दू समाज की एक वास्तविकता है। इसका विरोध करना जितना आसान है क्रियान्वयन उतना ही अव्यावहारिक एवं कठिन है। भारत की जाति प्रथा के अस्तित्व में कोई खास बात है। जब उन्होंने यह समझ लिया कि जाति प्रथा को कमजोर तो किया जा सकता है पर खत्म नहीं तो उन्होंने अपने चिन्तन में कुछ बदलाव लाया और कहा - "जाति प्रथा नहीं मिट सकती तो न मिटे पर इसके सामाजिक दुर्गुणों को मिटाने में ही मानव समाज की भलाई है।"[29] अम्बेदकर ने उन लोगों को भी समझाया जो जाति प्रथा के पूरे खातमें की बात करते है। उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा कि- "कुछ लोग हैं जो यह तर्क पेश करते हैं कि हिन्दू समाज से जाति प्रथा को मिटाया जा सकता है। लेकिन मैं उनकी इस बात को स्वीकार नहीं करता। जो ऐसे विचार सामने रखते हैं वे शायद यह सोंचते है कि जाति प्रथा एक क्लब नगरपालिका या देशीय परिषद की तरह की कोई संस्था है। यह उनकी भारी गलती है। जाति प्रथा धर्म का मामला है और धर्म किसी भी संस्था से बड़ी चीज होती है।"[30] उन्होंने धर्म को जाति के सादृष्य में रखते हुए बताया है कि धर्म एक प्रभाव और शक्ति है जो हर व्यक्ति के चरित्र को मोड़ती है। उसकी क्रियाओं और प्रतिक्रियायों, चाहतों और गैर-चाहतों को निश्चित करती है। अम्बेदकर ने जातिवाद के सम्बन्ध में जो धारणा व्यक्त की उसका प्रगतिवादी लेखकों पर व्यापक असर पड़ा। साहित्यकार वैसे भी जातिविहीन विचार व्यक्त करता है। उसकी दृष्टि में सभी मानव समान है। ऊँच-नीच आदमी अपने कर्म से होता है। प्रगतिवादी काव्य धारा में दलितों के प्रति जो भी बातें कही गयी हैं अम्बेदकर का प्रभाव उस पर अवश्य है।

3. अस्पृश्यता :

डॉ0 अम्बेदकर आजीवन दलित समाज के उत्थान हेतु संघर्ष करते रहे। अस्पृश्यता को उन्होंने किसी भी सभ्य समाज के लिए उचित नहीं माना। उनके अनुसार अस्पृश्यता का मनु के धर्म से गहरा सम्बन्ध हैं। उन्होंने लिखा है - "मनु अस्पृश्यों को हिन्दू सामाजिक व्यवस्था से बाहर रखना चाहते थे। यह इसी बात से सिद्ध हो जाता है कि उन्होंने अस्पृश्यों को किस नाम से पुकारा है। उन्होंने

अस्पृश्यों को वर्ण बाह्य कहा है।"[31] डॉ0 अम्बेदकर ने खुले मंच से यह कहा कि अस्पृश्यता का जन्म हिन्दू धर्म ग्रन्थों से हुआ है। मनुस्मृति के आठ और विष्णु स्मृति में दो श्लोक ऐसे हैं जो वर्ण व्यवस्था से बाहर अस्पृश्यों के जन्म और उनके पेशों के बारे में बताते हैं -

1. "मुख बाहुरूपज्जानां या लोके जातयो वहिः।
मलेच्द्ववाचश्चार्य वचः सर्वे दस्यवः स्मृता।।"[32]

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और सूद्र-इन चार वर्णों से बाहर जितने लोग हैं, वे चाहे मलेच्छ भाषा बोलते हों, वे सब दस्यु कहलाते हैं।

2. "चैत्य द्रुमश्मशानेषु शैलेषु पवनेषु च।
वसेयुरेते विज्ञातो वर्तयन्तः स्वकर्मभि।।"[33]

ये गांव की सीमा पार के वृक्ष समूहों के नीचे, श्मशानों में, पर्वतों और वनें में अपने अलग-अलग पेशों के अनुसार जीवन निर्वाह करते हैं।

3. "चाण्डाल स्व पचानां तु वहिर्ग्रामात प्रति श्रयः।
अपपात्राश्च कर्तव्या धनमेषाम् श्वगदभम्।।"[34]

लेकिन चाण्डाल और श्वपच ये दोनों गांव के बाहर बसे। ये वर्तन आदि से वंचित है और इनका धन कुत्ते और गधे हैं।

4. "वामांसि मृत चैलानि भिन्ना भाण्डेषु भाजनम्।।
कार्ष्णाय मलंकार परिवृज्जा च नित्यशः।।"[35]

5. "न तैः तम यमन्विच्छेत्पुरुषो धर्ममाचरन।
व्यवहारो मिथस्तेषाम् विवाहः सदृशैः सह।।"[36]

6. "अन्मेषां पराधीनं देव स्यादभिन्न भाजने।
रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च।।"[37]

7. "दिवा चरेयु कार्यार्थ चिन्हिता राजशासनै।
अवान्धवं श्वं चैव निर्हरे युरिति स्थिति।।"[38]

8. "वध्यांश्च हन्युसततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञया।
वध्यवासांसि गृहणीयुः शय् याश्चा भरणानि च।।"[39]

9. "अन्त्यागमने बध्यः"[40]

10. "अस्पृश्यः कामकारेण स्पृशन

स्पृश्यं त्रैवाणिकं बध्यः।"[41]

इन श्लोकों के अध्ययन के बाद अस्पृश्यता के सम्बन्ध में उनकी धारणा बदल गयी। अस्पृश्यता को नये सिरे से परिभाषित करते हुए उन्होने लिखा -"अस्पृश्यता आन्तरिक तिरस्कार की बाहरी अभिव्यक्ति है जो एक हिन्दू किसी निश्चित व्यक्ति के बारे में महसूस करता है।"[42] अछूतों को समाज से पृथक रखा गया। यदि वे समाज में आकर मिलने की चाहत रखते तो उन्हें दण्डित किया जाता। अम्बेदकर कहते हैं -"अछूतों की यह पृथकता और अलगाव उनकी अपनी चाहत का परिणाम नहीं है। वे इसलिए दण्डित नहीं किये जाते कि वे मिलना नहीं चाहते। उलटे वे इसलिए दण्डित किये जाते हैं कि वे हिन्दुओं के साथ रहना चाहते हैं।"[43] उनका मानना है कि अछूतों को पृथक रखने केलिए अलग से धार्मिक हिदायते दी गयी हैं - "अछूत हिन्दू समाज के अंग नहीं है। यदि वे अंग भी हैं तो एक अलग ही अंग हैं और किसी पूर्ण या कोई हिस्सा नहीं है।"[44] कर्मकाण्डियों ने अस्पृश्यता को धर्म से भी जोड़ दिया। भारतीय समाज मजबूरी में अस्पृश्यता की गतिविधियों में शिथिलता बरतने को तो तैयार हो जाता है पर छोड़ने को तैयार नहीं होता क्योंकि वह यह मान बैठता है कि छुआछूत की भावना को त्यागना धर्म को छोड़ना है। इसलिए हमें यह मानकर चलना चाहिए कि हिन्दू समाज में छुआछूत तब तक प्रचलित रहेगा जब तक ऐसा धर्म कायम रहेगा। अन्त में अम्बेदकर ने यह स्वीकार कर लिया कि धर्म पर आधारित हिन्दुओं की अस्पृश्यता और जातिवादी समाज व्यवस्था जो अब तक इतने घातक आक्रमण सह चुकी है, कभी ढह जायेगी। प्रगतिवादी लेखकों के सामने एक साथ दो समाज दर्शन था - मार्क्सवाद एवं अम्बेदकरवाद मार्क्सवादी दर्शन से सर्वहारा वर्ग के कल्याण की रचना धर्मिता पायी तो अम्बेदकर वाद से मानव मुक्ति एवं जातिविहीन समाज की परिकल्पना पायी। सबको जीवन जीने का समान अधिकार मिले, सभी प्रसन्न रहे, शिक्षित हों बस और क्या चाहिए। मानव के साथ मानवीय दृष्टि से वर्ताव हो यही मानव दर्शन है और यही प्रगतिदर्शन भी है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भींमराव अम्बेदकर दलितों के परम हितैषी के साथ-साथ पथ प्रदर्शक भी थे। साउथ ब्यूरो कमीशन, साइमन कमीशन अथवा गोलमेज परिषदों में बाबा साहब द्वारा प्रस्तुत असपृश्यों की कैफियत, मूकनायक, बहिष्कृत भारत, 'जनता', 'समता' जैसी उनकी

पत्रिकाएं, 'बहिष्कृत' हितकारिणी सभा' 'मजूरपक्ष' 'शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन और 'रिपब्लिकन पक्ष' के बारे में उनका संकल्प कालाराम मंदिर का प्रवेश, महाड़ के चवदार तालाब का सत्याग्रह और मनुस्मृति का दहन, बाबा साहेब की सभाएं, सम्मेलन, परिषद उनके द्वारा स्थापित सिद्धार्थ कालेज अथवा मिलिन्द कालेज, भारतीय संविधान अथवा बौद्ध धर्म का स्वीकार, इन सभी में अम्बेदकर के सामाजिक न्याय का विचार ही प्रकट होता है।

छ. मार्क्स और अम्बेदकर के विचारों में समरूपता : दलित चेतना के सन्दर्भ में :

दलितों के प्रश्न केवल सामाजिक ही नहीं है आर्थिक भी हैं। अतः उनके सामाजिक एवं आर्थिक पक्षों पर एक साथ सुधार करने की आवश्यकता पड़ी। मार्क्सवाद में से अम्बेदकर बाद घटाकर अथवा अम्बेदकरवाद में से मार्क्सवाद कम कर दलित चेतना का मूल्यांकन किया जाय तो दलितों के हित के लिए कुछ भी नहीं बचता। दोनों के दर्शन में मौलिक अन्तर होते हुए भी काफी समरूपता है। आर्थिक विषमता समाप्त करने के लिए मार्क्स जहाँ शोषण आधारित पूंजीवाद को कमजोर करने की बात करते हैं तो सामाजिक विषमता को नष्ट करने के लिए अम्बेदकर वर्ण व्यवस्था पर चोट करते है। भारतीय सामाजिक वर्ण व्यवस्था पर गंभीरतापूर्वक चिन्तन करने से लगता है कि इसके पीछे-कहीं न कहीं एक मजबूत विषम अर्थ व्यवस्था काम कर रही है। इसलिए जाति अन्त का अम्बेदकरी विचार वर्ग अन्त की मार्क्सवादी धारणा में समन्वयात्मक एक रूपता होना अति आवश्यक है। दोनों विचार धाराओं में मनुष्य की शोषण से मुक्ति की बात की गयी हैं। लक्ष्य को पाने हेतु क्रान्ति एवं जागरण पर दोनों ने जोर दिया है। शिक्षा और संगठन पर भी दोनों की समदृष्टि है। समाज के आम आदमी की भलाई के लिए वर्ग संघर्ष एवं वर्ण संघर्ष की लड़ायी एक साथ लड़नी होगी। वर्ण व्यवस्था में से मुक्त हुआ दलित आर्थिक विषमता के बन्धन से कैसे मुक्त होगा, इस पर समदृष्टि से विचार करने की आवश्यकता है। दलित केवल अछूत है ऐसा नहीं है वह गरीब भी है। अस्पृश्यता के साथ-साथ उसकी गरीबी भी समाप्त होनी अति आवश्यक है। केवल छुआ-छूत नष्ट होने से दलितों की गुलामी समाप्त नहीं होगी इसके लिए वर्ग संघर्ष आवश्यक है। इसलिए सामाजिक संतुलन हेतु दोनों के विचारों को ध्यान में रखते हुए एक ऐसी समन्वयात्मक दृष्टि की आवश्यकता हैं जिसके चिन्तन के केन्द्र में समग्रता एवं एकरूपता एक साथ हो।

ज. प्रगतिवादी कविता में दलित चेतना का स्वरूप :

1. वर्ण व्यवस्था की संकीर्णता के प्रति विरोधात्मक स्वर :

हर समाज की अपनी एक संरचना एवं व्यवस्था होती है जिस पर उस समाज का वर्तमान आश्रित एवं भविष्य संभावित होता है। विश्व के अन्य देशों की सामाजिक संरचना की अपेक्षा भारतीय सामाजिक संरचना में बड़ी विविधता एवं जटिलता है। वर्ण व्यवस्था पर आधारित यहाँ की सामाजिक संरचना में व्यवस्था कम विसंगति अधिक है। यहाँ की जातिवाद की अतिवादी दृष्टि ने समाज को एकांगी बनाया तो ऊँच-नीच के भेदभाव एवं अस्पृश्यता की भावना ने ईर्श्या द्वेष का भाव पैदा किया। व्यक्ति का मूल्यांकन गुणवत्ता के आधार पर न करके जाति एवं जन्म के आधार पर किया गया। जाति श्रेष्ठ हो गयी, गुण एवं कर्म गौण हो गये। समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग जो सामाजिक दृष्टि से उपेक्षित और आर्थिक दृष्टि से दरिद्र था, समाज की मुख्य धारा से कट गया। परिणाम यह हुआ कि वह दलित और पद्दलित दोनों हो गया। प्रगतिवादी कवियों ने इस सामाजिक विसंगति को समझा और भारतीय दलित समाज को नये कलेवर में ढालने की कोशिश की। सुमित्रानन्दन पंत ने स्वीकार किया कि वर्ण एवं जाति की चहारदीवारी में बंधने से मानव समाज का भला होने वाला नहीं -

"वर्ण-वर्ण मे छिड़ा द्वन्द्व है
जाति-जाति से जूझ रही है
स्वार्थ किये हैं व्यग्र सभी को,
सुमति सुगति अब सूझ रही है।"[45]

पंत जी का मानना है कि शोषण की वृत्ति ने मानव को दानव बना दिया है-

"जाति वर्ण वर्गो में मानव जाति विभाजित,
अर्थ शक्ति से रक्त प्राण, जनगण के शोषित।
जीवन मंदिर के यत्रों के प्रेत प्रतिष्ठित
मानव के आसन पर दानव मुख अभिषेकित।"[46]

पंत जी कहते हैं कि इस कुव्यवस्था से संघर्ष करने की हर उस व्यक्ति को जरूरत है जो इसके शोषण का शिकार है -

1. "जाति वर्ण की श्रेणी वर्ग की तोड़ भित्तियाँ दुर्धर,

युग-युग के बन्दी गृह से मानवता निकली बाहर।"[47]

2. "गा कोकिल भर स्वर में कम्पन,
झरे जाति कुल वर्ण पर्ण धन,
अंध नीड़ से रूढ़ि-रीति छन,
व्यक्ति राष्ट्र गत राग द्वेष रण
झरे मरे विस्मृति में तत्क्षण।"[48]

पन्त जी कहते हैं कि जातिवदी जीर्ण विश्वासों एवं संस्कारों की सीमाओं को जब तक तोड़ा नहीं जायेगा, समाज के बहुसंख्यक दलित वर्ग का उत्थान होना संभव नहीं है। जाति, वर्ण एवं ऊँच-नीच की संकीर्ण मान्यताओं से ऊँचा कहीं 'राष्ट्रधर्म' है।"

1. "खोलो जीर्ण विश्वासों, संस्कारों के जीर्ण बसन,
रूढ़ियों, रीतियों, आधारों के अवगुंठन,
छिन्न करो पुराचीन संस्कृतियों के जड़ बन्धन,
जाति, वर्ण, श्रेणी वर्ग से विमुक्त जन-नूतन।"[49]

2. "क्षुधा तृषा औ स्पृहा काम से ऊपर
जाति वर्ग और देश, राष्ट्र से उठकर
जीवित स्वर में व्यापक जीवन मान
सद्यः करेगा मानव का कल्याण।"[50]

निराला जी कहते हैं कि अमीरों की हबेली जब तक किसानों एवं दलितों की पाठशाला नहीं बनेगी तब तक वर्ण व्यवस्था का ताला टूटने वाला नहीं है-

"जल्द-जल्द पैर उठाओ, आओ, आओ।
आज अमीरों की हबेली
किसानों की पाठशाला
धोबी, पासी, चमार, तेली
खोलेगें अंधेरे का ताला
एक पाठ पढ़ेंगे टाट बिछाओ। आओ-आओ।"[51]

दिनकर ने जातिवादी व्यवस्था पर व्यंग्य करते हुए लिखा -

"जाति-जाति रटते जिनकी पूंजी केवल पाखण्ड।
मैं क्या जानू जाति-जाति है, ये मेरे भुजदण्ड।
पढ़ो उसे जो झलक रहा है, मुझमें तेज प्रकाश।
मेरे रोम-रोम में अंकित है मेरा इतिहास।
किन्तु मनुज क्या रे? जनम लेना तो उसके हाथ नहीं।
चुना जाति और कुल अपने बस की है बात नहीं।"[52]

डॉ0 रामविलास शर्मा मानते हैं कि धरती पर जन्म लेने वाले की एक ही जाति होती है और वह है मानव जाति -

"धरती के पुत्र की,
होगी कौन जाति
कौन मत,
कहो कौन धर्म?
"धूलि भरा धरती का पुत्र है,
जोतता है, बोता है किसान इस धरती को,
मिट्‌टी का पुतला है।
मिट्‌टी के चिर संसर्ग में,
धरती के पुत्र के कितने ही मत,
और धर्म और जातियाँ हैं।
एक रस मटीले पन में छिपी है विषमता,
विचित्रता विश्व की,
रूढ़ियों के नियमों की,
अस्पष्ट विचारों की
चिन्हित है प्रेत रूप छाया
मटीले मुंह पर।"[53]

2. पूँजीवादी व्यवस्था का विरोध :

दलितों के दलित होने में जितना असर सामाजिक व्यवस्था का है उतना ही आर्थिक विषमता का भी है। दोनों व्यवस्थाओं ने दीमक की तरह दलितों को अन्दर से खोखला किया है। पूंजीवादी व्यवस्था का ही कारण है कि समाज शासक और शोषित दो भागों में बंट गया। इसके एकाधिपत्य के चलते समाज में वर्ग विषमता एवं अर्थ विषमता की स्थिति सदैव से रही है। पंत जी ऐसे पूंजीवाद का अन्त चाहते हैं जो भयंकर संत्रास एवं पीड़ा पैदा कर दे-

"वे नृशंस हैं वे जन के श्रम बल से पोषित,

दुहरे धनी जों जग के, भू जिनसे शोषित।

नहीं जिन्हें करनी श्रम से जीविका उपार्जित,

नैतिकता से भी रहते जो अतः अपरिचित।

शैया की कीड़ा-कन्दुक है जिनको नारी,

अहमन्य वे, मूढ़ अर्थ बल के व्यभिचारी।

सुरांगना, सम्पदा, सुराओं से संसेवित,

नर-पशु वेः भू भारः मनुजता जिनसे लज्जित।"[54]

वे पूंजी पतियों को हठी, दर्पी निरंकुश एवं निर्मम की संज्ञा से भी संवोधित करते हैं -

"दर्पी, हठी, निरंकुश, निर्मम, कलुषित, कुत्सित,

गत संस्कृति के गरल, लोक जीवन जिनसे मृत।

जग-जीवन का दुरूपयोग है, उनका जीवन,

अब न प्रयोजन उनका, अंतिम है उनके क्षण।"[55]

निराला की रचना 'बनबेला' पूंजीपतियों के ऊपर एक करारा व्यंग्य है। इसमें कवि ने चाटुकर कवियों, समाचार पत्रों एवं रूढ़ि मनोवृत्ति से ग्रस्त जनता के ऊपर भी अपनी व्यंग्यवाणी मुखरित की है। "कुकुरमुत्ता" में वर्णित गुलाब एवं 'कुकुरमुत्ता' दो वर्गो के प्रतीक है-

1. पूंजीपति या शोषक वर्ग

2. सर्वहारा वर्ग या शोषित वर्ग। निराला ने शोषण के प्रतीक गुलाब की जो आलोचना की है वह वास्तव में पूंजीपतियों की शोषण वृत्ति की आलोचना है-

"अबे, सुनबे गुलाब,

भूल मत जो पायी खुशबू, रंगो आब,

खून-चूसा खाद का तूने अशिष्ट,

डाल पर इतराता है कैप्टिलिस्ट

कितनों को तूने बनाया है गुलाम,

माली कर रखा, सहाया जाड़ा-घाम,

हाथ जिसके तू लगा,

पैर सर रखकर व पीछे को भगा

औरत की जानिब मैदान यह छोड़कर

तबेले को टट्टू जैसे तोड़कर

शाहों, राज़ों, अमीरों का रहा प्यारा,

तभी साधारणों से तू रहा नारा।"[56]

पूंजीवाद समाज की अधिकांश समस्यायों का जनक है। अतः इसके एकाधिकार को समाप्त अथवा कमजोर करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी हैं शिवमंगल सिंह सुमन पूंजीवादी व्यवस्था को दलितों एवं उपेक्षितों के लिए अभिशाप के रूप में मानते हैं -

"किसी दैव का है प्रकोप यह,

या अजगर ने चूस लिया है,

या मानव की दानवता

इसका जीवन लूट लिया है

यह पूंजीवादी समाज के

जुल्मों का जंजाल पड़ा है-

यह किसका कंकाल पड़ा है।"[57]

सुमन जी इस दुर्व्यवस्था से इतने अधिक क्षुब्ध थे कि इसे घृणित अपराध की श्रेणी में रखने की बात करने लगे थे -

"पर जिन्होंने स्वार्थवश जीवन विषाक्त बना दिया है,

कोटि-कोटि बुभिक्षितों का कौर तलक छिन लिया है,

लाभ-शुभ लिखकर जमाने का हृदय चूसा जिन्होंने,

विलखते शिशु की व्यथा पर दृष्टि तक जिसने न फेरी,

यदि क्षमा कर दूँ उन्हें धिक्कार माँ की कोख मेरी।

चाहता हूँ ध्वंस कर देना विषमता की कहानी,

हो सुलभ सबके जगत में वस्त्र, भोजन, अन्न पानी।"[58]

प्रगतिवादी कवियों का मानना है कि आर्थिक समानता आ जाने से जातिवादी शोषण से अपने आप मुक्ति मिल जायेगी।

3. दलितों के प्रति सहानुभूति एवं दया का भाव :

प्रगतिवादी कवियों ने दलितों को अपनी कविता का केन्द्र बिन्दु बनाकर इनके चरित्र में नवीनता लाने का प्रयास किया है। जीवन और समाज के बीच दलित शोषित, पीड़ित सामान्य उपेक्षित पात्रों की अहमियत को महत्व दिलाने में कोई कोर-कसर नहीं रखी है। किसान, मजदूर शिक्षक, विधवा एवं किसी न किसी रूप में दलित एवं उपेक्षित ही तो हैं। पन्त की 'वह बुड्ढा' शीर्षक कविता में दलितों के सहानुभूति का ही तो भाव है -

"उसका लम्बा डील-डौल है,

हट्टी कट्टी काठी चौड़ी

इस खण्डर में बिजली सी

उन्मत्त जवानी होगी दौड़ी।

बैठी छाती की हड्डी अब,

झुकी रीढ़ कमठा सी टेढ़ी

पिचका पेट, गढ़े कन्धों पर

फटी विवाई से है एड़ी।"[59]

निराला ने 'भिक्षुक' कविता में भिखारी की दीन-दशा के प्रति जो दया का भाव प्रकट किया है वह मानवीय सहानुभूति एवं करुणा का श्रेष्ठतम रूप है-

वह आता

दो टूक कलेजे को करता पछताता पथ पर जाता।

पेट-पीठ दोनों मिलकर है एक

चल रहा लकुटिया टेक

मुट्ठी भर दाने को, भूख मिटाने को

मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता।''[60]

'वह तोड़ती पत्थर' में दलित मजदूरिन की व्यथित एवं पीड़ित स्थिति को जो वर्णन निराला जी ने किया है वह उनके दलित प्रेम का ही द्योतक है -

''वह तोड़ती पत्थर

कोई न छायादार

पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार,

श्याम तन भर वंधा यौवन,

नत नयन, प्रिय कर्म-रत-मन,

गुरु हथौड़ा हाथ

करती बार-बार प्रहार

सामने तरु-मालिका अट्टालिका प्राकार।''[61]

शिवमंगल सिंह 'सुमन ने 'यह किसका कंकाल पड़ा है, नामक कविता में जो चित्रांकन किया है वह दलित मानव समाज की अत्यन्त दयनीय हालात को बड़े ही कटु सत्य के रूप में उद्घाटित करता है -

''भरी जवानी में ही इसके चेहरे पर पड़ गयी झुरियाँ

पीव पिचपिचाती शरीर में भनन-भनन कर रही मक्खियाँ

क्या मानव इस तरह निराश्रित

धरती पर बेहाल पड़ा है।''[62]

4. वर्गहीन समाज की स्थापना का संकल्प :

सुमित्रानन्दन पंत ने मार्क्सवादी एवं गांधीवादी विचारधाराओं की भावभूमि पर प्रतिष्ठित एक ऐसे वर्गहीन समाज के स्थापना की बात की है जिसमें समाज व्यवस्था को प्रमुखता प्राप्त हो और

सबको समान रूप से जीवन-जीने का अधिकार हो-

"ललकार रहा जग को भौतिक विज्ञान आज
मानव को निर्मित करना होगा नव समाज,
विद्युत और वाष्प करेंगे जन-निर्माण काज
सामूहिक मंगल हो समान, समदृष्टि राम।[63]

नरेन्द्र शर्मा का विश्वास है कि संसार में वर्ग और सम्प्रदाय का भविष्य, स्वतंत्रता, समानता तथा एकता की दृढ़ नीव पर ही निर्भर करेगा-

"खुल जायेंगी अब जाति-पांति और वर्ग सम्पदा की कड़ियाँ
सब देश-विदेश एक होंगे-पूरब-पश्चिम उत्तर-दक्खिन।"[64]

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' में वर्ग पर आधारित समाज व्यवस्था के स्थान पर नवीन समाज के निर्माण की तड़प इतनी अधिक है कि वे सूर्य,चन्द्र आकाश सब को नये रूप में देखते है -

1. "करो सृजन अभिनव जगती का
नव-नव सामाजिक संहति का
मानव को विमुक्त ऐसा हो
शुद्ध प्रयोग तुम्हारी मति का।"[65]

2. हम घर से निकले हैं गढ़ने
नव चन्द्र सूर्य नव-नव अम्बर,
नव वसुंधरा नव जन-समाज,
नव राज-काज, नव काल प्रहर।
दिक्काल नये, दिवपाल नये,
सब ग्वाल नये, सब बाल नये
हम सिरजेगें ब्रज भूमि नयी,
गोपियाँ नयी, गोपालं नये।"[66]

5. सामाजिक विषमता के प्रति आक्रोश का स्वर :

समाज में जो भी विषमता होती है, उसके उत्तरदायी समाज के लोग ही होते हैं। ऐसे लोग

पूरे समाज को अपनी जागीर समझते है। स्वार्थ सिद्धि के लिए अपनी गतिविधियों को ईश्वर एवं धर्म का चोला पहना देते हैं। पंत जी ऐसे घृणित कार्य से व्यथित होकर कहते हैं -

"यह तो मानव लोक नही रे, यह है नरक अपरिचित,
यह भारत का ग्राम-सभ्यता संस्कृति से निर्वासित।
झाड़ फूस के विवर, यहीं क्या जीवन शिल्पी के घर?
कीड़ों से रेंगते कौन ये? वुद्धि प्राण नारी नर?
अकथनीय क्षुद्रता, विवशता भरी यहाँ के जग में,
गृह-गृह में है कलह, खेत में कलह, कलह है मग में।[67]

दिनकर ने सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था पर आक्रोश व्यक्त करते हुए लिखा कि मनुष्य की जिन्दगी पशु से भी बदतर है -

"श्वानों को मिलता दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।
युवती के लज्जा वसन-बेंच, जब ब्याज चुकाएं जाते हैं।
मालिक तब तेल फुलेलों पर, पानी सा द्रव्य बहाते हैं।
पापी महलों का अहंकार, देता मुझको तब आमंत्रण।"[68]

बालकृष्ण शर्मा नवीन शोषित मानव समाज की दीन-दशा देखकर आक्रोशित हो उठते है -

"आज चतुर्दिक धधक रही है
अति विकराल भूख की होली
और बनी जन-गण की आँखे
फैली फटी भीख की झोली।
देखों छाती पर पत्थर रख,
वह समूह नर-कंकालों का।
देखों मुंह आ रहा है वह
भूखे-नंगे कंगालों का।"[69]

नवीन जी दलितों को सामाजिक विषमता से लड़ने हेतु जागरण का संदेश देते हुए कहते हैं-

"ओ भिख मंगे, अरे पराजित, ओ मजलूम, अरे चिर दोहित,

तू अखण्ड भण्डार शक्ति का, जाग अरे निद्रा-सम्मोहित,

प्राणों को तड़पाने वाली हुंकारो से जल-थल भर दे

अनाचार के अम्बारो में अपना ज्वलित पलीता धर दे।"[70]

सोहन लाल द्विवेदी मानते हैं कि जब तक सामाजिक विषमताओं पर गंभीरता से चिन्तन-मनन एवं व्यावहारिक क्रियावन्वयन नहीं किया जावेगा तब तक समाज का आर्थिक दृष्टि से दुर्बल व्यक्ति रोटी-रोटी की पुकार करता रहेगा-

"रोटी-रोटी की पुकार है

राहों में चौराहों में,

भात-भात की है गुहार

आहों में और कराहों में

कितने ही शव निकल चुके

मर कर भूखों की मारों में,

देख रहे अधमरे तुम्हें

डूबे हैं, रूद्र पुकारो में।"[71]

6. समता मूलक समाज की स्थापना हेतु नवीन जीवन-मूल्यों की आवश्यकता पर बल :

प्रगतिवादी काव्य धारा पर मार्क्स, गांधी और अम्बेदकर का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। समय और परिस्थिति के अनुसार जीवन मूल्य बदलते रहते हैं। मूल्यों का सम्बन्ध सामाजिक सरोकार एवं मानव की मनोवृत्ति से होता है। मनोवृत्तियाँ सामाजिक सोच की संरचना में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। लोकवादी दृष्टि और प्रेम की भावना मानव को मानव से जोड़ती ही है समान दृष्टि एवं भाव को भी जन्म देती है। पंत जी कहते हैं-

"जीवन मन से ऊपर, तुम नव जीवन में, नव मन में

मानवता को बांधो अभिनय एक्य मुक्ति बन्धन में।"[72]

'बृद्ध के प्रति' कविता में पंत जी नवीन आदर्शों की एवं मूल्यों की बात जब करते हैं तो

कहते हैं-

"आओ शांत, कांत, वर, सुन्दर
धरो धरा पर स्वर्ण युग चरण,
विचरो नव युग पांथ बुद्ध वन,
जन भू करता अभिवादन।
अणु रचना के भूति मंच पर
हो सुखान्त मानव युग का रण
तुमसे नव मानुष्य स्पर्श पा,
विष हो अमृत, मृत्यु नव जीवन।"[73]

पंत जी मानते हैं कि नयी विचार धारायें ही नये मूल्यों को जन्म देती हैं। वर्ग जाति एवं देश की संकीर्ण सीमा से उठकर जब तक विश्व कल्याण की बात न की जायेगी, तब तक समग्र मानव जाति के कल्याण की कामना करना बेईमानी होगी। शिवमंगल सिंह 'सुमन' प्राचीन ह्रासोनमुख मूल्यों एवं आदर्शों के प्रति अपनी अनास्था व्यक्त करते हुए नवीन जीवन मूल्यों एवं आदर्शों के स्थापना की बात करते हैं -

"प्राचीन नीव पर नहीं
उठायी जायेगी दीवार
कुछ और दूर गहरायी तक
जाने का आज विचार।"[74]

नरेन्द्र शर्मा प्रेम और मानवता को समता मूलक समाज के निव निर्माण के लिए उपादेय तत्व मानते हैं -

"व्यापक प्रेम बिना संभव कब
पूर्ण कांति प्रियदर्शिन?
संघर्षण से नहीं उपजती
ज्वाला वह मधुवर्षिणि।"[75]

7. धर्मान्धता की आलोचना :

धर्म समाज को गति एवं दिशा प्रदान करता है तो मनुष्य को महान बनाता है। लेकिन धर्म को जब कट्टरवाद, अन्ध विश्वास एवं कर्मकाण्ड से जकड़ दिया जाता है। तो वही मानव समाज के लिए अहितकारी हो जाता है। निराला जी ने हिन्दू जनमानस में फैली धर्मान्धता पर व्यंग्य करते हुए लिखा है -

"मेरे पड़ोस के वे सज्जन,
करते प्रतिदिन सरिता मंज्जन
झोली से पुए निकाल लिए,
बढ़ते कपियों के हाथ दिये,
देखा भी नहीं उधर फिर कर,
जिस ओर रहा वह भिक्षु इतर,
चिल्लाया किया दूर दानव,
बोला मै-धन्य श्रेष्ठ मानव।"[76]

निराला जी कहते हैं कि यह कैसी धार्मिक आस्था है जो भूखे मानव को रोटी के लिए तो तड़पाती है और बन्दर को माल पुआ खिलाती है। राँगेय राघव को धार्मिक ढोंग से इतनी अधिक घृणा है कि वे भगवान को ही चुनौती दे डालते हैं -

"युगों से देखता हूँ,
स्वयं लीलय मय वह भगवान-
हटा पाया है नहीं शैतान
मेरी इस धरणि से,
इसलिए मैं कर रहा हूँ
आज यह विद्रोह।"[77]

शिवमंगल सिंह 'सुमन' ईश्वर एवं पूजन अर्चन में अपनी अनास्था व्यक्त करते हैं -

"ईश्वर ईश्वर में आज पड़ गया अन्तर
टुकड़ों-टुकड़ों में बंटा मनुजता का घर

ली ओढ़ धर्म की खोल, पर हृदय सूना

पूजन, अर्चन सब व्यर्थ देवता पत्थर।"[78]

8. सत्ता की शोषण नीति की आलोचना :

प्रजा का स्वामी प्रजा का पालक एवं रक्षक होता है। उसकी नीतियों में राष्ट्र एवं समाज का भविष्य छिपा होता है। सत्ता भोग की नीति समाज को अधोगति की ओर ले जाती हैं ऐसी शासन नीति जो मानव समाज की रक्षा करने के बजाय उत्पीड़न करे, समरसता की बजाय विभेद पैदा करे, विकास के बजाय विनाश करे, सृजन के बजाय विद्धंस करे, का विरोध दलित समुदाय को करना चाहिए। रांगेय राघव ने ऐसी शोषण नीति पर व्यंग्य करते हुए लिखा है -

"पर आज राम को जाग्रत होना होगा,

रावण का दम्भ गिराकर बढ़ना होगा।

वैदेही को फिर मुक्ति दिलानी होगी,

सुग्रीव! प्रतिज्ञा आज निभानी होगी।

जागो राघव! यह सृष्टि काँप जायेगी,

प्रत्यंचा की टंकारों से कांपेगी,

तुम जन-मन रक्षक वीर, धनुष कर में लो,

मानव मैत्री की उल्का नभ में चमको।"[79]

शिवमंगल सिंह 'सुमन' ऐसी शोषण नीति के विरुद्ध विद्रोह की बात करते हैं-

"कुत्ते के पंजो से आहत

जर्जर तन बल हीन

श्वान झपट ले जाता होगा

मुंह की रोटी छीन

बीन सड़ा मैला नाली का

मुंह मे लेता डाल

भूख-भूख ने मिटा दिया है

भले बुरे का ख्याल।"[80]

9. रूढ़िवादी व्यवस्था एवं मान्यता का विरोध :

रूढ़िवादी रूढ़ियाँ एवं संस्कार मानव समाज के विकास में अवरोध पैदा करते हैं। प्रगतिवादी कवियों ने इसीलिए इनका समय-समय पर विरोध किया है। पंत जी ने प्राचीन रूढ़ियों का विरोध करते हुए लिखा है-

"खोलो जीर्ण विश्वासों, संस्कारों के शीर्ण वसन,
रूढ़ियों रीतियों, आचारों के अवगुंठन
× × × × ×
विश्व सभ्यता का शिलान्यास करें भव शोभन।
देश राष्ट्र मुक्त धरणि पुण्य तीर्थ हो पावन।"[81]

शिवमंगल सिंह सुमन नये जमाने के हिसाब से नवीन मान्यताओं की बात करते हैं। ऐसी मान्यताएं है जो वर्तमान समाज के लिए मंगलमय न हो, उन्हें त्याग देने में हमें संकोच नहीं करना चाहिए-

"नव भवन निर्माण हित मैं जर्जरित प्राचीनता का,
गढ़ ढहाता जा रहा हूँ
पर तुम्हें भूला नहीं हूँ।"[82]

10. दासता से मुक्ति का भाव :

दासता किसी भी प्राणी के लिए सबसे बड़ा अभिशाप होती है। दासता से दास की चेतना मर जाती है। प्राचीनकाल से ही दलितों के साथ दासता जैसा ही बर्ताव किया जाता रहा। चूंकि प्रगतिवादी काव्यधारा के विकास के समय हिन्दुस्तान गुलाम था, इसलिए स्वतंत्रता आन्दोलन के मूल में राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना मुख्य उद्देश्य था। डॉ0 अम्बेदकर ने दलितों को सम्बोधित करते हु कहा था - स्वतंत्रता आन्दोलन सत्ता हस्तान्तरण दलितों को अपने अस्तित्व, अस्मिता एवं अधिकार के लिए सामाजिक व्यवस्था की गुलामी के खिलाफ एक लड़ायी और लड़नी होगी। शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने सदियों की दासता से मुक्ति हेतु आवाहन करते हुए लिखा-

"युग की वाणी बन ललकारों
बलि की शुभ बेला आ पहुँची

बलिदानी आज परीक्षा दो

बलि की शुभ बेला आ पहुँची।"[83]

11. संगठन पर जोर :

संगठन शक्ति का प्रतीक है। सत्ता के स्वार्थी एवं लोलुप सत्ता प्राप्ति के लिए संगठन में भेद पैदा करते हैं। भारत की एक हजार वर्षों की गुलामी संगठन में विभेद एवं कमजोरी का ही परिणाम है। जाति, सम्प्रदाय, वर्ग छुआ-छूत की मनोवृत्ति संगठन को कमजोर करती है। डॉ0 रामविलास शर्मा ने नवजवानों का अवाहन करते हुए लिखा -

"हड्डी-हड्डी है चूर, जला सब खून,

अडिग है फिर भी सूखे तन में इस्पाती मन।

दानव ने आज चुनौती दी है नव युवकों को

आओ यह पहाड़-सा भार उठाओ।

दुर्भिक्ष महामारी से दुष्ट लुटेरों से,

आओ यह अपना प्यारा देश बचाओ।

ऐ नव जवान भारत के।

गरम लहू को आज चुनौती है, सब मिलकर

भार उठाओ।"[84]

शिवमंगल सिंह 'सुमन' भारत ही नहीं विश्व के दलितों के हित की बात करते हैं। उनका मानना है कि संगठित होने से ही शोषण से मुक्ति मिलेगी -

"आओ, उट्ठो, करो तैयारी

वाकी अभी तुम्हारी बारी

आहुति लाओ,

आज दीप से दीप जलाओ

हाथ बढ़ाओ, लो मशाल, आगे बढ़ जाओ,

दुनिया भर के पद-दलितों का हाथ बंटाओ।"[85]

संगठित होने से शक्ति तो मिलेगी ही, पद्दलितों के बीच नयी विकासोन्मुखी संस्कृति का जन्म

होगा-

"नव संस्कृति के अग्रदूत हैं

पददलितों की आश

एक तुम्हारी गति पर अटकी

मानवता की श्वांस

× × ×

पर अजेय है आज तुम्हारी

पहले से भी शक्ति

जिसमें मिली विश्व भर के

दलितों की अनुरक्ति।"[86]

12. कृषक वर्ग के प्रति सहानुभूति :

कृषक किसी भी देश और समाज के विकास की रीढ़ होते हैं। हमारे देश में कृषकों को वह सम्मान नहीं मिलता तो विश्व के अन्य देशों में मिलता है। सामंतवादी शक्तियाँ किसानों के श्रम एवं शक्ति का दोहन करते हैं। हमारे देश में दलितों की मुख्य रूप से दो कोटियाँ हैं - 1. जाति से दलित 2. अर्थाभाव से दलित। दिनकर ने भारतीय किसान की दीन-दशा का वर्णन करते हुए लिखा है -

"आहें उठी दीन कृषकों की,

मजदूरों की तड़प पुकारें

अरी! गरीबों के लोहू पर

खड़ी हुई तेरी दीवारें।"[87]

दिनकर का मानना है कि किसान का सबसे अधिक शोषण हुआ है क्योंकि ईमानदारी में उसका विश्वास है और मेहनत में आस्था है। छल कपट से उसका दूर-दूर का नाता नहीं। अशिक्षित होने के कारण सामंत अथवा जमींदार उसकी वफादारी का नाजायज फायदा उठाते हैं -

'जेठ हो कि हो पूस, हमारे

कृषकों को आराम नहीं है,

छुटे बैल के संग, कभी

जीवन में ऐसा काम नहीं है।

मुख में जीभ, शक्ति भुज में-

जीवन में सुख का काम नहीं है,

वसन कहाँ? सूखी रोटी भी-

मिलती दोनों शाम नहीं है।"[88]

शिवमंगल सिंह 'सुमन' अधिकारों के लिए किसानों एवं दलितों से संघर्ष की बात करते हैं -

"तुम गरजो आज प्रलय होगी

शोषक वर्गों की क्षय होगी

दुनिया के कोने-कोने से

मजलूमों की जय-जय होगी

अत्याचारी की छाती पर तुम चढ़े चले तुम चढ़े चलो

मजदूर किसानों बढ़े चलो।"[89]

13. साम्प्रदायिकता का विरोध :

भारतीय संस्कृति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता उसकी विविधता है। हमारे यहाँ अनेकों धर्म एवं सम्प्रदाय के लोग रहते हैं। सबको अपनी संस्कृति एवं धर्म के आधार पर जीवन जीने का अधिकार प्राप्त है। समस्या तब पैदा होती है जब एक सम्प्रदाय के लोग दूसरे सम्प्रदाय पर अपने धर्म एवं संस्कृति को थोपना चाहते हैं। सत्ता के ठेकेदारों एवं कट्टरवादी धर्मावलम्बियों ने साम्प्रदायिकता की ऐसी नफरत पैदा कर दी है जो घातक के साथ-साथ विद्धंसक भी है। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के समझौते के असफल होने पर दिनकर ने लिखा -

"मुस्लिमों! तुम चाहे जिसकी जबाँ,

उस गरीबिन ने जबाँ खोली कभी?

हिन्दुओ! बोलो तुम्हारी याद में

कौम की तकदीर क्या बोली कभी?

छेड़ता आया जमाना, पर कभी

कौम ने मुंह खोलना सीखा नहीं,

खूँ बहाया जा रहा इंसान का

सींग वाले जानवर के प्यार में

कौम की तकदीर फोड़ी जा रही

मस्जिदों की ईंट की दीवार में।"[90]

स्वतंत्रता आन्दोलन के समय 'नोआखाली' में सर्वप्रथम साम्प्रदायिकता का जो नंगा नाच हुआ उसे कौन सम्वेदनशील नागरिक नहीं जानता। दिनकर ने उस साम्प्रदायिकता की आग की लपटों का बड़ा ही दर्दनाक वर्णन किया है -

"नारी-नर जलते साथ, हाय! जलते है माँस, रुधिर अपने,

जलती है वर्षों की उमंग, जलते हैं सदियों के सपने

ओ वदनसीव! इस ज्वाला में, आदर्श तुम्हारा जलता है?

समझायें कैसे तुम्हे कि भारत वर्ष तुम्हारा जलता है?

जलते हैं हिन्दू-मुसलमान भारत की आँखे जलती हैं?

आने वाली आजादी की, लो दोनों पाँखे जलती हैं?"[91]

बालकृष्ण शर्मा नवीन साम्प्रदायिकता की जड़ धार्मिक उन्माद को मानते हैं -

"आस्तिक जन भी तो होते हैं, अति प्रलयंकारी विपलवकारी

औ जड़वादी भी होते हैं, अति विकराल क्रान्ति ध्वजधारी।

तब फिर, क्यों आपस का झगड़ा? क्यों आपस की खैचातानी?

सामर्थ्यों का दुरुपयोग क्यों? तब क्यों यह इतनी मनमानी?"[92]

शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने साम्प्रदायिकता के दुष्परिणाम पर चिन्ता व्यक्त करते हुए लिखा कि साम्प्रदायिकता से जन और धन की तो हानि होती ही है इतिहास और संस्कृति के चेहरे पर काले धब्बे पड़ जाते हैं। विकास की जगह दरिद्रता का जन्म हो जाता है। अर्थात व्यक्ति और समाज दोनों अधोगति को प्राप्त होते हैं -

"ये छल-छंद शोषकों के हैं, कुत्सित ओछे गंदे

तेरा खून चूसने को ही ये दंगो के फंदे।"[93]

नरेन्द्र शर्मा की दृष्टि में मनुष्य पहले इंसान है, हिन्दू और मुसलमान तो बाद में है। वे दोनों

को जागृति का संदेश देते हैं और दोनों का भला चाहते हैं -

"जन क्रांति जगाने आयी है, उठ, हिन्दू ओ मुसलमान
संकीर्ण भेद-संदेह त्याग, उठा महादेश के महाप्राण।
क्या पूरा हिन्दुस्तान न यह, क्या पूरा पाकिस्तान नहीं
मैं हिन्दू हूँ तुम मुसलमान पर क्या दोनों इंसान नहीं?"[94]

14. मानव की महत्ता :

मनुष्य का जन्म स्वतंत्र होता हैं। वर्ण, जाति, धर्म, सम्प्रदाय के बन्धन में तो वह बाद में बंधता है। ये सारे बन्धन सामाजिक व्यवस्था की देन है। पंत जी की दृष्टि में मनुष्य सबसे सुन्दर प्राणी है मानव तुम सबसे सुन्दरतम। निराला जी ने मानव की अपरिमित शक्ति पर विश्वास करते हुए उसे ब्रहम सुदृश्य माना है -

"तुम हो महान, तुम सदा हो महान,
है नश्वर यह दीन भाव
कायरता काम परता,
ब्रहम हो तुम
पदरज भर भी है नहीं पूरा यह विश्व भार।"[95]

15. क्रांति का आवाहन :

हिन्दू शास्त्रों एवं ग्रंथो में लिखा है कि अन्याय होते-होते जब पृथ्वी पर पाप बढ़ जाता है तो उसके विनाश के लिए ईश्वर का अवतार होता है। उसी प्रकार प्रशासनिक एवं सामाजिक व्यवस्था में जब भ्रष्टाचार, अनाचार एवं शोषण बढ़ जाता है तो जनता अन्याय के खिलाफ क्रांति एवं संघर्ष करती हैं। ब्रिटिश हुकूमत के अन्याय के प्रति क्रान्ति का आवाहन करते हुए दिनकर ने लिखा है -

"कह दे शंकर से आज करें वे प्रलय-नृत्य फिर एक बार,
सारे भारत में गूंज उठे, 'हर-हर वम' का फिर महोचार।
ले अंगड़ाई उठ, हिले धरा, कर निज विराट स्वर में निनाद,
तू शैल-राट! हुंकार भरे, फट जाय कुहा, भागे प्रसाद।"[96]

बालकृष्ण शर्मा नवीन की मान्यता है कि राजनीतिक क्रांति तभी सफल होती है जब इस क्रान्ति

के पहले सामाजिक क्रान्ति जैसी कोई बात हो चुका है जैसे जमीन की बिना उर्वराशक्ति के पौधे का विकास अच्छी तरह से नहीं होता, वैसे ही बिना सामाजिक जागरण के राजनीतिक क्रांति को शक्ति नहीं मिल पाती। सामाजिक क्रान्ति अकस्मात नहीं होती। उसके बीज समाज के बीच में ही अंकुरित होते हैं। सामाजिक क्रांति अधिकार बोध से जुड़ी होती है -

"आओ क्रांति, बलाये ले लूँ, अनाहूत आ गयी भली,

बास करो मेरे घर-आँगन, विचरो मेरी गली-गली,

सड़ी गली परिपाटी मेरी, इसे भस्म तुम कर जाओ,

विकट राज पथ में मडराओ, इसे भस्म तुम कर जाओ।"[97]

साहित्यकार त्रिकालदर्शी होता है उसकी दृष्टि में समरसता एवं समरूपता का भाव होता हैं। इसीलिए उसकी सोच में मानव हित सर्वोपरि होता है। विषमता एवं विसंगति से लड़ने की वह शक्ति पैदा करता है। दलित हमारे समाज के ही अंग हैं इसलिए उन्हें भी जीवन जीने का अधिकार मिलना चाहिए।

16. नारी के प्रति नवीन दृष्टिकोण :

भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत व्यावहारिक जीवन में नारी को पुरुषों जैसी स्वतंत्रता नहीं थी। वह अनादिकाल से पुरुषों की पराश्रित रही है। सदियों से शोषित पीड़ित दलित नारी के मुक्ति का आवाहन करते हुए पंत ने लिखा है -

"मुक्त करो नारी को मानव!

चिरवन्दिन नारी को,

युग-युग की बर्वर कारा से

जननि सखी प्यारी को।"[98]

नारी के कल्याण में ही समाज और परिवार का कल्याण है। क्योंकि मानव सृष्टि का जन्म उसी की कोख से होता है। इसलिए नारी को योनि स्तर से ऊपर उठाकर पूर्ण स्वाधीनता प्रदान करने की जरूरत हैं। भेद करना तुच्छता है -

"नर-नारी का तुच्छ भेद है,

केवल युग्म विभाजन

उसे मानवी का गौरव दे,

पूर्ण सत्व दो नूतन।''[99]

दलित मजदूरनी की गतिविधियों को जब पन्त जी देखते हैं तो बड़े दुखी होते हैं, उसके प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करते हुए सलाह दे डालते हैं -

''नारी की संज्ञा भुला, नरो के संग बैठ

चिर जन्म सुहृद-सी जन हृदयों मे सहज पैठ,

जो बंटा रही तुम जग-जीवन का काम-काज,

तुम प्रिय हो मुझे, न छूती तुमको काम-लाज।''[100]

निराला जी की भी दृष्टि दलित नारी के प्रति बहुत साफ सुथरी है। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं दलित नारी घृणा वं ईर्श्या की नहीं सहानुभूति एवं सम्मान की पात्रा है, उसका शोषण नहीं बल्कि उसे शक्ति एवं सम्बल प्रदान करने की आवश्यकता है। आखिर विधवा हो जाने में उसका क्या दोष है। यह तो काल चक्र है। आगे-पीछे सभी के साथ ऐसा होना है। इसलिए उसका सामाजिक बहिष्कार नहीं बल्कि उसको सामाजिक सहयोग की आवश्यकता है-

''वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी

वह दीप शिखा सी शांत, भाव में लीन

वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति रेखा सी

वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन-

दलित भारत की ही विधवा है।''[101]

जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द मानते हैं कि नारी स्वयं अपने शोषण की जिम्मेदार एवं दलित होने का कारण है। प्रगतिशील नारी को चोली-चीर उतारकर मर्दों के साथ संघर्ष करने की जरुरत है। उसका भविष्य याचना से नहीं, संघर्ष से संवरेगा। उसे यह समझना होगा कि अधिकार याचना में नहीं मिलता, उसे संघर्ष करके छीनना पड़ता है। पराश्रित रहकर नारी बहुत दिनों तक सुरक्षित नहीं रह सकती। उसे सुरक्षा का भाव और हिम्मत अपने अंदर जगानी होंगी। क्रान्ति की ज्वाला से जड़ता, आडम्बर एवं शोषण को भस्म करना होगा तभी नारी एवं उसके समाज का उत्थान होगा-

''कर पदाघात अब मिथ्या के मस्तक पर

सत्यान्वेषण के पथ पर निकलो, नारी।
तुम बहुत दिनों तक बनी दीप कुटिया की,
अब बनो क्रांति की ज्वाला की चिनगारी।
जड़ता आडम्बर, शोषण का भीषण बन
वह ज्वाला सुलगा, उसे शीघ्र जलाओ,
साकार मूर्ति तुम सृजन-साधना की भी
फिर नयी नींव पर नया समाज बनाओ।[102]

नरेन्द्र शर्मा नारी को शक्ति का अवतार मानते हैं। दूसरों को जन्म और जीवन देने वाली नारी अपनी उदारवादी दृष्टि के कारण अपने ही देश और समाज में पद्दलित है। शक्तिमान होते हुए भी दलित जीवन बिता रही है। कितनी बड़ी विडम्बना है। शर्मा जी कहते हैं कि बहुत हो गया, उठो, जागो और अपनी शक्ति को पहचानो। समाज तुम्हारी तरफ टकटकी निगाह से आस लगाये देख रहा है -

"बनो पुनः चैतन्य लपट,
ओ भस्मावृत चिनगारी
अमिय-हलाहल-मद मय-नयना
तुम भारत की नारी।"[103]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्रगतिवादी काव्य में दलित चेतना का आधार बड़ा व्यापक था। इसकी व्यापकता और गहरायी के कारण दलित चेतना नये कलेवर एवं नयी चेतना के रूप में उभर कर आयी जो भावी दलित लेखकों के लिए मार्गदर्शन बनी।

सन्दर्भ

1. डॉ0 कृष्णलाल हंस : प्रगतिवादी काव्यधारा, पृ0-16
2. प्रेमचन्द (सं0) : हंस, जनवरी, 1936
3. वही
4. वही
5. प्रेमचन्द : साहित्य का उद्देश्य, पृ0 10
6. वही, पृ0 8
7. वही, पृ0 9-10
8. डॉ0 कृष्णलाल हंस : प्रगतिवादी काव्य साहित्य, पृ-20
9. शिवदान सिंह चौहान : प्रगतिवाद, पृ0 336
10. वही, पृ0 337
11. साहित्य सन्देश, जनवरी-फरवरी, अंक-1954
12. हिन्दी साहित्य कोश, पृ0 468
13. प्रगतिवाद : एक समीक्षा, पृ0 7
14. प्रगतिवाद की रूपरेखा, पृ0 2
15. शिवकुमार मिश्र : प्रगतिवाद, पृ0 21-22
16. श्यामनन्दन किशोर : आधुनिक साहित्य-शोधात्मक निष्कर्ष, पृ0 28-29
17. साहित्य संदेश, जनवरी-फरवरी अंक 1954
18. शिवकुमार शर्मा : हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ, पृ0 533
19. शरण कुमार लिबांले : दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र, पृ0 64
20. वही, पृ0 65
21. वही, पृ0 65
22. वही, पृ0 65-66
23. धर्मवीर : डॉ0 अम्बेदकर के प्रशासनिक विचार, पृ0 11
24. वही, पृ0 11

25. बाबा साहेब अम्बेदकर : राइटिंग एण्ड स्पीचेज, खण्ड-2, पृ0 256

26. वही, खण्ड-5, पृ0 285

27. वी0आर0 अम्बेदकर : एन्निहिलेशन आफ कास्ट, पृ0 53-54

28. वही, पृ0 54

29. धर्मवीर : अम्बेदकर के प्रशासनिक विचार, पृ0 30

30. वी0आर0 अम्बेदकर : मिस्टर गांधी एण्ड दि एमन्सिवेशन आफ दि अन्टचेवलस, पृ0 54

31. बाबा साहेब अम्बेदकर : राइटिंग एण्ड स्पीचेज, खण्ड-5, पृ0 169

32. मनुस्मृति, 10.45

33. वही, 10.50

34. वही, 10.51

35. वही, 10.52

36. वही, 10.53

37. वही, 10.54

38. वही, 10.55

39. वही, 10.56

40. विष्णु स्मृति, 5.43

41. वही, 5.104

42. बाबा साहेब अम्बेदकर : राइटिंग एण्ड स्पीचेज खण्ड-5, पृ0 169

43. वही, पृ0 5

44. वही, पृ0 169

45. सुमित्रानन्दन पंत : सवर्ण किरण से

46. वही,

47. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 159

48. वही, पृ0 160

49. समित्रानन्दन पंत : उद्‌बोधन से

50. वही, युगवाणी से

51. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 159

52. दिनकर : रश्मिरथी से

53. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 164

54. सुमित्रानन्दन पंत : धनपति, युगवाणी, पृ0 31

55. वही, पृ0 31

56. निराला : कुकुरमुत्ता, पृ0 39-40

57. शिवमंगल सिंह सुमन : यह किसका कंकाल पड़ा है, पृ0 95-96

58. वही, मै बढ़ता ही जा रहा हूँ, पृ0 5-6

59. सुमित्रानन्दन पंत : ग्राम्या, पृ0 29

60. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला : भिक्षुक कविता से।

61. वही, अनामिका, पृ0 79

62. शिवमंगल सिंह सुमन : यह कैसा कंकाल पड़ा है, पृ0 95

63. सुमित्रानन्दन पंत : ग्राम्या, पृ0 92

64. नरेन्द्र शर्मा : जागरण नयन जावा, हंसमाला, पृ0 46

65. बालकृष्ण शर्मा नवीन : हम विषपायी जनम के, पृ0 478

66. वही, पृ0 485-486

67. सुमित्रानन्दन पंत : ग्राम्या, पृ0 16

68. दिनकर : हुंकार, पृ0 45-46

69. बालकृष्ण शर्मा नवीन : हम विष पायी जनम के, पृ0 542

70. वही, पृ0 494

71. सोहनलाल द्विवेदी : प्रभाती, पृ0 77

72. सुमित्रानन्दन पंत, युगपथ, पृ0 132

73. वही, वाणी, पृ0 128

74. शिव मंगल सिंह सुमन : विश्वास बढ़ता ही गया, पृ0 110-111

75. नरेन्द्र शर्मा : अग्निशस्य, पृ0 81

76. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला : अनामिका, पृ0 25

77. सुलोचना रांगेय राघव (सं0) : रागेय राघव, ग्रन्थावली, खण्ड-1, आततायी, पृ0 44-45

78. शिवमंगल सिंह सुमन : विश्वास बढ़ता ही गया, पृ0 59

79. सुलोचना रांगेय राघव (सं0) : रागेय राघव ग्रंथावली, खण्ड-9, पृ0 79

80. शिवमंगल सिंह सुमन : प्रलय सृजन, पृ0 80

81. सुमित्रा नन्दन पंत, ग्राम्या, पृ0 99

82. शिवमंगल सिंह सुमन : विश्वास बढ़ता ही गया, पृ0 6

83. वही, प्रलय-सृजन, पृ0 56

84. रामविलास शर्मा : तारसप्तक, पृ0 242

85. शिवमंगल सिंह सुमन : विश्वास बढ़ता ही गया, पृ0 30-31

86. वही, प्रलय सृजन, पृ0 58-59

87. दिनकर : हुंकार, पृ0 37

88. वही, पृ0 20

89. शिवमंगल सिंह सुमन : जीवन के गान, पृ0 93

90. दिनकर : हुंकार, पृ0 55-56

91. वही, सामधेनी, पृ0 35

92. बालकृष्ण शर्मा नवीन : हम विषपायी जनम के, पृ0 476

93. शिवमंगल सिंह सुमन : विश्वास बढ़ता ही गया, पृ0 56

94. नरेन्द्र शर्मा : हिन्दू मुसलमान, हंस माला, पृ0 18

95. निराला : जागो फिर एक बार, परिमल,पृ0 158

96. दिनकर : हुंकार, पृ0 85

97. बालकृष्ण शर्मा नवीन : हम विष पायी जनम के, पृ0 441

98. सुमित्रानन्दन पंत, युगवाणी, पृ0 46

99. वही, पृ0 46

100. वही, ग्राम्या, पृ0 84

101. निराला : परिमल, पृ0 98

102. जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द : भूमिका, अनुभूति, पृ0 26

103. नरेन्द्र शर्मा : अग्नि शस्य, पृ0 65

चतुर्थ अध्याय

"प्रयोगवादी काव्य में दलित चेतना"

क. प्रयोगवादी काव्य का जीवन-दर्शन :

मनुष्य परिस्थितियों का दास होता है, और स्वामी भी। कवि अथवा साहित्यकार का जन्म समाज के ही बीच में होता है इसलिए हो रहे परिस्थिति जन्य सामाजिक बदलाव का प्रभाव उसके ऊपर भी पड़ता है। वह अपने जीवन को बड़ी ईमानदारी एवं कर्तव्य बोध से जीता है इसलिये उसकी जीवन कला और चिन्तन मनन आम आदमी से कुछ भिन्न होता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस तरह के कई बदलाव देखने को मिलते हैं। प्रगतिवादी काव्यधारा अभी अपने चरमोत्कर्ष को भी नहीं प्राप्त कर पायी थी कि सन 1943 में अज्ञेय जी के संपादकत्व में तारसप्तक का प्रकाशन हुआ। इसमें सात कवियों - "गजानन माधव मुक्ति बोध' नेमिचन्द, भारत भूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजा कुमार माथुर, रामविलास शर्मा और अज्ञेय, की कविताएं संकलित हुई। इस काव्य संग्रह के प्रकाशन के साथ ही काव्य में एक नयी प्रवृत्ति का जन्म हुआ जिसे कालान्तर में प्रयोगवाद नाम दिया गया। अज्ञेय ने तारसप्तक के वक्तव्य में लिखा है - "प्रयोग सभी कालों के कवियों ने किये हैं किन्तु कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए है, आगे बढ़कर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिए जिन्हें अभी छुआ नही गया था, जिनको अभेद्य मान लिया गया है।"[1] अज्ञेय ने यह भी स्वीकार किया है कि तारसप्तक 1943 में जिन अन्य छः कवियों की रचनाएं संगृहीत हैं उनकी अपनी अलग-अलग सोच है - "किसी एक स्कूल के नही हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं, राही नही राहों के अन्वेषी। काव्य के प्रति किसी एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बांधना है।"[2]

वस्तुतः प्रयोगवादी काव्य धारा की नीव द्वितीय विश्व महायुद्ध तथा उसके बाद की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर खड़ी है। यद्यपि यह काव्यधारा अनेक पाश्चात्य विचार धाराओं (आस्तित्ववाद, अति यथार्थवाद, मनोविश्लेषणवाद आदि) से काफी हद तक प्रभावित है फिर भी देश की सामाजिक, सांस्कृतिक साहित्यिक स्थितियों-परिस्थितियों की कोख से ही इसका जन्म हुआ है। देश की आर्थिक राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में इतनी अधिक जटिलता एवं विद्रूपता आ गयी थी कि कवियों को नये सिर से सोंचने को मजबूर होना पड़ा। कवियों का एक वर्ग देश की विषमतापूर्ण स्थिति से बाहर निकलने की कोशिश कर रहा था, तो दूसरा वर्ग परिस्थितिजन्य विषमता पीड़ा अवसाद, पराजय

और निराशा की अभिव्यक्ति में लिप्त था। इस प्रकार कवि वर्ग आपस में उलझे हुए थे। वे अपने को समाज से कुछ कटा महसूस करने लगे थे। ऐसी स्थिति में परिस्थितियों के बीच ही वे 'संतोषप्रद परिवृत्त' ढूढ़ने की कोशिश में लग गये। ऐसे ही कवियों में से कुछ ने प्रयोगवादी काव्य धारा का प्रणयन किया। प्रयोगवादी काव्यधारा की राह पर चलने वाले कवियों ने छायावादी कविता की काल्पनिकता तथा रहस्यात्मक अभिव्यंजना प्रणाली की आलोचना की तथा नवीन प्रयोगों पर विशेष जोर दिया। प्रारम्भ में इस धारा के कवियों ने वस्तु की अपेक्षा शैली शिल्प की ओर विशेष ध्यान दिया तथा भाषा-प्रयोग छन्द एवं अलंकार प्रयोग, प्रतीक एवं उपमान प्रयोग आदि सभी क्षेत्रों में नये-नये प्रयोगों की सृष्टि की और अपने प्रयोगवादी प्रवृत्ति का स्पष्ट परिचय दिया। प्रयोगवाद का जन्म प्रगतिवाद की कतिपय प्रवृत्तियों के विरोध स्वरूप भी हुआ है। प्रगतिवादियों की पूर्ण समाज प्रधानता का प्रवृत्ति प्रयोगवादियों को स्वीकार्य नहीं हुई। क्योंकि इससे व्यक्ति की अस्मिता या महत्व समाप्त होने का उन्हें भय था। प्रयोगवादियों की दृष्टि में समाज से कहीं अधिक महत्व व्यक्ति का हैं। इसके पीछे उनका तर्क यह रहा कि अच्छे व्यक्ति से ही स्वस्थ समाज की संरचना होती हैं। प्रगतिवादियों ने वस्तु पक्ष पर विशेष ध्यान दिया तो प्रयोगवादियों ने वस्तु की अपेक्षा शिल्पगत नव प्रयोगों पर अपनी दृष्टि केन्द्रित रखी। डॉ0 शिवकुमार मिश्र ने प्रयोगवादियों की इस प्रवृत्ति की चर्चा करते हुए लिखा है -"प्रयोगवादी कवि ने वस्तु तत्व की अपेक्षा शैली और शिल्प के नवीन प्रयोगों पर सारी शक्ति केन्द्रित कर देने का समर्थन व आग्रह किया। उसने तर्क दिया कि सूक्ष्म-कल्पना नये रूपकों तथा प्रतीकों का प्रयोग काव्य के मूल स्वरूप को विकृत करने के स्थान पर इसमें चमत्कार तथा सौन्दर्य की सृष्टि करता है।"[3] कालान्तर में प्रयोग वादियों की इस प्रवृत्ति (शिल्प के प्रति विशेष आग्रह) की आलोचना भी हुई।

प्रयोगवाद के प्रवर्तक कवि के नाम को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। प्रवर्तक नाम की ही तरह काव्य में प्रयोगों की भी काफी चर्चा हुई और आलोचकों के द्वारा इस पर भी अपने-अपने मत थोपने की कोशिश की गयी। चूंकि प्रयोग सभी युग में हुए हैं, सब पर चर्चा भी हुई है पर नूतन प्रयोगों के प्रश्न पर कुछ अधिक ही मतवैभिन्य है। कुछ विद्वान नूतन प्रयोग का प्रारम्भ जयशंकर प्रसाद[4] से मानते हैं तो कुछ पंत[5] और निराला से।[6] केशरी कुमार नूतन प्रयोग का प्रारम्भ नलिन विमोचन शर्मा[7] से मानने की बात करते हैं। लेकिन एक बात यहाँ पूर्णतया स्पष्ट है कि 'तार सप्तक' के प्रकाशन के पूर्व 'नूतन प्रयोगों को लेकर कोई ऐसा संगठित आन्दोलन खड़ा नहीं हुआ था, जैसा कि 'तार सप्तक'

के प्रकाशन के साथ उभर कर सामने आया। वस्तुतः काव्यगत नूतन प्रयोग 'तार सप्तक' के प्रकाशन के पूर्व कवियों ने भी किया है लेकिन उसको काव्यान्दोलन का रूप कभी नही दिया गया था। लेकिन 'तारसप्तक' (1943) के प्रकाशन के साथ ही काव्य क्षेत्र में विशिष्ट एवं नूतन प्रयोगों का एक आन्दोलन ही चल पड़ा और यह कहना कतई अतिश्योक्ति पूर्ण नहीं होगा कि इन नूतन प्रयोगों के पुरस्कर्ता और कोई नहीं 'अज्ञेय' ही है; जिन्होंने आधुनिक हिन्दी काव्य को एक नयी दिशा दी।

सन् 1943 में 'तारसप्तक' के प्रकाशन के साथ ही काव्य क्षेत्र में काव्य प्रयोगों पर विस्तार से चर्चा हुई और वाद में नूतन काव्य प्रयोगों वाली इस कविता को 'प्रयोगवाद' नाम से अभिहित किया गया। मुक्तिबोध, जगदीश चन्द्र माथुर एवं प्रभाकर माचवे ने काव्यगत नव प्रयोगों की आवश्यकता पर विशेष जोर दिया तथा उसे एक संगठित आन्दोलन का रूप प्रदान किया। अज्ञेय ने तार सप्तक की भूमिका में लिखा था कि कवियों के चुनाव में "दूसरा मूल सिद्धान्त यह था कि संगृहीत कवि सभी ऐसे होंगे जो कविता को प्रयोग का विषय मानते हैं - जो यह दावा नहीं करते है कि काव्य का सत्य उन्होंने पा लिया है केवल अन्वेषी ही अपने को मानते हैं।"[8] अज्ञेय के सम्पादकत्व में निकली 'प्रतीक' (सन् 1947) नामक पत्रिका ने इस नयी काव्य धारा को ठोस रूप प्रदान करने में सहायता प्रदान की। दूसरा सप्तक (1951-भवानी प्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, नरेश मेहता, रघुवीर सहाय और धर्मवीर भारती) के प्रकाशन ने इस काव्यधारा को सर्वोच्चता के शिखर पर पहुँचा दिया। अज्ञेय ने इसे समय की आवश्यकता बताते हुए आलोचकों का मुंहतोड़ जबाव दिया तथा कहा -"प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, न ही हैं, कविता भी अपने आप में इष्ट या साध्य नहीं है। अतः हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें कवितावादी कहना।"[9] शमशेर बहादुर सिंह ने कहा कि प्रयोग तो हर काल में हुए हैं किन्तु यह प्रयोग और से सर्वथा भिन्न है - "मैं अगर दो शब्दों का प्रयोग करूँ तो ज्यादा अच्छा होगा - प्रयोग और 'प्रयोग' प्रयोग जैसा कि अज्ञेय जी ने स्पष्ट किया है, निरनतर होते आये हैं। प्रयोग के अन्तर्गत मेरा निवेदन है कि वह, वह रूझान है जो उपरोक्त दो कविता संग्रहों (तार सप्तक, दूसरा सप्तक) में और आम तौर से 'प्रतीक' की कविताओं में पाया जायेगा और वह हिन्दी में नयी आज की चीज हैं। यह चीज यूरोप में 19वीं शताब्दीं के अन्त मं पैदा हुई .... उर्दू में भी यह चीज आयी थी, मगर मजाज, साहिर सरदार, मखदूम कैफी और जोश की कविताओं ने उसे बिल्कुल दबा दिया। बस रूझान में

'सिम्बोलिज्म' और फार्मेलिज्म (प्रतीकवाद और रूप प्रकारवाद) के नाना रूप और छायाएं है। यूरोप में ये आन्दोलन लगभग अपना काम पूरा कर चुके, हिन्दी में इनका युग आना बाकी थां, सो आया।"[10] इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रयोगवादियों के काव्य-प्रयोगों तथा पूर्व-युग के काव्य प्रयोगों के बीच काफी अन्तर है।

प्रयोगवादी काव्य धारा का जीवन-दर्शन प्रायः सभी प्रयोगवादी कवियों की रचनाओं में समान रूप से दिखायी देता है। बाह्य एवं आन्तरिक विषमता का चित्रण तथा उसमें संतुलन की स्थापना का भाव, युग के प्रति आस्था एवं अनास्था का भाव, व्यक्तिवाद और अहमवाद की प्रधानता, व्यक्ति महत्ता एवं स्वतंत्रता की स्थापना के साथ ही समष्टि में विलीन होने का भाव, निराशा, कुंठा, घुटन, पीड़ा एवं दर्द का व्यापक प्रदर्शन, स्व की लघुता और निरीहता का चित्रण एवं पलायनवादी एवं क्षणवादी भावना की प्रधानता, आन्तरिक यथार्थ की खोज, नग्न यथार्थ का चित्रण, यौन वर्जनाओं के प्रति असंतोष प्रेम एवं रोमांस का नव रूपों में चित्रण एवं अभिव्यक्ति, सौन्दर्यानुभूमि को बिना किसी लाग लपेट के चित्रित करना काव्य की क्लिष्टता आदि ऐसी प्रवृत्तियाँ है जो प्रयोगवादी काव्य दर्शन को स्पष्ट करती हैं। प्रयोगवादी काव्यधारा ने बदलती सामाजिक मानसिकता की नब्ज को बड़ी बारीकी से पकड़ने एवं परखने की कोशिश की। प्रयोग चाहे जो भी हुए हैं, सब के मूल में लोकहित एवं मानव हित सर्वोपरि रहा है। हर काव्य धारा में युग की विषमताओं एवं कटुताओं को कवियों ने विषय परक बनाया है अन्तर है तो मात्र इतना कि किसी ने प्रत्यक्ष रूप में उसका वर्णन किया तो किसी ने व्यंजनात्मक रूप में। यह बात दूसरी है कि उससे समाज और मनुष्य का कितना भला हुआ। शासक उसका फायदा उठा पाया कि शोषित, यह विवेचना का विषय है।

ख. प्रयोगवादी काव्य में दलित चेतना का स्वरूप :

1. दलित वर्ग की सामाजिक प्रतिष्ठा का भाव :

भारतीय सामाजिक संरचना में जितना व्यापकता एवं विविधता है उससे कहीं अधिक मानव जीवन में जटिलता है। आदि मानव के जीवन में जो जटिलताएं एवं विषमताएं थी उसका कारण विकासोन्मुखी क्रियाकलापों की अज्ञानता थी। पर जैसे-जैसे मानव विकसित होता गया वैसे-वैसे परिवार और समाज की संरचना में बदलाव आया। राष्ट्र का स्वरूप जब अस्तित्व में आया तो यह माना जाने लगा कि अब मानव का समग्र विकास होगा और सामाजिक व्यवस्था बदलेगी। पर ऐसा हुआ नहीं।

जो बुद्धि चातुर्य एवं शक्ति में सबल थे वे शासक बन बैठे और जो शोषित और उपेक्षित हुए वे दलित हो गये। सामाजिक व्यवस्था एवं राजनीतिक कुटिलता के शिकार ऐसे दलित वर्ग को तीन तरह से ठगा गया-

1. धार्मिक कर्मकाण्ड द्वारा
2. वर्ण व्यवस्था द्वारा।
3. अर्थ व्यवस्था द्वारा

जिस धर्म की परिकल्पना मनीषियों ने सामाजिक समरसता के लिए की थी उसी को वर्ण व्यवस्था के जातिवादी ठेकेदारों ने शोषण के हथियार के रूप में प्रयुक्त किया। धार्मिक अन्ध विश्वास के सहारे गरीबों का शोषण किया गया। स्वर्ग एवं नर्क जैसे शब्दों को गढ़कर आम गरीब आदमी को लुभाया और डराया गया। आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से उपेक्षित वर्ग को समाज की मुख्य धारा से दूर रखने का प्रयास किया गया। चूंकि प्रयोगवादी कवियों का सीधा सम्बन्ध समाज एवं मनुष्य की धड़कन से था इसलिए चली आती हुई शोषण की परम्परा का उन्होंने विरोध किया। इन कवियों ने हर इंसान को समान दृष्टि से देखने की सलाह दी। दलित चूंकि उपेक्षित एवं हतोत्साहित था इस लिए इन कवियों ने उसे शक्ति एवं संबल प्रदान किया। इन्होंने दलितों को समाज से सिर्फ जोड़ने की ही बात नहीं की, बल्कि उसे समाज में प्रतिष्ठा एवं सम्मान मिले, के लिऐ भी यथा संभव प्रयास किया। आडम्बरी ईश्वर का मजाक उड़ाते हुए प्रभाकर माचवे ने 'मनु का वंशज' शीर्षक कविता में लिखा-

"आधुनिक विचारा फिर बोला- वह पूंजीपति ऐसा विशाल
उसके आगे मनुजी न तुम्हारे प्रभु की गलती जरा दाल।"[11]

धर्मवीर भारती ने स्वर्ग एवं नरक की मान्यता को नकारते हुए कहा कि न तो कहीं स्वर्ग है और न ही कहीं नर्क। जीवन एवं समाज के संघर्षों के बीच जीवन जीने में ही स्वर्ग एवं नरक दोनों है। ईश्वर की दृष्टि में सभी मनुष्य समान हैं। दलित वर्ग के दलित जीवन जीने का कारण समाज का कुटिल वर्ग है न कि ईश्वरीय सत्ता -

"अगर सच पूछो मेरी प्राण। व्यर्थ है, स्वर्ग, नरक, अनुमान
तुम्हारी मुसकाहट में स्वर्ग, तुम्हारी आँसू में भगवान।"[12]

गजानन माधव मुक्ति बोध दलित वर्ग के प्रति कुछ अधिक सम्वेदनशील रहे हैं। उन्होंने बड़े

स्पष्ट शब्दों में कहा है कि समाज में दलितों को भी सभी जैसा सम्मान मिलना चाहिए। रही बात जीने के अधिकार की तो उन्हें भी प्रकृति ने सब के समान अधिकार दे रखे हैं। तो बीच में बाधा उत्पन्न करने वाला मानव उसका अधिकारी नहीं है। वह अनधिकृत रूप से उसका शोषण करता है। गांव हो या नगर, सर्वत्र उसका हित होना चाहिए-

"समस्या एक-
मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में
सभी मानव
सुखी, सुन्दर व शोषण-मुक्त
कब होंगे।"[13]

दलितों को शोषण चक्र से मुक्त कराना दलितों के तो हित में है ही, मानवता एवं राष्ट्रीयता के भी हित में है। यदि ऐसा होने में आनाकानी हुई तो अराजकता एवं नकसलवाद का जन्म होगा। जिसके मूल में विकास नहीं बल्कि हिंसा एवं विध्वंस होगा।

".....महावेदना के अकुलाते हुए घोर
रेगिस्तानी जिन्दगी के
स्वाभिमानी शिखरों के पहाड़
दहाड़ते वगावत का महामंत्र
साम्राज्यवादियों का काँपता है युद्ध तंत्र
संघर्ष समुद्रों की
शैलेय लहरों को
चूमता है हंसता हुआ चन्द्रमा
मानव मुक्ति को पूनों का चाँद वह।"[14]

सामाजिक व्यवस्था ने दलितों के सम्मान को छीना है इसलिए दलितों को सम्मान पाने हेतु साम्राज्यवादी शक्तियों से संघर्ष करना होगा-

".....दुष्ट व्यवस्था की वह जो
प्रतिनिधि-मूर्ति,

तुम्हारे ही उर पर

दस्यु की चट्टानी आकृति बनकर

दबंग रौवीले ठाट से बैठी,

इसीलिए जब तक उसकी स्थिति है

मुक्ति न तुमको।

याद रखो,

कभी अकेले में मुक्ति न मिलती,

यदि वह है तो सब के ही साथ है।

मेरी सलाह है -

लुढ़को (मैं तुम्हे देता हूँ धक्का गति और बेग)

वक्षासीन उस दस्यु को लेकर

लुढ़कते चले जाओ

पहाड़ी उतार पर,

(वह पिस जायेगा)....."[15]

मुक्तिबोध का यह भी मानना है कि दलितों के साथ यदि इसी तरह अन्याय एवं शोषण होता रहा तो विद्रोह एवं संघर्ष के फलस्वरूप समाज किस अधोगति की ओर जायेगा, यह कह पाना बहुत कठिन है -

"मानव समता की संस्कृति वजी नफीरी आज

अरे वहाँ से जिसको कहते मजदूरों का राज।

लाल सोवियत देश कि नूतन मानव की वह आग

दुनिया के मजलूमों का वह जनता एक चिराग।"[16]

भारत भूषण अग्रवाल दलितों के विकास एवं सम्मान में बाधक किसी भी विचारधारा का विरोध करते हैं। वे कहते हैं कि जो मान्यताएं एवं परम्परायें मानव-मानव में भेद पैदा करे उसे हम लोगों को नकार देना चाहिए -

"सघन वर्फ की कड़ी पर्त-सी

एक-एक कर अमित रूढ़ियाँ

सदियों से जमती जाती हैं

तह पर तह

मानव जीवन पर

तह पर तह

ये आज ठोस दीवार बनी है

है रोक रही जीवन की गति

मन की उन्नति

× × ×

इन अमित रूढ़ियों की कारा ने

बांध लिया मानव का मन, जग का जीवन।

× × × × ×

अवरूद्ध आज जीवन प्रबाह।"[17]

नागार्जुन का मानना है कि दलितों के सम्मान को ठेस, समाज के हर सार्मथ्यवान ने पहुँचायी है। जमींदारों एवं साहूकारों ने उनका शारीरिक और आर्थिक शोषण कर उन्हें निश्चेतन बना दिया-

"जमींदार है साहूकार हैं, बनिया है व्यापारी है

अंदर-अंदर विकट कसाई, बाहर खद्दर धारी हैं

सब घुस आये भरा पड़ा है भारत माता का मंदिर।"[18]

नेताओं पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने लिखा -

खादी ने मलमल से अपनी सांठ-गांठ कर डाली है

विड़ला टाटा डालमिया की तीसों दिन दीवाली है

जोर जुलुम की आंधी चलती बोल नहीं कुछ सकते हो

समझ नहीं पाता हूँ कि हुकुमत गोरी है या काली है।"[19]

समाज और देश की भलाई के लिए किसानों एवं मजदूरों का शक्तिशाली होना आवश्यक है। इन दलितों की सामाजिक सहभागिता देश के भविष्य का निर्माण करेगी -

"सेठ और जमींदारों को नहीं मिलेगा एक छदाम,
खेत खान-दुकान मिले सरकार करेगी दखल तमाम
खेत मजूरों और किसानों में जमीन बंट जायेगी,
नहीं किसी कमकर के सिर पर बेकारी मँडरायेगी
नौकरशाही का यही रद्दी ढांचा होगा चूरमचूर
'सुजलां सुफलाम' के गायेंगे गीत प्रसन्न किसान-मंजूर।'[20]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि प्रयोगवादी धारा के कवियों ने दलितों को समाज की मुख्य धारा से जोड़ने का जो प्रयास किया। वह उनकी दूर दृष्टि का परिचायक है।

2. समता मूलक समाज की स्थापना का स्वर :

प्रयोगवादी काव्य धारा के कवि एक ऐसे समाज की संरचना के पक्षधर थे जिसमें रहने वाला हर व्यक्ति सुखी एवं समृद्ध हो। इनकी सोच का मूलाधार ही यही था कि सब समाज के हैं और समाज सब का है। ऐसी कोई भी व्यवस्था जो निर्माण की जगह विध्वंस करे, उन्हें स्वीकार नहीं थी। समतामूलक समाज के निर्माण में यदि कोई भी सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक परम्परा अवरोध उत्पन्न करती है तो उसे दूर कर देने में ही मानव समाज की भलाई है। नये समाज के निर्माण हेतु नयी व्यवस्था एवं नये मूल्यों का सृजन आवश्यक है। समाज का हर व्यक्ति स्वतंत्र हो यही बात समाजवाद भी कहता है। समानता एवं समरसता की जागृति हो, हर बुद्धिजीवी यही सोचता है। मुक्तिबोध ने समतामूलक समाज की संकल्पना बड़े ही सुन्दर शब्दों में की है -

"यह मुसकानों का बल होगा
यह फूलों का परिमल होगा
अन्त देशे करूणा तट पर
होगा नये राज्य का स्थापन
तब असंख्य होगी आशाएं
मुक्तनीलिमा में खग दल बन
उड़ती होगी गहन दूर जब ......।"[21]

आखिर व्यवस्था परिवर्तन का ही तो प्रभाव है कि पूंजीवाद के बाद समाजवाद आया। आज

समाज में जो बदलाव आया है वह अकस्मात् नहीं हुआ है। इस बदलाव के लिए क्रांतियाँ हुई। शोषण मुक्त समाज बनाने के लिए न जाने कितने आन्तरिक जातीय एवं धार्मिक संघर्ष हुए-

"अजी जिन्दगी के घावों को
रुधिर-धार की पगदण्डी पर
चलते-चलते मिला काव्य को
भव्य दीप्त मय क्षितिज-पुत्र नव
जिसकी आंखो को स्वप्नावलि
में नवीन-युग की भावांजलि।।
क्षितिज-पुत्र वह नहीं, मात्र वह
मेरे-तेरे-सबके मन की
गहरी-गहरी परछायी सी
लोक-सत्य की विमुग्ध ज्वाला
जब सहसा विकराल हो चले
तभी जान लो अरुण पंख पर
गगन पार कर उतरा सूरज
मानव सागर के कगार पर
तब समझो हो गया युगान्तर।"[22]

व्यक्ति के जीवन में वेदना का बड़ा अधिक महत्व है। इसी से वह पूर्ण मानव बनता है। हर दलित शोषित मानव में शक्ति का गुलाब खिलाने की आवश्यकता है -

"..... धूल रमते चेहरों पर
आभाओं का जाल
विश्व बिम्बों की माला
उषः स्वप्न को लाल
युगान्तर कारी ज्वाला।
खिला गुलाब अनूप

शक्ति के मानव-अन्तर।

निखर उठी है धूप

मुक्ति के उद्धत मुख पर।"[23]

जीवन परिवर्तन शील तो है ही सृजनशील भी है। क्यों न इसका सद्उपयोग हो, क्यों न हम विश्ववन्धुतव की परिकल्पना का संकल्प लें -

"काल के सिन्ध-शैल कूल पर खड़े हुए

एक विश्व पुरुष ले,

दुनिया के साथी ने एक जगह कहा है -

जीवन अनन्त है

प्रतिफल सृजनशील उसका अनन्त वक्ष

अनन्त सम्पन्न है।"[24]

प्रेम और स्नेह से मनुष्य का जीवन सार्थक बनता है। यह व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़ता है, समाज में स्वर्ग की परिकल्पना संभव करता है -

".....तुम्हारे व मेरे बीच स्नेह है

तुम्हारा व मेरा क्या

हमारा यह एक ही तो वतन है

एक ही तो गंगा है एक ही तो गेह है।"[25]

मुक्तिबोध कहते हैं कि भूख, दरिद्रता, बेकारी, भूखमरी के रहते समाज में समरसता नही आ सकती -

"मेहनत के पुतले

शोषण-हत गम खाने वाले

दुख के स्वामी

अविश्रांत वे काले-काले हाथ व्यस्त हैं

रिक्त पेट की आंखों में दुख के प्रवाह से

जिनकी वेवश कर्मशीलता ने युग-युग के

गौर कपोलों में लाली की मदिरा भर दी

आह! त्याग की उत्कष्ट प्रतिमा होरी महतो, भोली धनिया

जाग रहे हैं,

काम कर रहे है, अब भी अपने खेतों में[2]

उनकी श्वेत अस्थियों से इसयुग का वज्रवेन या भयंकर।"[26]

शोषित जन समुदाय में निराशा और व्याकुलता का आना स्वाभाविक है। सुन्दर समाज की संरचना के लिए इसे दूर करने की महती आवश्यकता है -

"कवि, आज भी मानव

यहाँ पर मरे चूहे-सा उपेक्षित है

यह बैलगाड़ी के अचानक (राह में)

दो भग्न पहियों सा पराजित।

युद्ध में टूटे हुए उद्धवस्त पुल-सा

वह विदारित

भग्न ईश्वर मूर्ति-सा वह है विखण्डित प्राण।

वह फाड़ी हुई चिट्ठी-सरीखा

घोर अपमानित

सहज अनजान।

जर्जर मलिन आँचल सा जनादृत ,दीन।

बूढ़े करुण धुंधले लोचनों सा

मलिन तेजो हीन।

वह अंधेरी श्याम गलियों सा उलझता व्यर्थ

वंचित, वह प्रवंचित याचना असमर्थ।"[27]

कवि जितेन्द्र कुमार कहते हैं कि युग बदल रहा है। जीर्ण-शीर्ण मान्यताएं टूट रही हैं। दलित भी जाग गया है। सुन्दर सपनों को सजाकर वह कुछ करने को आतुर हो उठा है -

"युग-युग के पद्दलित आज

उत्कृष्ट सबल सुख पावन

अवमानित चरणों पर लुंठित

राजमुकुट सिंहासन

ले अंगड़ाई जाग रहा, युग-युग से सोया जन-गण,

युग-युग की पाषाण शिला हो रही सप्राण सचेतन।

बदल रही है युग-युग की परिपाटी

चन्दन बन चढ़ रही भाल पर माटी।

युग-युग के पद्दलित आज उत्कृष्ट सपन शुभ पावन

अवमानित चरणों पर लुंठित राजमुकुट सिंहासन।"[28]

डॉ0 शिवकुमार मिश्र प्रगति का अर्थ समता से जोड़ते हुए कहते है-

"समदर्शी फिर साम्य रूप पर जग में आया।

समता का संदेश गया घर-घर पहुँचाया।

धनक-रंक का ऊँच नीच का भेद मिटाया।

विचलित हो वैषम्य बहुत रोया चिल्लाया

काँटे रोपे राह में फूल वही बनते गये।

साम्यवाद के स्नेह में सुजन सुधी सनते गये।"[29]

महेन्द्र भट्नागर पद्दलितों के विकास में भारतीय समाज का सवेरा खोजते हैं -

"मैं शोषित दुनिया के

आज करोड़ों इन्सानों से कहता हूँ-

मैं भूखो-नंगो पद्दलितों

वेवस निरीहों की

आहों से कहता हूँ-

अब और अंधेरे में

मत खोजों पथ अपना

अब और न देखो

अन्तर की आंखो से सपना

खोलो पलकों साथी

नया सबेरा

आज तुम्हारे स्वागत को तैयार।"[30]

कवि हरिशंकर जी की मान्यता है कि समता लाने के लिए जाति, वर्ण एवं वर्ग के विष को पीना होगा-

"हम राष्ट्र प्रेम की सीमाएं भी पी जायेंगे

अब जाति वर्ग का भेद, नहीं जी सकता है

मानवता के सिर पर समता का राजमुकुट

धरने की अपने में पौरूष की क्षमता है।'[31]

प्रफुल्ल चन्द पटनायक नये समतामूलक समाज के सृजन हेतु नयी सोच जगाने की आवश्यकता पर बल देते हैं -

"युगों की अन्ध रुढ़ियाँ मिटे, नये कदम बढ़े

युगों की जीर्ण श्रृंखला कढ़े नये कदम बढ़े

उठें सभी नये कदम जले असंख्य वर्तिका

उठे महान गर्त से युगों की अन्ध मृत्तिका

न कोटि-कोटि कंठ से उठे सभीत याचना।

न अश्रु से भरे नयन, न भूख की हो यातना

न मौन हो सहे मनुज, समाज की प्रताणना

नया समाज चाहिए नहीं हो आत्म वंचना।"[32]

जगदीश चन्द्र माथुर नयी जिन्दगी को नये ढंग से जीने की सलाह देते हैं -

"जिन्दगी में चेतना हो, जागरण सभ्यता हो

एक सा सबके लिए, जग मेरी प्रगति का रास्ता हो

रूढ़ियों, शोषण पुरातन फिर विषमता में न घेरे

इसलिए हम जिंदगी नींव फिर से रख रहे हैं।"[33]

3. दलितों में आत्म विश्वास जगाने का प्रयास :

आत्म विश्वास मनुष्य को दिशा एवं दृष्टि तो प्रदान करता ही है, शक्ति एवं सम्बल भी प्रदान करता है। प्रयोगवादी कवियों ने वैसे तो पूरे समाज को नवीन कलेवर में संवारने की कोशिश की है, पर समाज में जो पिछड़े एवं उपेक्षित थे, अशिक्षित एवं निर्धन थे उनके प्रति उन्होंने अत्यधिक संवेदनशीलता दिखलायी। अपने काव्य का विषय बनाकर दलितों की पीड़ा एवं घुटन भरी जिन्दगी को सबके सामने प्रस्तुत किया। दलितों को यह समझाने का प्रयास किया कि अधिकार मांगने के पहले आप संगठित होइये, संगठन से जो शक्ति मिलेगी वह तुम्हारे आत्मविश्वास को बढ़ायेगी और क्रान्ति के लिए प्रेरित करेगी। एक दिन ऐसा आयेगा जब पूंजीवाद एवं सामंतवाद का प्रभाव कमजोर होगा और हर सत्ता में तुम्हारी सहभागिता होगी। कवि त्रिलोचन शास्त्री तो दलितों को सीधे क्रांति के लिए उत्प्रेरित करते हैं। उन्होंने लिखा है -

"ओ तू नियति बदलने वाला,
तू स्वभाव को गढ़ने वाला,
तूने जिन नयनों से देखा,
उन मजदूर किसानों का दल,
शक्ति दिखाने आज चला है।
साम्राज्य और पूंजीवादी
लिये हुए अपनी वरबादी
जोर आजमाई करते हैं,
आज तोड़ने को उनका मन
उठकर दलित समाज चला है।"[34]

महेन्द्र भटनागर दलितों में इतना आत्म विश्वास एवं शक्ति भर देना चाहते थे कि जो भी उनका शोषण एवं उत्पीड़न करने की सोंचे वह संघर्ष के फलस्वरूप स्वयं अस्तित्व हीन हो जाये। भट्नागर जी ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि तुम संख्या में तो अधिक हो ही शक्ति एवं बुद्धि में भी शक्तिशाली हो जाओ। सारी असमानताएं एवं विषमताएं जो तुम्हारे दलित होने का कारण हैं वे अपने-अपने खत्म हो जायेगी-

"हिम्मत न हारो।

कंण्कों के बीच मन-पाटल खिलेगा एक दिन

हिम्मत न हारो

यदि आँधियाँ आये तुम्हारे पास,

उनसे खेल लो,

जितनी बड़ी चट्टान वे फेंके तुम्हारी ओर

उनको झेल लो।

हिम्मत न हारो।"[35]

गिरिजा कुमार माथुर भारत ही नहीं विश्व के समस्त दलितों को एक होने की बात करते हैं। शोषित दलितों को वह संघर्ष की सलाह देते हैं। आखिर शोषण से डरकर तुम लोग कब तक भागते रहोगे। उत्पीड़न की एक हद होती है। जुल्म और जबरदस्ती कब तक सहते रहोगे। आत्म विश्वास और स्वाभिमान को दब कर कब तक घुटन भरी जिन्दगी जीते रहोगे। उठो, चेतो, संगठित हो, दलित होने का श्राप अपने आप खत्म हो जायेगा-

"सत्ता नहीं चल सकी बहुत देर

मृत्यु के उपासक अन्याय अविवेक की

विजय हुई है सदा न्याय की

असुरों पर देवों की, दिति पर अदिति की

अन्धकार दैत्यो पर

राक्षस पर रूद्र की,

वृत्त पर इन्द्र की

रावण पर राम की

वर्वरता-कंस पर

संस्कृति के श्याम की

और आज जब ये शक्ति बल पर

आधारित समाज तंत्र

राज्यों की पद्धतियाँ

सर्व शक्तिमान, सर्व व्यापक नियन्ता बन बैठी हैं-

× × × × ×

तब भी यह निश्चित है

सामाजिक प्रेतों पर

घृणा, युद्ध संशय अश्रद्धा के दैत्यों पर

मानव व्यक्तित्व की

अन्तिम विजय होगी।"[36]

4. जातिवादी व्यवस्था पर व्यंग्य :

भारतीय समाज में जितनी जातियाँ एवं उपजातियाँ हैं उतना विश्व के किसी भी समाज में नहीं हैं। जातिवादी व्यवस्था के पोषक इसे भारतीय सांस्कृतिक संरचना का अभिन्न अंग मानते हैं। विविधता में एकता मानकर इस व्यवस्था का विश्व के मंच पर गुणगान करते हैं। सैद्धान्तिक रूप से तो यह बहुत अच्छा लगता है पर व्यवहारिक रूप में इससे जीवन में इतनी अधिक जटिलताएं आ जाती हैं कि प्रभावित होने वाला पक्ष बेहाल एवं तबाह हो जाता है। जीवन के हर पग पर यह व्यवस्था समस्यायें ही पैदा करती है। किसी भी व्यवस्था का निर्माण शांति, समृद्धि एवं खुशहाली को ध्यान में रखकर किया जाता है। पर वही व्यवस्था जब तथ्यों को तोड़ मरोड़कर अपने स्वार्थ के हिसाब से परिभाषित की जाये तो समझिए विरोध अवश्यम्भावी है। प्रगतिवादी कवियों ने जातिवादी व्यवस्था की जिस गाँठ को डीला किया था, प्रयोगवादी काव्यधारा के कवियों ने उसे और खोलकर कमजोर करने की कोशिश की। जातिवादी व्यवस्था से सबसे अधिक प्रभावित दलित वर्ग हुआ। उसे जाति के नाम पर पतित कहा गया। उससे सौतेला व्यवहार किया गया। उसके लिए ऐसा काम निर्धारित किया गया जो श्रमसाध्य था। कुटिल बुद्धिजीवी जातिवादी व्यवस्था के पोषकों द्वारा दलितों को यह समझाया गया कि यह ईश्वरीय व्यवस्था है। ईश्वर की तरफ से उनके लिए यही संदेश है। दलित पढ़े लिखे थे नहीं, वाक्‌जाल में फंस गये और जाति के कलंक की टीका माथे पर लगाकर पशुवत जिन्दगी जीने को मजबूर हुए। युगों से चली आती हुई इस व्यवस्था के विरुद्ध बोलना आसान न था। पर जैसा कि कहा जाता है कि किसी भी समस्या का निराकरण उसकी अति में होता है। इस व्यवस्था के साथ

भी कुछ ऐसा ही हुआ। प्रयोगवादी कवियों ने इस व्यवस्था का विरोध किया। उन्होंने कहा कि अन्य जीवों की तरह मनुष्य की एक जाति क्यों नही हो सकती। मनुष्य की जाति मनुष्य है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कर्म हैं। एक तरफ कहा जाता है कि गन्दगी में सोना पड़ा हो तो उसे निकाल लेना चाहिए। पर दूसरी तरफ व्यवहारिक जीवन में यह देखा जाता है कि किसी दलित के यहाँ कोई प्रतिभावान पैदा होता है तो उसको महत्व नहीं दिया जाता। बिहारीलाल हरित ने लिखा है-

''नाम पूछ, काम पूछ, हुनर करामात पूछ
सम्यक पथगामी बन, चरित्र की बात पूछ
बहुधा है परिवार, और मनुष्य योनि एक है
हरित होकर मिलनकर, मत आदमी की जात पूंछ।
आदमी ही पूछता है आदमी की जात,
जैसे कभी देखा हो, अकेले में आदमी
जात को कम जात समझता है इस कदर
गोया कि निकल आया है ढेले में आदमी।''[37]

गीता में कर्म को प्रधान माना गया है। रामचरित मानस में गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है-

'कर्म प्रधान विश्व करि राखा
जो जस करै सो तस फल चाखा।''

पर उच्च जातियों के कुछ लोगों द्वारा यह कहा जाता है कि जाति ही श्रेष्ठ है कर्म नहीं। यह विरोधाभासी बयान व्यक्ति को भ्रमित कर देता है। सत्य तो यह है कि ''जाति से कर्म श्रेष्ठ है।'

'कर्म की प्रधानता में भ्रम की औकात क्या है?
धर्म है मानव का, मानव जाति व जमात क्या है?
'हरित' सर्व योनियों की भिन्न हैं, आकृतियाँ
ओ पूछने वाले बता तू, आदमी की जात क्या है।
चरते विचरते संग सब इक जाति वाले
योनि सम्बन्धों से वे सब सृष्टि रचाते।
लक्ष चौरासी विभिन्न हैं तन जीवधारी।

विभिन्न आकृति भिन्न गुण दोष पाते

चराचर के पुंज हैं नभ, थल में जल में

आकृति से जाति बोधक तन में आते

'हरित' है भाषा वनावट भिन्न सब की,

मनुष्य योनि एक जो मानव कहाते।"[38]

क्या जातिवादी व्यवस्था में दलितों का इसी तरह शोषण होता रहेगा। क्या इतिहास की पुनरावृत्ति नहीं होगी मनुष्य-मनुष्य का मानमर्दन करता रहेगा। पीर और समाज सुधारक क्या प्रवचन ही देते रहेंगे? क्या मानवता छूत-अछूत के बीच में पिसती रहेगी-

'दीन की दुनिया में सुनता कौन है

इतिहास के पृष्ठों में भी ये गौण हैं

मनुष्य तो दलितों का मर्दन कर रह रहा है।

ईश भी इनके लिए तो मौन है।

दावा कर करके मुये पीर सुधारक सन्त

मानवता रोती रही, अन्त छूत वे अन्त।"[39]

5. छुआछूत का विरोध :

सामाजिक वर्ण व्यवस्था अथवा जाति व्यवस्था ने छुआ-छूत को जन्म देकर मानव समाज में बहुत बड़ा वैचारिक भेद पैदा किया है। वर्ण को जाति में परिभाषित कर छूत-अछूत की धारणा को जन्म दिया गया। दबे कुचले गरीबों को दलित की श्रेणी में रखकर जाति विशेष 'हरिजन' शब्द से जोड़ दिया गया। यह दुर्भावना गाँव एवं शहर सर्वत्र देखने को मिलती है। हरिजन दलित की दर्दनाक जिन्दगी के सम्बन्ध में मुक्तिबोध ने लिखा है-

"हरिजन बस्ती में मंदिर के पास एक

कबीठ के धड़ पर

मटमैले छपरों पर

बरगद की ऐंठी हुई उभरी जड़ पर

कुहासे के भूतों के लटके

चूनर के चिथरे

अंगिया व घांघरे फटी हुई चादरें

अटक गयी जिनमें एक

व्यभिचारी टकटक की

गंजे-सिर टेढे मुंह चाँद की सी कंजी आँख।"[40]

कवि मुक्तिबोध ने दारिद्रय ग्रस्त प्रताड़ित तथा निर्बल अस्पृश्यों के वास स्थान का वर्णन करते हुए उनके फटे पुराने वस्त्रों के सम्बन्ध में बताते, उन पर अत्याचारी पूंजीपतियों की कामुक दृष्टि की आलोचना की हैं। हरिजन दलित फुसफुसे घरों में तथा छप्परों में वास करते हैं। दलित स्त्रियां भयंकर गरीबी के कारण पुरानी फटी हुई चिन्दियों सी वस्त्र पहने हुए होती हैं फटे कपड़ों में लिपटा अर्धनग्न शरीर कामुक व्यभिचारी पूंजीपतियों एवं सामंतो की नियति को बदल देता हैं। पहले तो छुआ-छूत के नाम पर उन्हें अछूत मानते हैं किन्तु जब मौका मिलता है तो उनकी इज्जत से खिलवाड़ करते हैं। क्यों शारीरिक शोषण के समय स्त्रियाँ पवित्र हो जाती हैं। शोषकों की अपनी सामाजिक परिभाषा है। अपने स्वार्थ के हिसाब से उसे गढ़ लेते हैं। मुक्तिबोध कहते हैं-

"चांदनी

सड़कों के पिछवाड़े टूटे-फूटे दृश्यों में

स्पृश्यों अस्पृश्यों में

गन्दगी के काले-से के झाग पर

बदमस्त कल्पना-सी फैली थी रात-भर

सेक्स के कष्टों के कवियों के काम सी।"[41]

सृष्टि में उत्पन्न जब सभी एक ही ईश्वर की संतान हैं तो बीच में यह मानव विभेद क्यों? यदि गन्दगी साफ करने से कोई अछूत है तो हर माँ बाप अपनी सन्तान की बचपना में गन्दगी धोते हैं तो वे क्यों अछूत नहीं हो जाते-

"जूता चमार अछूत के हाथ का, वस्त्र अछूत ही कोरी वनावे

धोबी अछूतन ते कपड़े धुलै, भात निचोड़ के माड़ि लगावै

मातु-पिता सम, डोमिन डोम करे मल साफ कृतघ्न भुलावे

छूत में ऐसे रहे सरबोर हैं छूत पै छूत अछूत बतावै।

एक ही ईश्वर से उत्पन्न हैं, एक ही धर्म पवर्तक दोई

कौन लगा सुरखाव का है पर जापर घेरे घमण्ड घनोई

छूत घुसी है अछूतन ते बढ़ि देख लो छूत हृदय निज टोई

छूत सभी है अछूत सभी अरू छूत न कोई अछूत न कोई।"[42]

छुआछूत न तो कोई कलंक है और न ही पराधीनता का कारण है। यह कुछ वर्ग विशेष के लोगों की कुत्सित मानसिकता का दुष्परिणाम है। यह धार्मिक कर्मकांडियो का ढोंग है तो साम्प्रदायिक ताकतों का हथियार - .

"छूत नही है कलंक समाज को, छूत नही पराधीनता जानो।

छूत नही अकुलीनता है यह, छूत नही दुख दीनता जानो।

छूत नही है विनाशी पिशाचिनी, देश समाज की क्षीर्णता जानो।

छूत नही यह कर्म ही कालिमा, मानव धर्म की हीनता जानो।

छूत ही सारे विधर्म की उन्नति, धर्म की फांसी कराल रही है।

छूत ही देश का क्लेश विशेष है, धर्म का ढोंग कमाल रही है।

छूत का रूप बनी पराधीनता, एकता प्रेम का काल रही है

देश स्वराज को हा छलिनी बन, छीनती छूत छिनाल रही है।"[43]

कवि धूमिल की दृष्टि में हर व्यक्ति को समान आचरण से समाज में जीने का अधिकार है। दलित मोचीराम कहता है -

बाबू जी सच कहूँ

मेरी निगाह में

न कोई छोटा है न कोई बड़ा है

मेरे लिए हर आदमी एक जोड़ा जूता है

जो मेरे सामने

मरम्मत के लिए खड़ा है

और असल बात तो यह है

कि वह चाहे जो हो,

जैसा है जहाँ कही है

आज कल

कोई आदमी जूते की नाप से बाहर नहीं है।"[44]

6. नव सृजन का संदेश :

प्रयोगवादी धारा का कवि नयी सोच एवं नये प्रयोगों द्वारा नये सृजनों हेतु सदैव प्रयत्नशील रहा है। उसको विश्वास है कि प्राचीन रूढ़िवादी मान्यताएं एवं विश्वास जर्जर हैं। वे अब अप्रासंगिक एवं अवरोधक हैं। ऐसी मान्यताएं एवं विश्वास जो समाज के एक बहुत बड़े वर्ग (दलित) को अनदेखा करें वे कैसे हितकारी हो सकती हैं। आखिर दलित भी तो मानव समाज का ही अभिभाज्य अंग हैं। उसकी अनदेखी करके क्या गांधी के सपनों का भारत बना सकते हैं। जब तक रूढ नैतिकताओं की कड़िया टूटेंगी नहीं, प्राचीन एकांगी मान्यताओं के महल धराशायी नहीं होंगे, आक्रामक शक्तियों का विनाश नहीं होगा, जब तक शोषण की वृत्ति कुचली नहीं जायेगी, तब तक न तो सर्व सुलभ मानव समाज की कल्पना की जा सकती है और न ही मानव व्यक्तित्व के महत्व को स्थापित किया जा सकता है। इसीलिए परिवर्तन का आकांक्षी कवि नूतन समाज के निर्माण के लिए आह्वान करता कहता है -

" कर नूतन का निर्माण, दिखा कुछ

तू अपने पौरुष का करतब

पराधीनता विविध तोड़कर दिखा

नयी गति का उपक्रम अब

बहुत पुरातन की छायाएं

मानवता ने दुख पाया है

वरगद की छाया के भीतर

नहीं अन्य तरु बढ पाया है।"[45]

नव निर्माण का संदेश देते हुए कवि त्रिलोचन ने जीवन समाज एवं व्यक्ति के नव निर्माण के लिए युग की जनता को जागृत करने हेतु लिखा है-

"अब कुछ ऐसी हवा चली है

जिससे सुप्त जगत जागा है

जिससे कंपित जीर्ण जगत ने

आज मरण का वर मांगा है

उनको बहुत जल्द दफनाओं,

नव युग के जन आगे आओ

नव निर्माण करो तुम जग का

जीवन का, समाज का, मन का।"[46]

त्रिलोचन एक ऐसे नये समाज एवं संस्कृति के निर्माण की आवश्यकता पर बल देते हैं जिसमें साक्षर-निरक्षर छूत-अछूत सभी की प्रगति समान रूप से हो। गरीब हो या अमीर, नारी हो या पुरुष, उच्च हो नीच, दलित हो या पूंजीवादी सभी की उन्नति समानदृष्टि से हो। यह सत्य है कि साम्राज्यवादी, पूंजीवादी एवं सामंतवादी व्यवस्था के चलते दलित समाज एवं जीवन इतना अधिक शोषित हो चुका है कि उसकी मात्र ठठरियाँ ही बची रह गयी हैं। लेकिन प्रयोगवादी कवि उससे निराश नहीं है। अपितु उसी के बल पर नूतन निर्माण की आकांक्षा एवं विश्वास रखते हैं। क्योंकि उसे विश्वास है कि इन्हीं दलित ठठरियों में एक दिन वह जान आयेगी जो सभी असामाजिक तत्वों को धराशायी कर एक ऐसे नूतन समाज की संरचना करेगा जिसमें चतुर्दिक स्वतंत्रता एवं राजनीतिक सहभागिता होगी।

महेन्द्र भटनाकर दलितों की समस्याओं के समाधान में नये भारत का भविष्य खोजते हैं। नये समाज को मजबूती एवं सार्थकता तब तक नहीं मिल सकती जब तक आर्थिक एवं सामाजिक संरचना में समानता नहीं आयेगी। कलम की ताकत चाहे तो मनुष्य को नये सिरे से सोंचने को मजबूर कर सकती है। अपनी संवेदनशीलता को लेखनी से जोड़ते हुए वे कहते हैं कि तुम मनुष्य की सूखी शिराओं में नये रक्त का संचार करने के लिए, जन-जन के कंठ में नयी राग भरने के लिए तथा नये समाज के निर्माण के लिए दलित समय पट पर चलो तथा नवीन समाज के सृजन में सहायक बनो-

"लेखनी मेरी

समय पट पर चलो ऐसी कि जिससे

त्रस्त जर्जर विश्व का

फिर से नया निर्माण हो।

क्षत, अस्थि-पंजर पस्त हिम्मत

मनुज की सूखी शिराओं में

रुधिर उत्साह का संचार हो।

× × × × ×

ओ लेखनी मेरी चलो

जिससे कि दकियानूस दुनिया के

सभी दृढ़ लौह बन्धन टूट जायें

और संस्कृति सभ्यता की मूर्तियाँ सब

आततायी के विषैले क्रूर चंगुल से

सदा को छूट जायें।

ध्वंस पर

अभिनव सृजन आहवान दो

हर आदमी के कंठ में

श्रम का सबल मधुगान दो।''[47]

7. नैराश्य, वेदना एवं कुंठा का भाव :

दलितों की निराशा, वेदना एवं कुण्ठा परिवेश एवं परिस्थिति जन्य है। शाश्वत् जीवन मूल्यों के विघटन एवं सांस्कृतिक मूल्यों के पतन के फलस्वरूप मानव की सोच में जो बदलाव आया उससे मानव समाज के स्वरूप में बहुत अधिक विकृति आ गयी। आर्थिक्र संघर्ष और वैयक्तिक स्वतंत्रता की मांग और शून्य हृदयों की चीखों और पुकारों ने नये कवि को निराशा और अवसाद के कुहरे से लपेट दिया। निराशाजन्य अनुभूति ने दलितों की दुखती रंगो को समझने में वेबफाई नहीं की। उदासीनता की परछाई एवं अवसाद के क्षणों ने उसे अधिक सम्वेदनशील बना दिया। कवि का मन वेदना और कुंठा का भाव व्यक्त करने के लिए वेक्स हो उठा-

भवानी प्रसाद मिश्र कहते है -

"फैले हुए जंगल के झाड़ों की टोनो पर,

दिर भर की दुखी मेरी आंखों के कोनों पर

सन्ध्या की किरणों की छाया सी पड़ती है।

बैठा हूँ शान्त, दल चिड़ियों के उड़ते हैं,

मुट्ठी में भिचे है पन्ने कविता की कापी के

बेचारे मुड़ते हैं।"[48]

टीस, निराशा, कसक, वेदना अन्तर्द्वन्द, अवसाद, उदासी, दुख विकलता, असहायता विवशता की कालिमा से आच्छादित कवि मानस अपने को नदी तल की रेत के समान तुच्छ मानता है। दुःख और असंतोष अतीत से नही वर्तमान के कारण अवतरित होते है। अतृप्त आकांक्षाओं और अभावों से वेदना मुखरित होती है। यही वेदना बाद में नैराश्य का रूप धारण कर लेती है। नरेश मेहता दुख वेदना एवं पीड़ा को वरण करने की बात करते हैं और इसके पीछे तर्क यह देते है कि इससे व्यक्ति में जीवन की असलियत समझने की शक्ति बनी रहती है -

"बहन करो

ओ मन! बहन करो पीड़ा।

यह अंकुर है उस विशाल वेदना की,

तुम में थी जन्मजात

आत्मज है,

स्नेह करो

आंचल से ढककर रक्षण दो।

बहन करो वहन करो पीड़ा।"[49]

भारत भूषण अग्रवाल कहते हैं कि जब दीपक में नेह रूपी तेल ही समाप्त हो गया, बाती जल गयी तब आर्तनाद करने से क्या लाभ?

"चुक गया जब नेह बाती जर गयी

मत करो चीत्कार पगले।

शैल की चट्टान सा ही

है डरा यह अन्धकार अपार

इसको भेद पायेगा नही यह कंठ स्वर

पहुँच पायेगी नही उस पार।"[50]

प्रभाकर माचवे ने दलित वर्ग के दैन्य जीवन का जो दर्दनाक चित्रण किया है वह किसी भी सम्वेदनशील प्राणी को झकझोर कर रख देता है। उन्हें दलितों की जिन्दगी पर एक तरफ तरस आता है तो दूसरी तरफ ऐसी स्थिति बनाने वालों पर आक्रोश -

"नोन तेल लकड़ी की फिक्र में लगे घुन से
मकड़ी के जाले से, कोल्हू के बैल से
मक्रां नहीं रहने को, फिर भी ये घुन से
गन्दे अंधियारे और बदवू भरे, दड़बों में
जन्मते है बच्चे।"[51]

शमशेर बहादुर सिंह शोषण से लड़ते-लड़ते जब थक जाते हैं तो कहते है-

"जहां में अब तो जितने रोज अपना जीना होना है।
तुम्हारी चोटे होनी है, हमारा सीना होना है।"[52]

मुक्ति बोध मानते हैं कि दलितों की सारी चिंताएं केवल उदरपूर्ति तक ही सीमित हैं। बाकी सारी इच्छाएं एवं आकांक्षाएं सामाजिक असमानता के नाम पर दफना ही जाती हैं। कुंठा उन्हें अविवेकी बना देती है। शहर हो या गांव सर्वत्र यही स्थिति है। दलित को विरासत में हताशा और निराशा पूंजी के रूप में मिलती है -

".....नित्य दमित व्रण-रक्तिम भूरी इच्छाओं के
मंडराते है तिमिर-कुहर-कुठित कमरों में
निम्न मध्य वर्गीय उदासी की छाहों के।
धंसी हुई छाती की हारी-थकी अस्थियाँ
नित्य वुभुक्षित प्राणों की ज्वालाएं ढांक
सांस ले रही है टूटी-टूटी निद्रा में
मृत्यु कष्ट की लम्बी छायाएं फैला के।"[53]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि प्रयोगवादी कवियों ने दलितों के शोषण का सिर्फ वर्ण न ही नही किया। उन्होंने दलितों की मुक्ति के द्वार भी खोले हैं। गांधी कविता में महेन्द्र भटनागर ने

लिखा है-

"पीड़ितों, वंचित-दलित जन के उरों में आश भर-भरकर

प्राणमय सन्देशवाहक, साम्य का नव गीत गाकर,

मुक्त उठने के लिए तुम दे रहे हो पूर्ण अवसर

देख मानवता जगी, दुर्जेय कर्णधार हो तुम।

त्रस्त दुर्बल विश्व को सुख, शक्ति के उपहार हो तुम।"[54]

8. दलितों के स्वर्णिम भविष्य का भाव :

कवि अथवा साहित्यकार भविष्य द्रष्टा एवं स्रष्टा होता है। उसकी रचना धर्मिता एकांगी नहीं होती। उसमें समग्र विकास का भाव होता है। वह जो कुछ भी लिखता है उसमें छोटे-बड़े अमीर-गरीब सब के लिए कल्याण का भाव होता हैं। उसकी लोकवादी दृष्टि समाज में समन्वयात्मकता एवं समरसता लाने के लिए बेचैन रहती है। जब दमन तथा शोषण चरम सीमा पर पहुँच जाता है, तब क्रान्ति एवं विद्रोह का जन्म होता हैं। पुरातन जलकर नष्ट हो जाता है और भव्य नूतन निर्माण की पृष्ठभूमि एवं सम्भावनाएं बनती है। क्रान्ति और नव सृजन की भावना प्रयोगवादी काल के कवियों मे खूब मुखरित मिलती है -

"मेरे इस सांवले चेहरे पर

कीचड़ के धब्बे हैं, दाग हैं,

अग्नि विवेक की

नहीं-नहीं वह-वह तो है ज्वलन्त सरसिज।

जिन्दगी के दलदल कीचड़ मे धंसकर

वक्ष तक पानी में फंसकर

मै वह कमल तोड़ लाया हूँ।"[55]

मुक्तिबोध ने यहाँ दलदल और कीचड़ शब्द का प्रयोग किया है। दलदल संकट पूर्ण जीवन का और कमल नूतन उपलब्धि का प्रतीक है। अज्ञेय दलितों के प्रति सम्वेदनशील तो थे ही उनके भविष्य के लिए भी चिंतित थे। वे लिखते हैं-

कौन हूँ मै?

तेरा दीन-दुखी पददलित पराजित

आज जो कि क्रुद्ध सर्प से अतीत को जगा

'मैं' से 'हम' हो गया।

मैं के झूठे अहंकार ने हराया मुझे,

तेरे आगे विवस झुकाया मुझे

किन्तु आज मेरी इन बाहुओं में शक्ति है

मेरे इस पागल हृदय में भरी शक्ति है।

आज क्योंकि मेरे पीछे जागृत अतीत है,

और मेरे आगे हैं, अनन्त

आदि-हीन शेष-हीन पथ वह

जिस पर

एक दृढ़ पैर का ही स्थान है

और वह दृढ़ पैर मेरा है।"[56]

हरिनारायण व्यास भारतीय दलितों को सुन्दर भविष्य के निर्माण हेतु जागृति का संदेश देते हैं। वे वुभुक्षितों का एक ऐसा मोर्चा खड़ा करना चाहते हैं जो उनकी आकांक्षा और अभिलाषा के शत्रुओं के दुर्ग को तहस-नहस कर दे-

'जन समुन्दर के किनारे की समय की बालुओं पर

हम युगल पद-चिन्ह अपने भी बना दें

और हम-तुम एक होकर

कोटि जन की सिन्धु लहरों मे मिला दें

आप अपना।

हम खड़े होकर वुभुक्षित फौज में

निज मोरचे पर

सामने के शत्रु दुर्गों के

क्योंकि पहले तोड़ना है दुर्ग

जिसकी गोद में बन्दी हमारी चाहना है।"[57]

व्यास जी ने 'शिशिरान्त' कविता में पद्दलितों के परिवर्तित नवयुग के आगमनं की ओर संकेत करते हुए लिखा है -

"खेत का खलिहान का कचरा समेटो,

अब नयी सुन्दर फसल के बीज के अंकुर निकलना चाहते हैं।

तोड़ दो यह बांध,

जिसको बांधकर

रोक दी है धार गति की

और जिसके तट अंधेरे में मनुज का

रात भर शैतान अपने जाल में करता रहा संहार।

वह महामानव हमारा इस बंधे जल के कहीं

तल में प्रगति की राह पाने खो गया है।

दे चुके हम मूल्य भारी इस भयानक भूल का

इसलिए रोको न तुम अब यह प्रवाहित वेग

मत करो जल्दी अरे, जन जान्हवी पोखर बनाकर,

तुम उसे फिर से सृजन की राह पर लाओ

भगीरथ।"[58]

कवि मनुज दलितों में शोषण के खिलाफ हो रहे जागरण को प्रतीत कर अति प्रसन्न होते हैं।

'आज शोषण की सबल दीवार ढहती जा रही है

आज धूसर मेघ धरती पर उतरकर

कर रहे तूफान का आहवान प्रतिफल

काँपते हैं पीत कनक-किरीट

विप्लव भीत उन धरणी धरणों के

अर्थ लिप्सु धनाधियों के

समर-तूर्य निनाद सन जन जागरण का।"[59]

विजय देव नारायण साही शोषित पद्दलितों का जागृति का सन्देश देते हुए कहते हैं -

"मैं केवल इतना कहता हूँ,

इस सूने कमरे की सिसकन से क्या होगा?

बाहर आओ,

सब साथ-साथ मिलकर रोओ,

आँसू टकराकर अंगारे बन जाते हैं।

फट पड़ते हैं युग-युग के ज्वालामुखी सुप्त

शायद धरती पर पड़ी दरारें मुंद जायें।"[60]

सन्दर्भ

1. अज्ञेय (सं0) : तारसप्तक, वक्तव्य से, 1943
2. वही
3. शिवकुमार मिश्र : नया हिन्दी काव्य, पृ0 209
4. सुमित्रा नन्दन पंत : इण्डिया रेडियो परिसंवाद, 1952
5. बालकृष्ण राव : नयी कविता, कल्पना, जून 1956
6. गिरिजा कुमार माथुर : काव्य में प्रयोगशीलता, आलोचना, 1952
7. केशरी कुमार : प्रपद्यवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि,अवन्तिका, जनवरी 1954
8. अज्ञेय (सं0) : तारसप्तक, भूमिका, पृ0 10-11
9. वही : दूसरा सप्तक, भूमिका, पृ0 66
10. शमशेर बहादुर सिंह : कला और साहित्य में प्रयोगवाद, आलोचना, जनवरी 1952
11. प्रभाकर माचवे : 'मनु का वंशज' अनुक्षण, पृ0 70
12. धर्मवीर भारती : 'तुम' ठंडा लोहा, पृ0 28
13. मुक्तिबोध रचनावली (द्वितीय खण्ड) : चकमक की चिनगारियाँ, पृ0 264
14. वही : जमाने का चेहरा, पृ0 83
15. वही : चम्बल की घाटी, पृ0 458-459
16. वही (प्रथम खण्ड) : लाल सलाम, पृ0 99
17. भारत भूषण अग्रवाल : 'तारसप्तक', जीवन धारा, पृ0 90
18. नागार्जुन : हंस, जून, 1949
19. वही : हंस, मई, 1949
20. वही : हंस, अप्रैल 1948
21. मुक्तिबोध रचनावली (प्रथम खण्ड) : यह क्षण, पृ0 63
22. वही : नया आदित्य, पृ0 170-171
23. वही : जब तक ये प्राण हैं, पृ0 255
24. वही : अपने ही, पृ0 183

25. वही : जड़ी भूत ढांचो से लड़ेंगे, पृ0 353

26. वही : बबूल, 148

27. वही : अपने कवि से, पृ0 164-165

28. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 165

29. वही : पृ0 167

30. वही : पृ0 167

31. वही : पृ0 17

32. वही : पृ0 166

33. वही : पृ0 167

34. त्रिलोचन शास्त्री : धरती, पृ0 229

35. महेन्द्र भटनागर : 'हिम्मत न हारो', जिजीविषा, पृ0 1

36. गिरिजा कुमार माथुर : पृथ्वी कल्प' तारसप्तक, पृ0 213-214

37. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 103

38. वही, : पृ0 104

39. वही, पृ0 104

40. मुक्तिबोध रचनावली (द्वितीय खण्ड) : चाँद का मुंह टेढ़ा है, पृ0 298-299

41. वही, पृ0 304

42. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 102

43. वही, : पृ0 103

44. धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ0 111

45. त्रिलोचन शास्त्री : बरगद की छाया के भीतर, धरती, पृ0 27

46. वही, : सोच समझकर चलना होगा, धरती, 14

47. महेन्द्र भटनागर : जिजीविषा; पृ0 35-36

48. गोविन्द रजनीश : समसामयिक हिन्दी कविता : विविध परिदृश्य से उद्धृत, पृ0 57

49. वही, पृ0 58

50. वही, : पृ0 58-59

51. प्रभाकर माचवे : निम्न मध्यवर्ग, तारसप्तक, पृ0 144

52. शमशेर : कुछ शेर, पृ0 91

53. मुक्तिबोध रचनावली (प्रथम खण्ड) : पृ0 270-271

54. महेन्द्र भटनागर : 'गांधी', चयिनका, पृ0 72

55. मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा से

56. अज्ञेय (सं0) : तारसप्तक, 280

57. हरिनारायण व्यास : तारसप्तक (द्वितीय) , एक मित्र से, पृ0 72

58. वही : तारसप्तक, शिशिरान्त, पृ0 148

59. मनुज : 'कवि और आत्महत्या', नया समाज, दिसम्बर 1949, पृ0 490

60. विजय देव नारायण शाही : तीसरा तारसप्तक, हिमालय के आँसू, पृ0 301

पंचम अध्याय

"साठोत्तरी हिन्दी कविता में दलित चेतना"

(क) साठोत्तरी हिन्दी कविता का जीवन-दर्शन :

आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास में साठोत्तरी हिन्दी कविता की अपनी अलग पहचान है। डॉ0 विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के अनुसार "साठोत्तर कविता का इतिहास विविध आन्दोलनों का इतिहास कहा जा सकता है - जिसमें अलग-अलग गुटों में, अलग-अलग मंचो से, कवियों ने अलग-अलग फतवे दिये हैं। अकविता, न कविता, अस्वीकृत कविता, युयुत्सवादी कविता, प्रतिबद्ध कविता, भूखी पीढ़ी की कविता, शमशानी कविता आदि तथा कथित काव्यान्दोलनों को अलग करके परिभाषित करना जितना कठिन है उतना ही कठिन है जेनुइन कविता को ढूँढ़पाना, जो निश्चय ही उनमे कम हैं। सब में एक ही स्तर का असन्तोष, क्षोभ, उत्तेजना और विद्रोह व्याप्त है।"[1] आधुनिक काल में अनेक काव्यान्दोलन देखने को मिलते हैं पर इनमें से कुछ काव्यान्दोलनों की अवधि बड़ी सीमित है। कुछ कवियों का मंच बनाकर आन्दोलन खड़ा करना जितना आसान है उतना ही कठिन है उसको वैचारिक जीवन देकर स्थायित्व प्रदान करना। साहित्य के क्षेत्र में गर्व से यह कहना कि हम सही हैं, बाकी सब गलत, केवल भ्रम एवं विरोधाभास को जन्म देता है। इतिहास की उभरती रेखाएं और उनके बीच जीता हुआ मनुष्य साहित्य के सभी नारों और मुखौटों को निरर्थक साबित कर देता हैं। साहित्य के धरातल पर कोई लक्ष्मण रेखा खींचना या भविष्यवाणी करना खतरे से खाली नहीं होता। अतः पुरानी पीढ़ी पर अपनी नयी मान्यताओं को लादना अथवा नयी पीढ़ी पर पुरानी मान्यताओं को लादना बुद्धिमानी नहीं अपितु हठधर्मिता ही कही जायेगी। सन् 1960 के आस-पास हिन्दी युवा कवियों का एक समूह ऐसा आया जिसने कविता को नया कलेवर देने की कोशिश की, जो परम्परागत साहित्य से कुछ भिन्न था। इन कवियों ने नये मानदण्ड स्थापित कर सामाजिक संवेदना एवं रचना धर्मिता में सामंजस्य एवं संतुलन लाने का प्रयास किया।

आधुनिक हिन्दी काव्य का विकास इस बात का साक्षी है कि सन् 1936 के बाद हिन्दी काव्य धारा जो सप्तकों से होकर प्रवाहित हुई, वह आगे चलकर दो धाराओं में विभाजित हो गयी। एक धारा तो वह रही जो छायावादी काव्य संस्कारों से अपने को पूर्णतः मुक्त न कर सकी और कालान्तर में छायावाद की ही एक कड़ी बनकर रह गयी और दूसरी धारा वह रही जो छायावादी काव्य संस्कारों के अवरोधों को तोड़ते हुए एक भिन्न दिशा में बढ़ती रही और आगे चलकर जो हिन्दी कविता को

एक नवीन सौन्दर्यभिरुचि दे सकी। अज्ञेय और मुक्तिबोध इन दोनों धाराओं के अलग-अलग प्रतिनिधि उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। अपने को नयी कविता से बिल्कुल अलग समझने वाले युवा लेखक जब निराला और मुक्तिबोध के परवर्ती काव्य पर गौर किये तो उनकी शंकाओं का बहुत कुछ समाधान हो गया। वे युवा कवि जो सन् 60 के बाद साहित्य के क्षेत्र में आये उनकी सोंच में नया अंदाज था। सन् 60 के आस-पास हुई साहित्यिक गतिविधियों के सम्बन्ध में परमानन्द श्रीवास्तव ने 'धर्मयुग' में लिखा कि नयी कविता के एक दौर का समाप्त हो जाना नयी कविता का समाप्त हो जाना नहीं है। पर यह स्वीकार करने में भी कोई संकोच नहीं है कि नयी कविता की विद्रोही चेतना सन 60 तक आते-आते समाप्त हो चली थी और उसकी मुख्य धारा में एक प्रकार की स्थिरता आ गयी थी। प्रयोग का आग्रह लेकर आगे बढ़ने वाली नयी कविता आन्तरिक विरोधों से कमजोर हो गयी। उसका रचना संसार वास्तविक संसार से कट सा गया। तृतीय सप्तक के कवि केदार सिंह के शब्दों में - " एक ऐसे समय में जबकि साहित्य को रोमाष्टिंक भावुकता से छुटकारा दिलाने के लिए बिल्कुल दूसरे प्रकार के नारों की आवश्यकता थी। तारसप्तक के कुछ वक्ताओं और विशेषतः सम्पादक के वक्तव्य ने उन प्रश्नों को रेखांकित करने का प्रयास किया जो जाने-अनजाने रोमाण्टिक संशयों का ही प्रतिनिधित्व करते थे। परिणामतः रोमाण्टिक एवं आधुनिक के बीच जो स्पष्ट विभाजन अब तक हो जाना चाहिए था वह अगली पीढ़ी तक के लिए स्थगित कर दिया गया।"[2]

सन् 1960 के बाद की हिन्दी कविता पर जब विचार करते है तो पाते हैं कि वह नवीन सौन्दर्य बोध, नवीन काव्याभिरुचि और नवीन संवेदनशीलता एवं नवीन सृजन बोध की कविता है। रोमाष्टिक भावुकता के स्थान पर यथार्थपरक बौद्धिकता, संयम, सुरूचि, सन्तुलन और भद्रता के स्थान पर सच्चाई, साहस और खारापन, मसृण और कोमल के स्थान पर परुष और अनगढ़ की स्वीकृति, समझौता और यथास्थितिवाद के स्थान पर संघर्ष और विद्रोह का आग्रह, परम्परागत मूल्यवादी दृष्टि के स्थान पर अनास्था और मूल्यहीनता का स्वर आक्रोश क्षोभ उत्तेजना, तनाव और छटपटाहट, दलितों शोषितों के प्रति प्रेम आदि साठोत्तर हिन्दी कविता की ऐसी महत्वपूर्ण विशेषताएं हैं जो उसे सशक्त एवं समृद्धि प्रदान करती हैं। कुछ आलोचक यह मानते हैं कि साठोत्तर हिन्दी कविता विद्रोह के नाम पर बड़बोलापन और सतही बयानबाजी अधिक है। साठ के बाद कवियों ने छायावादी रोमाष्टिक संस्कारों एवं प्रयोगवादी नयी कविता की रूढ़ियों को एक साथ तोड़ा है। रघुवीर सहाय ने लिखा है-

"कितना अच्छा था छायावादी

एक दुख लेकर वह एक गान देता था

कितना कुशल था प्रगतिवादी

हर दुख का कारण वह पहचान लेता था

कितना महान था गीतकार

जो दुख के मारे अपनी जान देता था

कितना अकेला हूँ मैं इस समाज में

जहाँ सदा मरता है एक और मतदाता।"[3]

एन्द्रिक सम्वेदना के कवि कमलेश ने रोजमर्रा की चीजों पर अपना ध्यान अधिक केन्द्रित किये हुए हैं -

"बाजार में आज छः छटांक की ही दाल मिली, प्याज भी

चाँदी की तरह तेज, डेढ़ रुपये कचहरी में

लग गये, कहाँ से लाते तरबूज सुना ऊँच गाँव में

कोई गमी को गयी है।"[4]

साठोत्तर हिन्दी कविता में समाज की मृत मान्यताओं, टूटती हुई परम्पराओं, सामाजिक-राजनीतिक भ्रष्टाचार एवं युवा पीढ़ी की बिगड़ी मानसिकता स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। कुत्सित मानसिकता का शिकार मानव मन किस ओर भटक कर जायेगा और उससे प्रभावित होकर भारतीय समाज किधर जायेगा, आदि प्रश्नों का समाधान साठोत्तर हिन्दी कविता में खोजने पर मिल जाता है। आजादी के बाद भी समाज खुशहाल क्यों नहीं हुआ, समाज में समरसता क्यों नहीं आयी, देश आत्मनिर्भर क्यों नहीं हुआ आदि ऐसे प्रासांगिक मानवीय प्रश्नों को छूने की कोशिश इस काल के कवियों ने की।

लीलाधर जगूड़ी ने व्यंग्यातमक भाव में लिखा है -

"सूचना विभाग के हर पोस्टर पर

खुशहाली है। चारों ओर

कंगालों के पास आटा नहीं

गाली है

और जिस पर कोई नहीं

खाना चाहता

आजादी एक जूठी थाली है।"[5]

सन् 60 के लगभग बुद्धिजीवियों की जो नयी-पुरानी पीढ़ी सामने आयी उसने अपने आगे एक भयानक अन्धकार पाया। एक ओर सरकार अपने दायित्व से बेखबर थी तो दूसरी तरफ नेतागण कुर्सी के लिऐ जोड़-तोड़ में व्यस्त थे। शोषक वर्ग शोषण में मस्त था। आम-आदमी पिस रहा था। लेखकों से रहा न गया। कहने को मजबूर हुए। हो सकता है उनकी रचना धर्मिता ने उनको कोसा हो। सन् 60 के बाद की कविताओं के सामाजिक दर्शन पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि इस दशक का कवि मानव अस्तित्व के लिए भयानक संघर्ष किया। केदारनाथ सिंह का 'अनागत' जिस तरह उनके आसपास मड़राया करता था उसी तरह का अनिश्चित भविष्य का संकट आम आदमी के इर्द-गिर्द दिखायी पड़ता है। मुक्तिबोध की 'अधेरे में' राजकमल चौधरी की 'मुक्ति प्रसंग' रघुवीर सहाय की 'आत्म हत्या' के विरुद्ध तथा श्रीकांत वर्मा की समाधि-लेख जैसी कविताएं उस काल के सामाजिक यथार्थ को व्यक्त करने में पूर्णतया सक्षम हैं। दहशत भरे परिवेश में आदमी कैसे जीता है इसका जीवन्त उदाहरण केदारनाथ सिंह की कविताओं में देखने को मिलता है। भीतरी और बाहरी संघर्ष मुक्तिबोध के काव्य की सही जमीन है। तो मानसिक अर्न्तद्वन्द और तीखे सामाजिक अनुभव उसके कलेवर। फिर भी सत्य की खोज मुक्तिबोध की नियति बनी। अनास्था घुटन संत्रास ऊब, उदासी, टूटन यथार्थ को तोड़ने की शक्ति देते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि साठोत्तर क़विता जीवन और जगत् के अधिक निकट है। यह बात दूसरी है इस काल में अनेक अनर्गल साहित्य भी लिखा गया पर यह तो होता रहता है। कौन सा ऐसा युग है जहां सत्य ही है, झूठ नहीं है। यह विकास का एक क्रम हैं उत्थान और अवनति सदैव एक साथ हुए हैं। हिन्दी में भी यही हुआ। कवियों की सपाट वयानी ने जीवन की विसंगतियों को गहरायी से पकड़ा है। व्याकरण की दृष्टि से भाषा और कविता का अवमूल्यन हुआ पर भाव की दृष्टि से उसमें गहरायी ही मिलती है। कुछ आलोचक यह मानते हैं कि अनुभूतियों के अति सरलीक़रण द्वारा इस दशक के कवियों ने अपनी कविताओं का आकार तो लम्बा कर दिया है परन्तु कोई नाटकीय काव्यात्मकता वे पैदा नहीं कर सकते हैं।

साठोत्तर कविता में समकालीन चेतना और यथार्थ की अभिव्यक्ति का प्रयास तो हुआ ही पलायन भी देखने को बहुत मिलता है। अनुकरण, चमत्कार, प्रदर्शन और आत्म विज्ञापन भी यदा-कदा देखने को मिल जाता है। इस काल में खतरनाक पहलू एक और जो देखने को मिलता है वह यह है कि विरोध और विद्रोह के आग्रह में ये परम्परा की जीवन्त चेतना एवं उच्चतर मूल्यों को भी अस्वीकार करने लगे थे। अनास्था, उत्तेजना, खीझ और कुंठा ही कविता नहीं है। कविता का क्षेत्र इन सबसे कहीं बड़ा है। कविता सबके साथ एक जैसा व्यवहार करती हैं क्योंकि उसके मूल में हित का भाव छिपा होता है। वह छोटे-बड़े का भेद नहीं करती। तमाम विसंगतियों के बावजूद भी साठोत्तर कविता में आम-आदमी का दर्द देखने को मिलता है। सामन्तवादी सोच से छुटकारा दिलाने के भाव के साथ-साथ उसमें समतामूलक समाज की संरचना की आकांक्षा भी है। शिक्षा और ज्ञान से दूर लोगों के लिए रोशनी की किरण भी है। धन का समान विभाजन कैसे हो, दलित भी कैसे समाज की मुख्यधारा से जुड़े, उन्हें कैसे अधिकारों और कर्तव्यों का बोध हो, राजनीति और प्रशासन में उनकी सहभागिता कैसे बने आदि सामाजिक एवं मानवीय प्रश्नों को भी इस काल के कवियों ने स्पर्श करने की कोशिश की है। कहाँ तक सफलता मिली यह आलोचकों का विषय हैं। कविता मनुष्य की नियति को उसकी समकालीन वास्तविकता को समझने पहचानने का माध्यम तो है ही जीवन और समाज को नयी दिशा देने का प्रकाश स्तम्भ भी है।

(ख) साठोत्तरी हिन्दी कविता में दलित चेतना का स्वरूप :

1. दलित वर्ग का सामाजिक यथार्थ :

समय की गतिशीलता ने हर युग के समाज को परिस्थिति अनुसार बदला है। सन् 1947 में जब आजादी मिली तो जन समुदाय के हृदय में हर्ष और उल्लास तो था ही कुछ पाने की जिज्ञासा एवं महत्वाकांक्षा भी जगी। अमीर-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित सभी प्रसन्न थे। अमीर सत्ता के स्वप्न देखने लगा तो गरीब और दलित यह सोचकर प्रसन्न हुआ कि अब रोटी-रोजी का संकट दूर हो जायेगा। विकास तो हुआ पर सबकी इच्छाओं की पूर्ति सम्भव न हो सकी। जो सत्ता के नजदीक पहुँचे उनकी सोंच में ऐसा बदलाव आया कि आम आदमी उन्हें बंधुआ सा दिखने लगा। सन् 60 तक पहुँचते-पहुँचते सत्ता का स्वाद चखने वाले नेताओं एवं उनकी छत्रछाया में पलने वालों सामंतो के हृदय में छल और कपट ने इस तरह जन्म लिया कि उन्हें अपने ही लोगों के बीच में विभेद दिखने लगा। अमीर और

गरीब की खाँई बढ़ती गयी। अपने ही लोग शोषक बन बैठे। आम आदमी की महत्वाकांक्षाएं जब दफन होने लगी तो कुछ पुराने एवं युवा रचनाकारों ने कविता के माध्यम से विरोध करते हुए बुराई के विरोध में संघर्ष करने का एलान किया। रामकुमार वर्मा ने दलित 'एकलव्य' को आधार बनाकर 'एकलव्य' ग्रंथ की जो रचना की वह अपने में बेजोड़ तो है ही प्रासंगिक एवं समसामयिक भी हैं। वर्मा जी ने स्वीकार किया है कि एकलव्य ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा उन्हें गांधी जी से मिली - "मेरे शैशव के संस्कारों से अंकुरित और बापू के अछूतोद्धार में पल्लवित यह कथा दस वर्षों की साधना के बाद आज की युगवाणी में प्रस्फुटित हो रही है।"[6] वर्मा जी को सन 60 के आसपास की सामाजिक परिस्थितियों का यथार्थ महाभारत कालीन जैसा लगा। धर्मवीर भारती ने 'अंधायुग' नाटक में जिन विषम परिस्थितियों का वर्णन समसामयिक संदर्भ में किया है उससे एक कदम आगे बढ़कर वर्मा जी ने एकलव्य को आधार बनाकर लिखा है। मेरे विचार में एकलव्य यहाँ वर्तमान युवा दलित वर्ग एवं जाति का प्रतिनिधित्व करता हैं क्या एकलव्य की तरह हर दलित उपेक्षित नहीं हुआ है? क्या उन्हें शिक्षा और संस्कार से वंचित नहीं किया गया? जिन्हें हम दलित या शूद्र मानते हैं वास्तव में वे हमारे अपने ही हैं। प्रेरणा सर्ग में वर्मा जी ने लिखा है -

"जिनको कि आर्यगण कहते अनार्य हैं
जिनका कि देश तथा कण-कण भूमि है।"[7]

दलितों ने जब भी ऊपर उठने का प्रयास किया उच्च वर्ग के संवेदनहीन लोगों ने कुछ न कुछ अवरोध उत्पन्न किया। शूद्रों को शिक्षा से विमुख रखना इसी शोषण नीति की एक कड़ी है -

"मैने सुना विद्या-दान शूद्र हेतु है नहीं
सत्य क्या है देव! यह सामाजिक मान्यता?"[8]

उच्च जातियाँ जानती हैं कि दलित यदि शिक्षा, ग्रहण कर लिये तो मेहनत और ईमानदारी के बल पर आगे बढ़ जायेंगे-

"शूद्र धनुर्वेद अधिकारी यदि हो गये
तो करेंगे क्षत्रियों को रण में पराजित,
क्योंकि अभी क्षत्रियों का मात्र नवोदय है
और शूद्र भारत के आदिम निवासी हैं।"[9]

दलितों को अस्पृश्य कहने पर उन्हे आपत्ति है -

"हम हैं अछूत तो हमारे अंग स्पर्श से

आर्यों के सुअंग क्या कुअंग बन जायेंगे।"[10]

दूधनाथ सिहं का कहना है कि किसान जो आर्थिक दृष्टि से कमजोर हैं वह भी तो दलित की श्रेणी में आता है। ईमानदारी से पूछा जाय तो क्या हम यह कहने की स्थिति में हैं कि दलित किसान हर दृष्टि से समर्थ है? क्या उसे सादर और सम्मान की जिन्दगी जीने का अधिकार नहीं है-

"जो हाथों से काम करते हैं

वे गुलाम है अभी भी

लगान भरते हैं

रिश्वत देते हैं

और पई भर जमीन के लिए खून करते हैं

मुकदमें लड़ते हैं जेल की रोटियाँ बेलते हैं

..... नागरिकता सीखते हैं।

और उनकी पत्नियाँ अंधेरे की सीलन में

रोते हुए बच्चों को भरपेट पीटती हैं

फिर रो-रोकर प्यार जताती हैं, कचरे में सनी हुई

पूजा करती हैं, और जीवित रहती हैं।"[11]

राजकमल चौधरी का मानना है कि प्रशासन के कोरे आश्वासन से सर्वहारा वर्ग अथवा दलित वर्ग का पेट भरने वाला नहीं है। मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति जब तक नहीं होती तब तक दलितों का जीवन स्तर ऊपर उठने वाला नहीं है -

"आदमी को तोड़ती नही लोकतांत्रित पद्धतियाँ

केवल पेट के बल

उसे झुका देती हैं धीरे-धीरे अपाहिज

धीरे-धीरे नपुसंक बना लेने के लिए उसे

शिष्ट राज भक्त देश प्रेमी

नागरिक बना लेती है

आदमी को इस लोकतंत्री संसार से अलग हो जाना चाहिए।"[12]

श्रीकांत वर्मा ने सामाजिक समरसता को नष्ट करने वाले लोकतंत्र के रक्षकों से सावधान रहने की बात की है -

"कुछ लोग मूर्तियाँ बनाकर

फिर बेचेगें क्रांति की (अथवा षडयन्त्र की)

कुछ लोग सारा समय

कसम खायेंगे लोकतंत्र की

मुझसे नही होगा

जो मुझसे नहीं हुआ

वह मेरा संसार नहीं।"[13]

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना लोकतंत्र को कलंकित करने वाले सत्ताधारियों एवं सामंती मानसिकता वालों को खूब-खरा खोटा कहा है -

लोकतंत्र को जूते की तरह

लाठी में लटकाए

भागे जा रहे हैं सभी

सीना फुलाएं।"[14]

नरेश मेहता ने 'शबरी' रचना के माध्यम से तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था पर चुटीला व्यंग्य किया है। वर्ण जाति धर्म छूत-अछूत असमानता ऊँच-नीच जैसे शब्दों की बंदना करने वालों को वे समाज का हितैषी नहीं मानते, बल्कि उन्हें वे समाज का विध्वसंक मानते हैं -

"जिन्हें न थे स्वीकार

धर्म नैतिकता के ये बन्धन'

आर्य जाति के होने पर भी

कहलाये राक्षसगण

× × × × ×

क्या आत्मा की उन्नति केवल

है उच्च वर्ग तक ही सीमित

प्रभु तो हैं सबके पिता भला

उनका आराधन क्यों सीमित।

× × ×

क्या धर्म तत्व से ऊँची

है वर्णाश्रम मर्यादा?

तब व्यर्थ तपस्या पूजन

यह गंगा भी है सूद्रा।"[15]

कवि ' किसन फागू' समाज की दुर्दशा देख तिलमिला उठते हैं। वे कहते हैं कि मानव तू अपने सृजन के पक्ष से भटक गया है। जिस समाज में व्यक्ति का मूल्यांकन जन्म और जाति की कसौटी पर किया जाता है। क्या वह समाज कभी सुधरेगा। यह भारतीय समाज की विविधता नहीं बल्कि जटिलता है जो व्यक्ति को व्यक्ति से बांटती है -

"जन्म से तय होता है वर्ण यहाँ

ऐसा हिन्द देश है मेरा

जहाँ इन्सान को समझते हैं

जानवर से बदतर

वही है आर्यावत।"[16]

सवर्णों की जूठन पर जीने वाले दलितों पर उन्हें दया भी आती है और आक्रोश भी। दया इसलिए आती है कि दलित पशु से भी बदतर जिन्दगी जीता हुआ दिखायी पड़ता है और आक्रोश इसलिए होता है कि ऐसी जिन्दगी जीने के लिए वह स्वयं किसी न किसी रूप में जिम्मेदार हैं -

"जूठन पर पलने वाले मेरे भाई

धिक्कार है तुम्हे

जो सह रहे हो यह नारकीय जीवन

मै थूकता हूँ

तुम्हारे मुँह पर।"[17]

'प्रेमशंकर दलितों की दैन्य दशा से दुखी तो हैं ही, समाज की गतिविधियों से उद्वेलित भी हैं। दलितों से केवल कर्तव्यों की बात की जाती है। अधिकारों के प्रति जागरूकता दिखाने पर उन्हें नक्सली कहा जाता है और अवसर पाते ही उन्हें मार दिया जाता है। मारने में कुछ दलित गद्दार की भूमिका निभाते हैं। सत्ता का मोह उनकी बुद्धि को भ्रमित कर देता है। मौन रहकर आखिर कब तक घुटन भरी जिन्दगी जीते रहोगे- मेरे दलित भाईयो-

"मुझे अभी तक याद है पिपरा गाँव
दूध पीते अबोध बच्चों का जलना
माँ बहनों को रायफल से भूनना
× × × × ×
पंचशील मानवता गिरवी रख दी है
जातिवाद की दहकती भट्ठी के नीचे,
देश को दहकती भट्ठी न बना दें,
× × × × ×
पिपरा की हवा गर्म हो उठी है
पिपरा को जला गयी आग
कुँआरी की माँग ज्वाली सी लगती है,
दलित जिंदा जलते रहे,
इधर नारियों से बलात्कार, चीखती अस्मत की पुकार,
दलित नेताओं की सौदेबाजी, मंत्री बनने का मोह
क्या सब मीरजाफर बन गये।
अस्तितव को खतरा है इसीलिए मारे जाओगे दलित,
मैकाले पद्धति की शिक्षा, वोटों का जाल, आरक्षण का चक्रब्यूह
तुम्हारे अस्तित्व के लिए नापाक, बम बन जायेंगे।
अपने अधिकार माँगने पर विद्रोही या नक्सलाइट कहकर

गोलियों से भून दिये जाओगे

इसलिए उठाओ दलितों मेहनत का हाथ।"[18]

2. संघर्ष और विद्रोह का स्वर :

आजादी मिलने के बाद जब दलितों की महत्वाकांक्षाएँ पूरी नहीं हुई तो संघर्ष और विद्रोह का स्वर उभरना लाजिमी थी। भीमराव अम्बेदकर ने दलितों के अन्दर जागरण का मंत्र जो जगाया था वह कुछ करने के लिए उन्हें उद्वेलित कर रहा था। समाज से अपना हक मांगने भर को दलित जागरूक हो गये थे। मेहनत और संघर्ष जैसे गुण उन्हें विरासत में मिले ही थे। समाज के सामने आक्रोश व्यक्त कर वह बताना चाहते थे कि हम भी समाज के ही अंग हैं। विषमताओं का जन्मदाता ईश्वर नहीं बल्कि उच्च वर्ग के लोग हैं। शिक्षा से अब हम वंचित नहीं रहना चाहते। हमने अनादिकाल से बहुत सहा है। अब और नहीं सहा जाता। सेवा करते-करते हम थक गये। हमें मिला क्या-केवल तिरस्कार और दरिद्रता ही न। हम कुछ पाने के लिए अब क्रांति करेगें। वर्मा जी ने दलितों के इस आक्रोश को 'एकलव्य' के माध्यम से व्यक्त किया है -

"हमने सहन की है वर्ग की विगर्हणा,

शूद्र कहलाते रहे सेवा भाव मानके।

किन्तु जब मानव को विद्या का निषेध हो,

बात क्या नहीं क्रांतिकारी बन जाने की

× × × × ×

शूद्र कहा हम मूल देश वासियों को क्यों

इसलिए कि आप गौर वर्ण वाले हैं।

और हम श्याम वर्ण वन्य वेशधारी है

अत्याचार सहते हैं इसलिए शूद्र है।"[19]

बाबूलाल 'सुमन' डॉ0 भीमराव अम्बेदकर के विचारों से इतना अधिक प्रभावित थे कि अम्बेदकर जी के ऊपर उन्होंने एक काव्य लिख डाला। उनके अनुसार अम्बेदकर महामानव थे। दलितों को उनके विचारों का अनुकरण करना चाहिए। जो दलित बुद्धि और शक्ति में प्रबलथे वे दलितों के जीवन सन्दर्भ में सक्रिय हुए। सुमन जी के अनुसार स्वर्णिम भारत के निर्माण में दलितों की महत्वपूर्ण भूमिका रही

है। दलित सवर्ण से जब पूछता है कि

मेरे ही हाथों पर निर्भर

है यह सुन्दर स्वर्ग तुम्हारा

जो उत्कर्ष तुम्हारा उसमें

मेरा क्या सहयोग नहीं है।"[20]

पेड़ का पत्ता तोड़ लेने से जैसे पेड़ गिर नहीं जाता है वैसे ही सवर्णों के द्वारा चाहे जितना छुआ-छूत और ऊँच नीच का भेदभाव किया जाय, देश से दलितों का अस्तित्व समाप्त होने वाला नहीं है -

"वर्ण भेद ही छुआछूत का मूलाधार जहाँ है

मात्र तोड़ने से पल्लव क्या पेड़ गिरा करते है।"[21]

सन् 60 के बाद दलितों में इतनी सक्रियता तो आ ही गयी कि वह विप्रों से शंका समाधान हेतु प्रश्न कर सकें। जब अस्तित्व पर संकट आता है तो हर प्राणी सचेत हो जाता है। मानव तो बुद्धिमान और संवेदनशील प्राणी है। इसलिए संकट के क्षण में वह आक्रोशित भी होता है और जरूरत पड़ने पर संगठन खड़ा करके विद्रोह का आवाहन कर देता है -

"अपने घर में अपना ही जब

कोई व्यक्ति कभी छलता है

सोचो तो कितना खलता है

मानव की दुनिया में मुझको।

× × × × ×

जीने का अधिकार मुझे भी

मेरा भी संसार यही है

मातृभूमि पर मेरा भी तो

पानी सा प्रस्वेद पड़ा है।"

× × × × ×

मुझको तो दुख दर्द बचा बस

तुमने सब कुछ थाम लिया है

शोषण का प्रतिरोध करूँ तो

तुमने हर हरताभ लिया है।"[22]

दलितों के मन में इस बात का भी मलाल रहा कि प्रशासन ने दलितों की उपेक्षा की। सामर्थ्यवान होने के कारण सवर्ण सत्ता का लाभ लेते रहे हैं। उनके हिस्से में तो केवल नाम मात्र का हिस्सा आता रहा -

"शासन पोषक था सवर्ण का

दलित वर्ग नेता विहीन था,

राजनीति अधिकारों को खो

बस बेबस अति दीन हीन था।"[23]

राजेन्द्र शर्मा दलितों को सामाजिक विकास की धुरी मानते हैं। दलित उस बीज की तरह है जो अपना अस्तित्व बिगाड़कर दूसरा रूप तैयार करता है। वह संघर्ष से डरता नहीं क्योंकि वही तो उसकी पूँजी है -

"वह विरवा अपने साथियों समेत

जमीन तोड़ेगा

वह तुम्हारे खिलाफ ही नहीं

दुनिया भर में भूख के खिलाफ

लड़ रहा है।"[24]

बदलू राम 'रसिक' का मानना है कि उच्च वर्ण के लोगों ने दलितों का जगह-जगह शोषण किया है। इसलिए ऐसे शोषकों से संघर्ष किये बिना मुक्ति मिलने वाली नहीं है। समाज के इस कुमार्गी पथ को जरूर मिटाना होगा-

"जन्म जाति से यहाँ बहुत से पेशे है जलील कहलाते।

लेकिन कुछ पेशे जलील करते, रहते पर उच्च कहाते-

कर्म प्रधान विश्व रचि राखा, का दुनिया को पाठ पढ़ाते।

किन्तु अनेकों कर्महीन ऊँच नीच कब माने जाते।

यह समाज का नियम मिटाना भी उद्देश्य हमारा है।

शोषक लोगों गद्दी छोड़ो, बस यही हमारा नारा है।"[25]

3. अनास्था और मूल्य हीनता का स्वर :

हर समाज के अपने कुछ युगीन सामाजिक और मानवीय मूल्य होते हैं जो उस समाज की दिशा और दशा तय करते हैं। सन 60 के बाद भारतीय सामाजिक मूल्यों में बड़ी तेजी से बदलाव आया। कारण था-भारतीय समाज की गतिविधियों में बदलाव। मनुष्य को जीने के लिए केवल आनन्द ही नहीं चाहिए। उसे तो वह सब चाहिए जिससे उसकी मानवता सुरक्षित रह सके, स्वाभिमान जिन्दा रह सके। परम्परागत मूल्यों की संरचना से जब सब का भला होने की वजाय कुछ विशिष्ट लोगों का हित होने लगा और मूल्य एकांगी साबित होने लगे तो प्रभावित होने वाला दलित वर्ग शोषण और विषमता के विरुद्ध विद्रोह कर उठा। दलितों के द्वारा समता, सामाजिक न्याय, प्रेम और बन्धुत्व जैसे मूल्यों पर जोर दिया गया। यह मांग युग और समाज दोनों की थी। दलितों का मानना था कि इन मूल्यों के द्वारा नये समाज और नये भारत का निर्माण होगा, जो परम्परागत भारत से भिन्न होगा। लक्ष्मीकांत वर्मा ने लिखा है कि -"जब भी किसी वस्तु का सन्दर्भ बदल जाता है तो उसके साथ-साथ उसके मूल्य भी बदल जाते है।"[26] साठोत्तर हिन्दी कविता में मूल्यों का बदलाव बड़ी आसानी से देखने को मिलता है। डॉ0 जगदीश गुप्त ने मूल्यों के बदलाव के सम्बन्ध में लिखा है - "प्रत्येक बन्धन से मुक्ति पाना व्यक्ति का सहज स्वभाव है और वह उसके लिए संघर्ष करता है। संघर्ष जीवन और चेतना का लक्षण है। यही कारण है कि स्वतंत्रता और मुक्ति जैसे मूल्यों को अत्यधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।"[27] परम्परागत मूल्यों से विद्रोह कर दलितों के द्वारा ज़ो मूल्य गढ़े गये वे अकस्मात नहीं बने। उसके पीछे सदियों से चली आ रही सामाजिक व्यवस्था ही किसी न किसी रूप में जिम्मेदार है। नित्यानन्द तिवारी के शब्दों में "मूल्य सदैव विवशता के भीतर उपजता है, सम्बन्धों के सन्तुलन में उपजता है।"[28] समता मूल्य सामाजिक विषमता को तो दूर करता ही है समाज में समरसता भी कायम करता है। रामकुमार वर्मा ने एकलव्य काव्य में कुद ऐसा ही विचार व्यक्त किया है -

"मेरे गुरू उच्च और नीच मैं निषाद हूँ,

किन्तु गुरुवाणी ही अमोध अभिषेक है।

ऊपर और नीचे क्या ओष्ठ भी नहीं हैं दो?

किन्तु जो निकलती है वाणी वह एक है।"[29]

कवि मणि मधुकर ने खोखले आदर्शवादी मूल्यों की व्यवहारिकता पर प्रश्न चिन्ह लगाते हुए लिखा है -

"श्रद्धा सम्मान और प्रेरणा जैसे शब्दों को
पान की पीक के साथ थूकता हूँ मैं
मंत्रिमण्डलों में बलात्कार करने वाले लोगों पर
मेरे थूक का रंग लाल है
काश मेरे खून का भी रंग लाल होता।"[30]

कवि देवेन्द्र कुमार का मानना है कि जैसे-जैसे समाज विकास के डगर पर आगे बढ़ रहा है वैसे-वैसे सामाजिक दबाव कम होता जा रहा है। जाति और वर्ग की सीमाएं तो टूट रही है पर आम जिन्दगी में तनाव और छट्पटाहट बढ़ रही है। शब्द भण्डार में नये-नये मूल्य शब्द संगृहीत हो रहे हैं -

"बावजूद इस सबके अंधेरे में
चीजों को मैने नये सिरे से
टटोला है
किसी ने मेरे लिए कोई सुरक्षित शब्द - भण्डार
नहीं खोला है।"[31]

4. आक्रोश क्षोभ और उत्तेजना का भाव :

दलित समाज की मुक्ति ही दलित कविता की मंजिल है और इस कविता का उद्गम व्यक्ति की पीड़ा में नही समूह की वेदना और उसके शोषण में है। आक्रोश क्षोभ और उत्तेजना व्यक्ति के अन्दर सामान्य स्थितियों में जन्म नहीं लेते, बल्कि परिस्थितियाँ ही इतना उसे मजबूर कर दती हैं कि ये भावनाएं अपने आप उत्पन्न होने लगती हैं। साठोत्तर कविता का कवि अपनी कल्पना शक्ति को आदर्शों की परिधि तक ही नही रखा बल्कि वह तो अपनी कल्पना को दलितों की झुग्गी झोपडियों तक पहुँचाना चाहता था जहाँ अप्सरायें नहीं बल्कि हिन्दुस्तान की अधिक से अधिक आबादी रहती है 'श्री ह0ज0 गडपांडे' ने शोषित दलितों की यथार्थ जिन्दगी का जो चित्र प्रस्तुत किया है वह निश्चित

ही बहुत दुख दायी है। कवि को इससे क्षोभ भी है और आक्रोश भी -

"खूबसूरत जिस्मों पर

गीतों का हिमालय रचने वाले

मित्र

जरा नजर डालो

इन जिस्मों पर भी

जिन पर

वर्ण-वर्ग की असमानता ने

बना दिये हैं

असंख्य वदसूरत निशान

स्तन!

जो उगलते हैं मात्र आँसू

जर्जर विलखते बच्चों के पेट में

जिस्म!

जो होते हैं समर्पित हर रोज

अपनी बेजान आत्मा के लिए

जरा झाँको

उन जिस्मों के भीतर

जो लटके हुए हैं

सलीवों पर

संवेदना हीन,

जिंदा मुर्दों की तरह

× × × × ×

मित्र तुम्हारा कसूर नहीं है

कसूर है तुम्हारी उस संस्कृति का

जिसने सिखाया है तुम्हे

मात्र वासना हैवानियत

ढोंग असमानता और

शोषण का पाठ।"[32]

मीनू सागर ने 'फडफडाहट' कविता के माध्यम से दलितों के स्वाभिमान को जागृत करने का प्रयास किया है -

"ऐ जुल्मी अत्याचारी

शोषक बहेलिये

दलितों का पक्षी मन भी

लगा है अब

फड़फड़ाने

मन मेरा

जो कैद था कल तक।"[33]

उदय प्रकाश का मानना है कि केवल आक्रोश और क्षोभ प्रकट कर देने से दलित तुम्हारा हित होने वाला नहीं है, तुम्हे अपनी शक्ति को बढ़ाना होगा नही तो सदियों की तरह शोषित होते रहोगे-

"ओ तृषित शोषित, दलित अब जाग जाओ

भूल जाओ प्रणय गीतों, शिक्षित होकर संगठित बनो।

फिर न्याय हेतु संघर्ष करो।

जो दलित दुखी शोषित निरीह।

हम उनके मन में हर्ष भरें।

निर्भय होकर आचरण करें

जन-जन को सजग प्रबुद्ध करें।"[34]

डॉ0 रामकुमारवर्मा ने वर्ग-भेद की राजनीति को समाज के लिए अहितकारी मानते हुए कहा है-

"ऐसी राजधानी का विनाश होगा शीघ्र ही,
जो महर्षियों को राजनीति से चलाती है।
जिसने किया है भेद मानव के पुत्रों में।
भूमिपति भूमि पुत्र वर्ग हो गये हैं दो।
सावधान भूमि पति, हममें भी शक्ति है,
भूमि पुत्र सर्वदा है भूमिबल जानते।
पशुबल कौशल तो सीमित तुम्हारा है,
आत्म बल की हमारे पास सीमा है नहीं।"[35]

5. पूंजीवादी व्यवस्था से मोहभंग :

आजादी मिलने के बाद देश में जब लोकतंत्रीय व्यवस्था कायम हुई और समाज के हर वर्ग, जाति, धर्म के लोगों को संविधान में अधिकार प्राप्त हुआ तो भारतीय सामाजिक व्यवस्था में बदलाव आना स्वाभाविक था। समाज का हर वर्ग अपने विकास हेतु प्रयत्नशील हो उठा। समाजवाद के नारे ने पूँजीवादी व्यवस्था को झकझोर कर रख दिया, क्योंकि पूंजीवादी आर्थिक संसाधन की दृष्टि से भले ही सशक्त एवं समर्थ रहे हों, परन्तु जन समुदाय की दृष्टि से वे कमजोर थें। उनके खेतों और कलकारखानों में काम करने वाला श्रमिक वर्ग अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होने के साथ-साथ उनकी पूंजी में शामिल होने हेतु आन्दोलित हो उठा। श्रमिकों का संगठन बना और उसमें सभी वर्ग के लोग शामिल हुए। सन् 60 के बाद तो वह और आक्रामक हो उठा क्योंकि उसके अन्दर तब तक राजनीतिक चेतना भी जग गयी। दलित इससे अछूता नहीं रहा। दलित वर्ग से अनेक ऐसेनेता आये जिन्होंने देश की राजनीति में अग्रणी भूमिका निभायी। दलितों के हित में संविधान में संशोधन करवाये। एक ऐसा सामाजिक वातावरण बना कि पूंजीपति जैसे दलितों से उपेक्षा का भाव रखते थें उसी के अनुरूप दलित वर्ग पूंजीपतियों से वैचारिक स्तर पर दूर होता गया। उसने अपनी शक्ति और सामर्थ्य के बल पर अपने कार्यों को स्थायित्व प्रदान किया। पूँजीवादी व्यवस्था अथवा राजतंत्र के खिलाफ वह आवाज उठाने की स्थिति में हो गया। जो दलित पूँजीपतियों के खिलाफ कभी आवाज नहीं उठता था वह शोषण के खिलाफ धरने और प्रदर्शन करने लगा। यह धरना और प्रदर्शन उनसे मोहभंग का एक रूप था। रामकुमार वर्मा ने एकलव्य ग्रन्थ मे लिखा है -

"सेवक बनाया हमें किस अधिकार से?

इसलिए कि शक्ति में उन्हें यश प्राप्त है

किन्तु शक्ति मानव की, देव दानवी नहीं,

मानव की शक्ति तो महान तब होती है

जब वह दानव को मानव बना सके।

और सब मानवों में साम्य की हो स्थापना।"[36]

दलित कवि 'शिवचरण पूंजीपतियों द्वारा की गयी दलितों की उपेक्षा एवं शोषण से अत्यधिक व्यथित हैं उन्होंने अपने दर्द को निम्न शब्दों में व्यक्त किया है -

"मानव हूँ मानव का अधिकार नहीं पाता हूँ,

अन्याय सहन करता सदियों से आता हूँ।।

जानवरों से बदतर जिन्दगी बिताता हूँ।

न समझा है मानव, रोज चिल्लाता हूँ।

सड़कों, कारखानों, खानों में पसीना भी बहाता हूँ।

झाडू भी लगाता हूँ, मल मूत्र तक उठाता हूँ।।

दास बनाया जाता हूँ और नित ही सताया जाता हूँ।

आग में बच्चों सहित मैं, जिन्दा जलाया जाता हूँ।

कत्ल होता हूँ, बलात भी सहे जाता हूँ।

शर्म से सिर नीचा कर फिर भी जिये जाता हूँ।"[37]

दलितों को दरिद्र बनाने में जितना हाथ सामाजिक व्यवस्था का है उससे कहीं अधिक पूंजीपतियों द्वारा आर्थिक शोषण का है। पूंजीपतियों से दलितों का मोहभंग अकस्मात नही हुआ। पूंजीपतियों ने दलितों का अनेक तरह से शोषण किया है। जैसे- कभी धन के रूप में तो कभी यौन उत्पीड़न के रूप में। पूंजीपतियों के अर्थजाल में जो दलित एक बार फंस जाता था तो उसकी तीन पीढ़ी शोषण के जाल से मुक्त नहीं हो पाती थी।

6. शिक्षा और संगठन पर जोर :

मानव समाज के विकास में शिक्षा और संगठन का सर्वाधिक महत्व है। शिक्षा से व्यक्ति के

व्यक्तित्व का समग्र विकास होता है, तो संगठन से उसे विकास हेतु शक्ति मिलती है। जिस समाज के लोग जितने अधिक शिक्षित एवं संगठित होते हैं उस समाज का वर्तमान एवं भविष्य उतना ही विकासोन्मुख होता है। दुर्भाग्य से भारतीय दलित समाज में ऐसा नहीं हुआ। भारतीय सामाजिक संरचना ने समाज का समग्र विकास होने में बाधा डाली। शिक्षा को जाति एवं वर्ग विशेष तक प्रतिबन्धित रखा गया। परिणाम यह हुआ कि शिक्षा एकांगी हो गयी। समाज का शैक्षिक परिवेश असंतुलित हो गया। जिनको शिक्षा से वंचित रखा गया वे संख्या में बहुत अधिक थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यह प्रयास किया गया कि शिक्षा सबके लिए आवश्यक है। सरकार की तरफ से अनेकानेक प्रयास किये गये। जो शिक्षा जाति और वर्ग विशेष के लोगों की दासी बनी हुई थी, उस प्रतिबन्ध को तोड़ा गया। सन् 60 के बाद शिक्षा हर व्यक्ति के जीवन का अंग बन गयी। दलितों का इससे बड़ा हित हुआ। रामकुमार वर्मा ने एकलव्य काव्य में इस ओर बड़े स्पष्ट शब्दों में संकेत किया है। शिक्षा गंगा की उस धारा के समान है जिसमें अवगाहन करने से अज्ञानता रूपी कलमश बह जाता है। वह छोटे-बड़े का भेद नहीं रखती -

"शिक्षा तो सरस्वती की धारा है, प्रशान्त है
है अनन्त जो वही सृष्टि के आरम्भ से।
कौन इसे रोक सका और किस मन को,
इसने पवित्र किया नहीं स्पर्श मात्र से,
जात-भेद नहीं, वर्ग-वंश-भेद भी नहीं,
शिक्षा प्राप्त करने के सभी अधिकारी हैं।
सूर्य की किरण भी क्या जाति भेद मानती?
अग्नि क्या विशेष जीव-धारियों की श्रेणी में
सीमित है? और वायु की तरंग उठती
केवल विशिष्ट व्यक्तियों को सांस देने में?

× × × × ×

शिक्षा की त्रिवेणी का पवित्र तीर्थराज तो
सृष्टि में समस्त मानवों की कर्मभूमि है

प्रतिबन्ध कैसा? किन्तु यहाँ इस पुर में -

शासित हूँ सर्वथा कठोर राजनीति की।"[38]

द्रोणाचार्य ने एकलव्य को शिक्षा देने से क्यों इंकार किया? शायद इसलिए न कि वह शूद्र है। शिक्षा क्या केवल राजपुत्रों के लिए ही है? आखिर शूद्र शिक्षा से क्यों वंचित रहे। क्या वह मानव समाज का अंग नहीं है? और यदि है तो उसे भी शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। शिक्षा साधना और समर्पण से मिलती है। जाति विशेष में जन्म लेने से उस पर अधिकार नहीं हो जाता। फिर भी एकलव्य दलित को शिक्षा से वंचित रखा गया। एक प्रश्न यहाँ महत्वपूर्ण है कि क्या शिक्षा को पुराने मापदण्डों से मुक्ति नहीं मिलेगी। डॉ0 अम्बेदकर ने अपने समय में इस व्यवस्था पर कुठाराघात किया था। वे इसके भुक्तभोगी थे। इसीलिए संविधान में शिक्षा को मौलिक अधिकारों के अन्तर्गत रखा गया। आज दलितों को प्राप्त होने वाली शिक्षा उसी का प्रतिफल है। डॉ0 अमर सिंह साठ के दशक के पूर्व की शिक्षा व्यवस्था पर कठोर आपत्ति की है। उनके अनुसार दलित कितना भी शिक्षित हो जाय पर सवर्णों की कुत्सित मानसिकता से दलितों के प्रति उपेक्षा भाव नहीं जा रहा है। उन्होंने आक्रोश व्यक्त करते हुए लिखा है -

"हमारे चूसे गये रक्त से
अपना वंश उपजाते हैं
हमारे मैले कुचैलेपन में
अछूतपन झलकता है,
हम शिक्षित सभ्य भी हो जाये
कर्म से कितने महान हो जाये
हमारा विकास उत्थान
उनकी आँखो मे खटकता है,
जन्म वरदान है प्रकृति का
जन्म अनुदान है सृष्टि का

× × × × ×

उन लोगों ने समझा है

अछूत अशिक्षित को गंदगी का पर्याय

गंदगी को अछूत की सराय

अछूतों के लिए शिक्षित सम्मानित जीवन

सामाजिक उल्लंघन हैं"[39]

श्री देवीलाल यादव हर इंसान को एक जैसा मानते हैं। सब प्रकृति की अनमोल कृति हैं। जब प्रकृति भेदभाव नहीं करती तो मनुष्य उसके नियमों का क्यों उलंघन करता है? विभेदवादी दृष्टि को मिटाये बिना मानव समाज का समग्र हित होने वाला नहीं है -

"पूजा-पाठ समानता, शिक्षा, विकास व

स्वतंत्र अभिव्यक्ति का

हमें भी अधिकार है

हाँ हमें तुमसे ज्यादा

अपनी माँ भारती से प्यार है।"[40]

संगठन से शक्ति मिलती है। शक्ति से स्वाभिमान सुरक्षित होता है। साठोत्तर हिन्दी कविता के कवियों ने दलितों को संगठित करने पर जोर दिया। दलितों उपेक्षितों के अन्दर यह भावना जगाने की आवश्यकता थी कि जब तक सामूहिक रूप से सभी संगठित नही होंगे तब तक जाति और वर्ण के जाल से मुक्त नहीं हो पायेंगे। समाज में बराबर का हक तो मिलेगा ही नहीं, जीवन जीने के लिये आवश्यक संसाधन भी नहीं मिलेंगे? समाज से पाने के लिए समाज के ठेकेदारों के समक्ष अपनी शक्ति दिखानी ही होगी। डॉ0 रामकुमार वर्मा ने एकलव्य काव्य में संगठन की कमजोरी का कैसे लोग फायदा उठाते हैं का सजीव चित्रण किया है कथा यद्यपि महाभारत से सम्बद्ध है फिर भी उससे बोध होता है आधुनिक सामाजिक विसंगति का -

"अन्य जातियाँ अभी संगठित है नहीं

वे संगठित होगी भी इसमें सन्देह है

फिर यह भी स्पष्ट है कि भिन्न व्यवसायों में

फँसी हैं अन्य जातियाँ।"[41]

तात्पर्य यह कि जब तक दलित जातियाँ संगठित नहीं है तब तक उनका शोषण करने में कोई

बाधा नहीं है। क्योंकि बिना संगठित हुए वे शोषकों की क्रिया की प्रतिक्रिया करने में समर्थ नहीं हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि साठोत्तर हिन्दी कविता मे दलित चेतना का जो स्वरूप एवं सन्दर्भ मिलता है उससे दलितों को विकास में काफी सहायता मिली है। इस काल के साहित्य ने उन्हें ज्ञान और शक्ति प्रदान कर उन्हें विकास के पथ पर आगे बढ़ने के लिए विवश तो किया ही है प्रोत्साहन भी प्रदान किया।

सन्दर्भ

1. डॉ0 त्रिभुवन सिंह (सं0) : साहित्यिक निबन्ध, साठोत्तर हिन्दी कविता, पृ0 387
2. आलोचना, जुलाई - सितम्बर, 1967
3. डॉ0 त्रिभुवन सिंह (सं) : साहित्यिक निबन्ध, साठोत्तर हिन्दी कविता, पृ0 389
4. वही, पृ0 389
5. वही, पृ0 390
6. रामकुमार वर्मा : एकलव्य, पृ0 8
7. वही, पृ0 56
8. वही, पृ0 111
9. वही, पृ0 40
10. वही, पृ0 42
11. डॉ0 त्रिभुवन सिंह (सं0) : साहित्यिक निबन्ध, साठोत्तर हिन्दी कविता, पृ0 391
12. वही, पृ0 391
13. वही, पृ0 392
14. वही, पृ0 392
15. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 177-178
16. वही, पृ0 240
17. वही, पृ0 240
18. वही, पृ0 241-242
19. वही, पृ0 170-171
20. वही, पृ0 187
21. वही, पृ0 188
22. वही, पृ0 188-89
23. वही, पृ0 194
24. वही, पृ0 244

25. वही, पृ0 264
26. लक्ष्मीकांत वर्मा : कल्पना, मार्च 1961, पृ0 19
27. डॉ0 जगदीश गुप्त : लहर, सितम्बर, 1960, पृ0 37
28. डॉ0 नित्यानन्द तिवारी : आलोचना, अक्टूबर-दिसम्बर 1967, पृ 61
29. रामकुमार वर्मा : एकलव्य, पृ0 82
30. त्रिभुवन सिंह (सं0) : साहित्यिक निबन्ध, साठोत्तर हिन्दी कविता, पृ0 390
31. वही, पृ0 393
32. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 249
33. वही, पृ0 257
34. वही, पृ0 259-260
35. रामकुमार वर्मा : एकलव्य, पृ0 101-102
36. वही, पृ0 112
37. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 126
38. रामकुमार वर्मा : एकलव्य, पृ0 125
39. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 270
40. वही, पृ0 272
41. रामकुमार वर्मा : एकलव्य, पृ0 56

षष्ठ अध्याय

समकालीन हिन्दी कविता में दलित चेतना

(क) समकालीन हिन्दी कविता का सामाजिक दर्शन :

हिन्दी साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि साहित्य में जब-जब नये आन्दोलनों ने जन्म लिया है अथवा साहित्य ने जब-जब करवटे ली हैं तब-तब उसकी सामाजिक प्रासांगिकता की विश्वसनीयता पर प्रश्न चिन्ह लगाया गया। परम्परावादी सोच के विचारक उसमें विकृतियों को खोजने लगते हैं तो सामाजिक परिवर्तन के हिमायती उसमें सार्थकता और रचना धर्मिता खोजते हैं। यह सत्य है कि यदि साहित्य के नये उभरते स्वरूप एवं सन्दर्भ में जीवन की सच्चाई एवं ईमानदारी है तो अपनी अदम्य जीवनी शक्ति के बल पर वह अपना पथ स्वतः ही प्रशस्त कर लेगा। वैसे भी जब कोई नयी काव्य प्रवृत्ति जन्म लेती है तो इस बात की आवश्यकता महसूस की जाती है कि उसमें निहित मानवीय एवं सामाजिक जीवन-मूल्य मानव समाज को नयी दिशा एवं शक्ति प्रदान करेंगे। जो साहित्य समाज की अन्तर्निहित शक्तियों से घुल मिल जाता है वह भविष्य द्रष्टा होता है और जो सामाजिक प्रवाह से विषयेत्तर होता है, वह प्रबुद्ध पाठकों एवं आलोचकों के द्वारा नकार दिया जाता है। आधुनिक कविता में कई बार कविता के सरोकार पर प्रश्न खड़े हुये हैं, गुट बने हैं, वैचारिक मंच भी बने पर अनवरत प्रवाह उसी काव्यधारा का हुआ जो मानव जीवन के लिए लोककल्याणी रही। भारतेन्दु युग से साठोत्तरी हिन्दी कविता तक कई उतार-चढ़ाव देखने को मिलते हैं। मूल्यों में तो अन्तर था ही कविता संरचना में भी दुराव था। पर एक बात जो सबमें देखने को मिलती है वह यह कि हर काल की कविता के मूल में मनुष्य रहा है।

साठोत्तरी कविता के बाद समकालीन कविता जिस भूमिका के साथ सामने आयी है औरआ रही है, उसमें अनेक स्तर है, जहाँ वह अपनी पूर्ववर्ती कविता से अलग खड़ी दिखायी देती है। इसके अपने कुछ अलग अन्दाज हैं और कुछ अलग विशेषताएं है जिनके चलते वह अपनी महत्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज कराती है। समाकलीन हिन्दी कविता ने अपनी शक्ति एवं सार्मथ्य तथा जीवन मूल्यों की गहरी पकड़ से साहित्य, समाज और मनुष्य को झकझोरा तो है ही नयी राह एवं मंजिल की ओर प्रेरित भी किया है। युग परिवर्तन के साथ कविता भी बदलती है और कविता का तेवर भी। जब कविता का रूप बदलता है तो प्रतिमान न बदले ऐसा हो ही नहीं सकता। जहां तक बदलाव और परिवर्तन की बात है तो यह दो तरह का होता है 1. सापेक्ष परिवर्तन 2. निरपेक्ष परिवर्तन। डॉ0 कौशलनाथ

उपाध्याय ने इस दोहरे सामाजिक साहित्यिक परिवर्तन के सम्बन्ध में लिखा है -"यह सच्चाई है कि युगानुरूप सापेक्ष परिवर्तन में रचना जीवन्त रूप में सामने आती है और मूलभूत प्रतिमानों में जो बदलाव की रेखाएं दृष्टिगोचर होती हैं वे युग की देन और युग की आवश्यकताएं भी होती हैं।"[1]

समकालीन हिन्दी कविता की जब भी चर्चा की जाती है तो विविधताओं से भरा एक बड़ा फलक हमारे सामने आता है और उसी के साथ अनेक सवाल भी मस्तिष्क में उभरने लगते हैं। यथा- क्या समकालीन कविता पूर्ववर्ती कविता से सामाजिक सरोकार की दृष्टि से कुछ अलग है? क्या समकालीन कविता के प्रतिमान और मूल्य सामाजिक सन्दर्भों में उपयोगी हैं? क्या नये प्रतिमानों के निर्धारण की आवश्यकता है और है तो क्या निर्धारित प्रतिमान और मूल्य सार्थकता पूर्ण होगे? आदि-आदि। समकालीन कविता के सृजन का दौर चल रहा है ऐसी स्थिति में किसी तरह की आर-पार की बात करना न्यायोचित नहीं है। अन्य काव्यधाराओं की तरह इसे तारीखों की सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता, क्योंकि समकालीन कविता का सृजनात्मक दौर अभी चल रहा है। प्रतिमानों और मूल्यों का तो मानक के रूप में निर्धारण करना और भी कठिन कार्य है या कह लीजिए कि अभी असंभव है। डॉ० कौशलनाथ उपाध्याय ने समकालीन कविता के मानकों के सम्बन्ध में मार्क्सवादी आलोचक डॉ० मैनेजर पाण्डेय से साक्षात्कार में पूछा तो उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा - "प्रतिमान निर्धारण का कार्य वाद का है। जब तक सृजन चल रहा है तब तक उसके प्रतिमान दावे के साथ निर्धारित नहीं, किये जा सकते। आज छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि के प्रतिमानों की बात हम कर सकते हैं, परन्तु समकालीन हिन्दी कविता के विषय में दावे के साथ कुछ कहना बहुत उचित नहीं है।"[2] समकालीन कवि अजीत चौधरी इसे "अकादमिक आलोचकों की चालबाजी" मानते हैं। डॉ० राजमणि शर्मा के अनुसार - "प्रतिमान निरुपण के प्रयास निरर्थक रहे हैं। इनकी स्थापनाओं को देखें तो पता लगेगा कि यह प्रतिमान वही हैं जो कालान्तर से चले आ रहे हैं। हाँ, कभी कुछ छूटे, कभी कुछ जुड़े। पर कविता जीवन है। जीवन के कुछ शाश्वत् प्रतिमान होते हैं वे हर काल में प्रभावी रहेंगे। ठीक यही स्थिति समकालीन कविता की है।'[3] डॉ० विमल समकालीन कविता का सौन्दर्यशास्त्र निर्धारित करने वालों का विरोध करते हैं। उन्ही के शब्दों में - "अभी तक यह आन्दोलन जीवन-संघर्ष में है, शास्त्रीयता तक नहीं पहुँचा है, इसीलिए अब तक समकालीन कविता का सौन्दर्यशास्त्र नहीं रचा गया।"[4]

समकालीन हिन्दी कविता का सृजन एक लम्बे काल खण्ड से हो रहा है। इसमें किसी संगठित

काव्यान्दोलन का रूप तो दृष्टिगोचर नहीं होता लेकिन एक विशेष प्रकार की गहरी और आत्मीय संवेदना, एक खुली सोंच, नये धरातलों को छूने की ललक, सामाजिक एवं साहित्यिक संवेदना का अन्तः सम्बन्ध तो देखने को मिलता ही है। सच तो यह है कि समकालीन कविता का रचना संसार बहुत व्यापक हैं गुणात्मक अर्थ में परखने पर हम आज की कविता में युग सन्दर्भों एवं युग परिवेश को विशेष रूप से पाते हैं। हम निःसंकोचपूर्वक कह सकते हैं कि समकालीन कविता एक ऐसी सार्थक कविता है जो अपने परिवेश को, परिस्थिति को, वर्तमान युगबोध को पूरी ताकत से उद्‌घाटित करती है।

समकालीन कविता किसी वैचारिक आन्दोलन की मोहताज नही है क्योंकि वह पूर्ण मुक्ति की कविता है। उसका जुड़ाव समाज के हर वर्ग एवं जाति के आदमी से है। नयी कविता के दौर में महत्वपूर्ण स्थान पाने वाला 'लघु मानव' आज की कविता से कोसो दूर चला गया है या कह लीजिए कि समकालीन कवियों ने आप आदमी को उसकी सम्पूर्ण स्थिति में स्थापित करने की कोशिश की है। समकालीन कवि आम आदमी को संघर्षों से जूझने की शक्ति प्रदान करने के पक्ष मे है। वह छल, कपट, ईर्ष्या, नकली संवेदना एवं गलत मर्यादाओं को तोड़ने की सलाह देता है -

"लेकिन इससे पहले कि मैं
तुम्हारी तरफ आऊँ
तुम्हें
मेरी प्यास की सही-सही चिन्ता होनी चाहिए
..... उससे भी पहले अपने मुलायम हाथ
मेरे जख्मदार सख्त आँखों से बदलो
पसीने से तरबतर और फटी हुई मेरी कमीज से बदलो
अपना खूब सूरत विदेशी कोट
.....मेरे अधरों से बदलो
अपनी रोशनी
अगर वाकई तुम चाहते हो हमारे बीच संवाद हो
तो मेरी आँखो से

अपनी आँखे बदलो

क्योंकि मेरी आखों मे सपने हैं

और तुम्हारी आँखो में हिंसा।"[5]

राजकुमार कुंभज का मानना है कि निरपेक्ष कुछ भी नहीं होता, जो कुछ भी घटित होता है वह सापेक्ष होता है। इसीलिए 'आम आदमी' का 'खास आदमी' के साथ जुड़ाव तभी संभव है जब दोनों के सपने एक हों, दोनों को एक दूसरे की चिन्ता हो, दोनों की सोंच में समानता के बिन्दु हों। यदि ऐसा नहीं है तो समाज के दोनों वर्ग दो छोर बने रहेंगे। मिलन और संवाद हृदय से होना चाहिए, क्योंकि-

"संवाद का सिलसिला यों ही शुरू नहीं होता

कि किसी दर्जी की तरह

सुई धागा लेकर बैठे जाओ

और मेरे रूमाल पर

तुम

अपना नाम लिख दो

मैं

मई-जून की दोपहर में

पसीने से तरबतर

कोलतार की नंगी सड़कों पर ठेला गाड़ी ठेलता रहूँ

और तुम

अमन चैन से

अखबार पढ़ते रहो।"[6]

रघुवीर सहाय का मानना है कि समय एवं समाज की अनेक स्तरीय विसंगतियों ने आम आदमी की पीड़ा को बढ़ाया है। स्त्री जिसे देवी, शक्ति, लक्ष्मी आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है के शोषित जीवन के यथार्थ को, उनकी विवशताओं एवं विपन्ताओं को कवि की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है -

"तेरी उंगलियाँ से झलका

डूबा हुआ उजाला

तेरी वे निराश बाहें

तेरे वे उदास कंधे

कि तू शांत है ह्रदय से।"[7]

रघुवीर सहाय के ह्रदय में समाज के हर आदमी के प्रति स्नेह है। उनके अनुसार आज के युग में कुछ पाने के लिए चीखना पड़ेगा। दूसरों की हाँ में हाँ मिलाने से कुछ मिलने वाला नही है-

"एक बार जान बूझकर चीखना होगा

जिन्दा रहने के लिए

दर्शक दीर्घा में से।"[8]

समकालीन परिस्थिति में अपने भीतर के कायरपन को तोड़ने की जरूरत है, अकेलेपन की स्थिति से उबरने की आवश्यकता है। सारे फसाद की जड़ मानव मस्तिष्क की कुटिलता पर अंकुश लगाना होगां क्योंकि यही खूबसूरत षडयंत्रो को जन्म देता है -

"निर्धन जनता का शोषण है

कहकर आप हंसे

लोकतंत्र का अंतिम क्षण है

कहकर आप हंसे

सबके सब हैं भ्रष्टाचारी

कहकर आप हंसे।"[9]

समकालीन कवि अपने युगीन परिवेश से सदैव जुड़ा रहने की कोशिश करता है। वह जिस जगत में रहता है, उसमें प्रेम, विश्वास, आनन्द, उत्कंठा, आस्था, अनास्था, जय-पराजय, सफलता-असफलता, विनाश-विकास, निर्माण-ध्वंस सब होते हैं। इसी लिए वह इन सबसे नजदीक से जुड़ा होता है। यही उसे संघर्ष करने की शक्ति प्रदान करते हैं। कभी-कभी वह सच्चे कवि धर्म के पालन में इनसे टकराकर हतोत्साहित भी होता है। कभी वह बाहरी और भीतरी पाटों के बीच में पिसता भी हैं। मरते हुए जीवन, जलते हुए बचपन एवं मधुवन, रूदन करती हुई धड़कन से कभी-कभी वह अनुतरित प्रश्न

भी करता है और कहता है आखिर यह सब गोरख धन्धा कब तक चलता रहेगा-

"कब तक और जलेगा मधुवन

पतझर मुझे बता ...

सांस-सांस मरघट की दासी

धड़कन रूकी हुई,

अपनी ही अपने के आगे

गरदन झुकी हुई

कल-कल करती नदी वह रही, नौका डूब रही

कौआ कोयल साथ बह रहे यह भी खूब रही

कब तक लहरों का अवमूल्यन

तटचर मुझे बता।.....

अंधकार हंसता प्रकाश पर, दीप उदास हुआ

मन से ही मर रहा आदमी, हृदय विलास हुआ

कब तक और मरेगा जीवन

ईश्वर मुझे बता।"[10]

समकालीन कवि जिस सच्चाई के साथ जीवन को जीता है उसी को ही काव्य में बयां करता है। वह अपने आस-पास हो रहे विध्वंस तांडव से चिन्तित भी होता है और व्यथित भी। इसीलिये तो वह कहता है -

"क्यों तुम नष्ट कर देना चाहते हो

धरती के विस्तार को

समुद्र की मछलियों को

आदमी की उपस्थिति को

ये पेड़, ये परिन्दे, ये पहाड़, ये झरने

कैसे तुम सब कुछ हंसते हुए

नष्ट कर देना चाहते हो?[11]

कुंवर नारायण को आदमी की आदमियत पर संदेह होने लगा है। क्योंकि वह चंद भौतिक सुखों के लिए बिकाऊ माल की तरह पेश आने लगा है। कवि को आदमी की नियति में खोट जब झलकती है तो कहता है -

"अगर तुम मालामाल हो

तो हर आदमी बिकाऊ माल है

आज जबकि हर चीज का दाम बढ़ने की ओर है

आदमी की कीमत में भारी छूट का शोर है।"[12]

आज समाज में चारों तरफ जो विषमत परिस्थितियाँ दिखायी पड़ती हैं उसका प्रमुख कारण मनुष्य की चुप्पी और उदासीनता हैं। धूर्त और पाखण्डी इसका फायदा उठाते हैं -

"हत्यारे जानते हैं कि

हम बहरे होने के साथ-साथ

अन्धे भी ठहरे

जभी हत्यारे हमारे

एकदम करीब

हत्याायों का गीत गाते हैं

× × × × ×

वे बहरे नहीं है

हमी ने उन्हें बहरा किया हुआ हैं।"[13]

ऐसा लगता है जैसे आज के आदमी ने संघर्ष का हौसला छोड़ दिया है। दूसरे के कंधे के सहारे वह अपना निशाना साधना चाहता है। हौसला खोना न तो मनुष्य के भविष्य के लिए शुभ है और न ही देश के लिए ही। हौसला सबके लिए मंगलकारी है -

"चिड़ियों का हौसला देखिए

वो चाहे जहाँ

आ जा सकती हैं

सवर्णों के कुओं पर पानी पीती हैं

हरिजनों के घरों में दाने चुगती है

हम ऐसा

कुछ भी तो नहीं कर सकते

ऐसा करने के लिए हममें

चिड़ियों सा हौसला चाहिए।"[14]

समकालीन कवियों और कविताओं में सिर्फ आक्रोश के लिए आक्रोश या निषेध के लिए निषेध नहीं है। बल्कि उस निषेध में यथार्थ से साक्षात्कार है, नयी रचनाधर्मिता है और नया कर गुजरने की बलवती इच्छा है। शहर हो या गांव सर्वत्र समकालीन कवियों की दृष्टि पहुँची हैं। शहरों में बड़ी मासूमियत से आतंकवाद, सम्प्रदायवाद और क्षेत्रीयतावाद का जहर घोला जा रहा है और लोग आँख और कान बन्द करके बैठे हैं - क्योंकि-

'शहर नहीं जानता

मासूम चेहरों की भाषा"[15]

दिनेश जिंदल ने 'शहर को ढोते हुए' कविता में शहर की वस्तु स्थिति का जो वर्णन किया है वह शहरी समाज की असलियत को खोलने में समर्थ है-

"लो

तुम्हारे लिये ले आया हूँ

बड़े-बड़े दाँत

धारदार नाखून

उलझे बाल

खौफनाक चेहरे

ओढ़ लो इन्हें

और हो जाओ शहर।

शहर नहीं जानता

मासूम चेहरों की भाषा

तुम्हारी पोटली में

बांध दिया है मैंने

गाय का चमड़ा

सुअर का माँस

और लिख दिया है

इन्हें इस्तेमाल करने का तरीका।"[16]

व्यक्ति-व्यक्ति के बीच दम तोड़ती ईमानदारी, नैतिकता, सभ्यता, भाईचारा, प्रेम, दया, ममता जैसी मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति भी समकालीन कविता में देखने को मिलती है। मानवीय भावों की अभिव्यक्ति का एक उदाहरण यहाँ दृष्टव्य है -

"तुम पसीने के सिक्के

और ईमानदारी का झोला लटकाकर

कहाँ चल दिये दोस्त

अब तो

उठ चुका है बाजार

चाट चुके है लोग

सभ्यता की चाट

बिखरे मिलेंगे जूठे दोने

भाईचारे की प्रतिमाओं पर

मूतते मिलेंगे कुत्ते।"[17]

समकालीन कविता में 'कविता की सामाजिक प्रासंगिकता पर भी बहुत कुछ कहा गया है-

"उसने कहा

कविता को फुटपाथ पर मत ले आओ

मैंने कहा

तुम महलों से नीचे आओ

उसने कहा

कविता को रोटी से मत जोड़ो

मैने कहा

आदमी को रोटी से मत अलग करो।"[18]

जब समाज में लूट, हत्या, बलात्कार दंगे हड़ताल आदि अक्सर होते रहेंगे तो यह कैसे संभव है कवि की दृष्टि उस पर न पड़े। आखिर यही तो सामाजिक विषमताओं और विडम्बनाओं को जन्म देती है -

"जहाँ-जहाँ तुम जाओगे

कविता तुम्हारा पीछा करेगी

हत्या के बाद चाकू पर छपे

उंगलियों के निशान की तरह।"[19]

जिन आंखो में जीवन जीने की ललक है, कुछ कर गुजरने की तमन्ना है उन आंखो को कवि कैसे अनदेखा कर सकता है। व्यक्ति का उद्देश्य जीवन जीना है तो कविता का उद्देश्य व्यक्ति के जीवन की समग्र व्याख्या करना है -

"एक अधूरी रचना

लौटती है पृथ्वी पर बार-बार

खोजती हुई उन्हीं अनमनी आंखो को

जो देखती है जीवन को जैसे एक मिटता सपना

ओर सपनों में रख जाती है एक अमिट जीवन।"[20]

'अरुण कमल' की कविताओं में दर्द की जो बेचैनी है, सामाजिक विषमता के कारण जो कसक है, वह कवि का कम, आम आदमी या कह लीजिए जो दलित और शोषित है उसकी अधिक है। हरिजन, कुबड़ी-बुढ़िया, भौजी जैसे जो स्त्री विम्ब कमल की कविताओं में उभरते हैं वे वर्ग विशेष की ओर प्रतिबिम्बित करते हैं। भारतीय समाज में सबसे अधिक शोषित है दलित, मजदूर, किसान और स्त्रियाँ। प्रेमचन्द्र की जिस दृष्टि को सामाजिक यथार्थ के नाम से जाना जाता है वह यही दृष्टि है। जिसमें कसम भी है, घुटन भी है पर कुछ कहने की सामर्थ्य नहीं है। एक भारतीय स्त्री का जो वास्तविक चित्रण निम्न पंक्तियों में है उससे कौन अबोध है -

"तुम कितना झुकोगी

देह को कितना मरोड़ोगी

घर के छोटे दरवाजे मे

तुम फिर गिर जाओगी

कितनी कमजोर हो गयी हो तुम

जामुन की डाल सी

भौजी, हाथ में डोल लिए

मत-जाना नल पर पानी भरने।"[21]

उदय प्रकाश आशा में ही जीवन तलासते हैं। उनका मानना है कि परिवर्तनशील समय में कभी न कभी सबके दिन बहुरेंगे-

"सबसे पहले दिन बहुरेंगे

घूरे के

फिर मेरे फिरेंगे

दिन, इसके बाद

सोने चले जायेंगे।"[22]

मध्य वर्गीय समाज की असलियत को समझना आसान काम नहीं है। क्योंकि उसका चेहरा बहुरंगी है। उसकी कथनी और करनी में बहुत अन्तर है। यहाँ वर्गभेद के साथ-साथ मनभेद भी है। अजगर की नींद कविता समाज के इस भेद को उजागर करने में समर्थ है-

"अजगर की तरह

सोते हैं दिन

सुसांट अधेरी जगहों में

किसी बांबी या खोह में छिपकर

झाग या भाप जैसी

सांस छोड़ते हैं

× × ×

कभी-कभी

दिन झरते रहते हैं

वर्फ की तरह हमारी पलकों पर।"[23]

'घोषणा पत्र' और 'लोग बाग' संग्रहों में संकलित इब्बार रब्बी की कविताएं व्यक्तिगत और सार्वजनिक का भेद मिटाकर समाज के सामने एक आइना प्रस्तुत करती हैं। व्यक्ति के पतन का कारण उसका कर्म होता हैं। समाज तो उसे केवल पतित होते देखता है। उस पर हँसता है और महापतन की ओर संकेत करता है। व्यक्तिगत स्वार्थ में मनुष्य समाज का कल्याण भूल जाता है। शब्दों के अर्थ को अपने हिसाब से परिभाषित करता है। व्यक्ति को कौन समझाएं कि संसार में तुम्हारा व्यतिगत कुछ नहीं है। जिसे तुम अपना समझते हो वह देर-सबेरे किसी न रूप में समाज का हो जाता है, तो फिर महत्वाकांक्षाओं के पीछे भागते हो क्यों पगले-

"यही है, यही है मेरा घर

यहीं बिलकुल यहीं रहता हूँ मैं

मैं खुद नहीं होता तो चिट्ठियाँ रहती हैं यहाँ

गुस्से में और प्यार में

लड़ायी में और मेल में

मेर ही जिक्र होता यहाँ।

रब्बी के आत्म व्यंग्य से बहुत से लोगों की पोल खुलती हैं -

बहुत सी कठिनाइयाँ वेनकाब होती है-

मैं बहुत कष्ट में था

इसलिए आसानी से भ्रष्ट हो गया

मैं महत्वाकांक्षी था

इसलिए एक झोंके में पस्त हो गया।"[24]

कवि जीवन को इतना क्षण भंगुर मानता है कि कब क्या हो जाय ठिकाना नही। आज के व्यक्ति का जीवन कितना अधूरा-अधूरा है, इस ओर कवि की निम्न पंक्तियाँ संकेत करती हैं। आज व्यक्ति को आत्मालोचन की क्या आवश्यकता नहीं है-

"दिल्ली की इन बसों में

बूढ़ा हो गया

मैं अधूरा ही था

कि जीवन पूरा हो गया।"[25]

आज के व्यक्ति की भाग दौड़ जिन्दगी का इससे अच्छा उदाहरण और क्या हो सकता हैं। व्यवस्था की क्रूर संवेदना का तो कहना ही क्या है? कब क्या हो जाय निश्चित नही है-

"मेरी मृत्यु सड़क दुर्घटना में होगी

या विस्तर पर

यह सड़क को मालुम है

न विस्तर को

दोनों इंतजार करें।"[26]

'इब्बार रबी' की 'उदासीन' कविता में जो व्यंग्य है वह समकालीन दिग्भ्रमित युवा वर्ग के भविष्य का सटीक उदाहरण है-

"कितनी उदासीन है लड़कियाँ

कवि, कविताएं लिख रहे हैं उन पर

उन्हें फर्क नहीं पड़ता।"[27]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि समकालीन कविता वर्तमान समाज एवं जीवन की सहज अभिव्यक्ति है। डॉ0 परमानन्द श्रीवास्तव ने समकालीन कविता के सामाजिक यथार्थ पर चर्चा करते हुए लिखा है - "कबीर ने जिस अर्थ में शास्त्र को चुनौती दी और नये मूल्यांकन की अनिवार्यतः सिद्ध की, निराला ने जिस अर्थ में शास्त्र को चुनौती दी और नये मूल्यांकन की अनिवार्यतः सिद्ध की, निराला ने जिस अर्थ में शास्त्र को चुनौती दी और नये मूल्यांकन की अनिवार्यता सिद्ध की, मुक्तिबोध ने जिस अर्थ में शास्त्र को चुनौती दी और नये काव्यशास्त्र की जरूरत प्रमाणित की यहाँ तक कि धूमिल ने जिस अर्थ में काव्यशास्त्र को चुनौती दी और नये काव्यशास्त्र की अनिवार्यता सिद्धि की-क्या आज के कवि उसी अर्थ में शास्त्र को चुनौती दे रहे हैं, जिससे नया मूल्यांकन अनिवार्य हो उठे। कहना न होगा, प्रश्न में ही एक प्रकार का उत्तर निहित है। पर क्योंकि आज की कविता बनने की प्रक्रिया में अतः इस पर विचार और पुनर्विचार जरूरी है।"[28] चूंकि समकालीन कविता सृजन के दौर से गुजर

रही है इसलिए जोर देकर मानदण्ड निर्धारित करना उचित नहीं है। इस काल की सामाजिक प्रासंगिकता साहित्य की परिधि में प्रासंगिक तो है ही, मार्गदर्शक भी है।

(ख) समकालीन हिन्दी कविता में दलित चेतना का स्वरूप :

समकालीन कविता में समाज के हर वर्ग, जाति एवं सम्प्रदाय का विस्तृत दस्तावेज देखने को मिलता है। कला के धरातल पर यद्यपि उसे अनेक सवालों से जूझना पड़ा है लेकिन इसमें कोई दो राय नहीं कि समकालीन कविता ने युग सन्दर्भों के अनुरूप अपने मानकों को परखा है और उसमें नयी शान चढ़ायी है। सांस्कृतिक प्रदूषण के युग में समकालीन कविता अछूती रहे यह कैसे सम्भव हो सकता है। फिर भी उसने सारे छल-छद्मों, जटिलताओं, विसंगतियों, विडम्बनाओं, द्वन्दों, तनाओं के बीच भी अपने अस्तित्व को बरकरार कर रखा है। मानव से नजदीकी से जुड़ने के कारण उसमें अनुभूति की सच्चाई एवं अपनेपन के संकल्प का जो भाव परिलक्षित है, वह किसी से छिपा नहीं है। समकालीन कविता ने व्यक्ति और समाज से सीधा साक्षात्कार करने के साथ-साथ मानव की बेहतरी का जो भाव अपने में समेटा है वह इसकी जीवनतता और स्थायित्व को महत्व प्रदान करता है। समकालीन कविता में अमीरों के लिए लिखा गया है तो दलितों के लिए भी। समकालीन कविता में दलितों के सम्बन्ध में खूब लिखा गया है, क्योंकि यह समय की मांग थी और आज भी है। गैर दलितों ने तो लिखा ही है दलितों ने भी अपने समाज के बारे में खूब लिखा है। समाज की चेतना के साथ-साथ दलित लेखन के क्षेत्र भी चेतना आयी है। इसका विस्तृत अध्ययन निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत कर सकते हैं-

1. शिक्षा और संगठन पर जोर :

समकालीन हिन्दी कविता में दलितों की शिक्षा और संगठन पर विशेष जोर देखने को मिलता है। सदियों से समाज के एक विशिष्ट वर्ग द्वारा दलितों की शिक्षा से जो उपेक्षा की गयी थी उसने समाज में बड़ा असंतुलन पैदा कर दिया था। यह असंतुलन इतना बेमेल था कि शब्दों से व्यक्त कर पाना असंभव है। इसे हम समाज के एक बहुत बड़े अधिसंख्यक वर्ग का शोषण भी कह सकते हैं कवि लालचन्द्र राही ने जोरदार शब्दों में लिखा है कि शिक्षा और संगठन वर्तमान समय की सबसे बड़ी आवश्यकता तो है ही सामाजिक विकास की अनिवार्यता भी है-

"शिक्षित और संगठित रहना है आवश्यता आज की

स्वाभिमान से जीकर रखनी होगी शान समाज की।

बलि, अशोक के वंशज हो तुम मत्स्य देश के वासी हो

जूझे कितने झंझावातों से, पर तुम तो अविनाशी हो,

वर्ण व्यवस्था को ठुकरा दो, छुआ-छूत का मुँह तोड़ो

शोषक को ललकारों साथी, दलितों से नाता जोड़ो।''[29]

ओम प्रकाश जरेलिया शिक्षा और संगठन के बल पर दलितों में स्वाभिमान जगाने की बात करते हैं। वे कहते हैं-'

''तोड़ गुलामी की जंजीर, मिलकर कदम बढायेंगे

छोड़ पुराने भेदभाव सब, भाई चारा लायेंगे।

दलित, मुस्लिम, सिख, ईसाई

आज गले मिल रहे हैं भाई

प्रतिपल बढ़ती बहुजन शक्ति

दुश्मन की अब शामत आयी।''[30]

कवि चण्डी प्रसाद 'व्यथित' दलितों की शिक्षा पर विशेष जोर देने की बात करते हैं। शिक्षा के अभाव दलित अन्धा और बहरा दोनों है। अशिक्षा जीवन की राह में बाधाएं ही उत्पन्न करती है-

''शिक्षित होकर लो अंगडायी

जीने का अवरोध मिटाओ

बलिदानी हो जियो धरा पर

खुद अपना इतिहास बनाओ।''[31]

डॉ0 सोहनपाल समुनाक्षर ने शिक्षा के साथ-साथ संगठन पर भी विशेष बल दिया है। दलितों को संगठन का गुण मधुमक्खियों से सीखना चाहिए-

मधु मक्खियाँ, संचित करती है मधु

छत्तों में फूलों की कलियों से

तीक्ष्ण कांटो की परवाह न कर

लोक हितार्थ की भावना से,

कोई निष्ठुर हाथ, बलात्कार कर

मधुमक्खियों से उड़ा ले जाता है

मधु भरे छत्ते को

और फिर मधु के लूट लिये जाने पर

बिलबिलाती रह जाती है

वे सामाजिक अन्याय पर

ठीक उसी तरह

जैसे सदियों से लूटते आ रहे हैं

ये खेतिहर मजदूर, दलित शोषित

अपने खून पसीने से

बढ़ाते रहे हैं देश की संपदा को

× × × × ×

जिस दिन उन्हें ज्ञात हो जायेगी

अपनी संगठन शक्ति

उस दिन न मधु लूटेगा

और न रहेगा कोई श्रमवीर

दलित शोषित।"[32]

डॉ0 जगदीश गुप्त ने 'शम्बूक' काव्य में दलितों की निरक्षरता के सम्बन्ध में लिखा है-

"ये निरक्षर वन्य पिछड़े लोग

सहते रहें कब तक यातनाएं

अधमरे ये कहाँ तक

संतोष को खाये चबायें।"[33]

2. स्वाभिमानी जीवन जीने की ललक :

हर इंसान में स्वाभिमानी जीवन जीने की ललक होती है। पर क्या सब अपनी सोच और समझ के आधार पर अपनी जिन्दगी जी पाते हैं? क्या सामाजिक विषमताएं एवं परिस्थितियाँ उसे पशुवत

जीवन जीने के लिए विवस नहीं करती। आखिर इस अनसुलझे सवाल का जबाब देह कौन है? क्या स्वयं भुक्तभोगी है अथवा समाज का एक विशेष शोषक वर्ग इसका जिम्मेदार है? समाज में शोषकों की अपेक्षा शोषितों और उपेक्षितों की संख्या अधिक है। विकासशील भारतीय समाज में इनका विकसित एवं शिक्षित होना आवश्यक है। हिन्दी का समकालीन कवि विशेषकर दलित कवि इस ओर अधिक मुखरित हुआ है। श्री उदय प्रकाश ने 'अब जाग जाओ' कविता के माध्यम से दलितों के अन्दर नवीन चेतना जगाने की कोशिश की है-

"ओ तृषित, शोषित, दलित, अब जाग जाओ।
भूल जाओ प्रणय गीतों अब प्रलय के गान गाओ।।
तुम उठो हुंकार भरके सिंह जैसा
हिल उठे गिरि काननों की कन्दरायें।
तूफान बनकर त्रास तेरा
थरथराती आंधियों पर विजय पाये
सृष्टि का क्षय-क्षार कर दो
बन प्रलय के भानु जैसा
निज नेत्र से आग बरसो
अविरल चलो, विश्राम कैसा
आसुओं को रोक ले मत भेद खोलें
रीढ़ तोड़ो तुम पुरातन रूढ़ि की।
प्रलय कर फिर नयी दुनिया तुम बसाओ।
ओ तृषित शोषित दलित अब जाग जाओ।
भूल जाओ प्रणय गीतों, शिक्षित होकर संगठित बनो
फिर न्याय हेतु संघर्ष करो
ओ दलित दुखी शोषित निरीह
हम अनके मन में हर्ष भरें
निर्भय होकर आचरण करें।

जन-जन को सजग प्रबुद्ध करें।"[34]

कवि श्री रवि प्रकाश 'रवि' स्वाभिमान की रक्षा के लिए मरने-मिटने की बात तक कर डालते हैं। उनके स्वाभिमान को जो ठेस पहुँचाता है, उससे संघर्ष करने के लिए वे सदैव तैयार रहते हैं। स्वाभिमान की रक्षा भीख माँगने से नहीं होती। उसके लिए उसका मानव धर्म एवं कर्म जबाव देह है। व्यक्ति के कर्म ही उसकी रक्षा करते हैं और उसका विनाश भी। जरूरत इस बात की है कि वह अपनी रचनाधर्मिता का प्रयोग किस स्तर तक करता है-

"ओ त्रषित शोषित, दलित

अब जाग जाओ

छीन लो अधिकार अपना

मत कहो ये भीख दे दें

खुद बढ़ो चट्टान तोड़ो

राह अपनी खुद बना लो

मत झुको, इनको झुका दो,

रक्त की नदियाँ बहा दो

रूप असली, बहुरूपियों के

पहचान जाओ-

ओ त्रषित, शोषित दलित

अब जाग जाओ।।[35]

लालचन्द्र 'राही' ने 'दलितों' से सिंहल 'नामक कविता' में दलितों को जागृत होने की बात की है। उनका मानना है कि शोषण और अत्याचार के खिलाफ लड़ायी लड़ने में ही दलितों का स्वाभिमान सुरक्षित है-

"उठो रे दलितों तुम दुश्मन वन शोषण अत्याचारों के,

कभी न सहना जुल्म गुलामी बदले में अधिकारों के,

पहले भी छल-बल ने तुमको, सिंहासन से दूर रखा,

बद से बदतर कर दी सूरत अपनों में अपना न दिखा,

हरिजन, गिरिजन हैं भाई सब, यही बात है राज की।

खून का बदला खून प्यार का बदला प्यार यही लेना-देना

जो तुम पर कुर्बान हो तो, तुम अपनी जान लुटा देना

राजनीति है यही किन्तु समझो तुम चाल कुचालों को

वर्ण वन रहे वर्ग मिटाना है अब पूंजी वालों को

हो शोषण से मुक्त व्यवस्था अब सम्पूर्ण समाज की।"[36]

कवि आर0एल0 भारद्वाज ने दलितों को जागृत करने के लिए उनको शोषण का इतिहास पढ़ने की बात करते हैं। आखिर अतीत में दलितों के साथ क्या-क्या अत्याचार नही हुआ। क्या सचमुच में एक इंसान के साथ ऐसा पशुवत व्यवहार होना चाहिए और नहीं तो जिन्होंने जुल्म ढाये हैं या किसी न किसी रूप में इस उत्पीड़न के जिम्मेदार हैं, क्यों नही उनके साथ शक्ति बरती जाती। दलितों के बीच से उभरनी वाली प्रतिभाओं का एकलव्य की तरह या तो अँगूठा काटा गया या शम्बूक की तरह बध कर दिया गया। आखिर क्यों? क्या प्रतिभा किसी जाति एवं वर्ण की बपौती है?

"आँख उठाकर देखों तुम पर क्या नहीं अत्याचार हुआ?

माँ, बहनों की इज्जत लूटी है, सीने पे सवार हुआ,

एकलव्यों के कटे अँगूठे, बेसिर हुए बड़े शम्बूक

कब तक कटते जाओगे, अब थामों हाथों में बन्दूक?

भून जालिमों को दो जिसने, तेरा नगर उजाड़ा है।

काटे तुम्हें जहां भी मच्छर, उनको वहीं मसल देना

खीचे टांगे मगरमच्छ तो, उसको वही रगड़ देना।

भाग पचासी ले लो अपना, अब करना कुछ गौर नहीं

हक लेने में बने जो बाधक, उस जालिम की खैर नहीं

देश के कोने-कोने से बहुजन ने ललकारा है

उठो शोषितो जागो सारा, भारत देश तुम्हारा है।"[37]

3. नवसृजन की भावना :

नवसृजन विकास का सूचक है। यद्यपि समाज में रहने वालों की प्रवृत्ति एक जैसी नहीं होती

फिर भी सृजन और बिनाश की श्रेणी में जिसका अनुपात अधिक होता है उसी का समाज पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। जाति, सम्प्रदाय में बँटे भारतीय समाज की तसवीर बहुत स्पष्ट नहीं है। मनुष्य को छूत-अछूत में बांटकर यहाँ के धन लोलुपों ने समाज और मनुष्य के बीच में गहरी खांई पैदा कर दी है। गांधी, अम्बेदकर विवेकानन्द जैसे अनेक मनीषियों ने समाज की इस विसंगति को दूर करने की कोशिश की। कितनी सफलता मिली, यह चिन्तन का विषय है। समकालीन कवियों ने मानव मूल्यों की रक्षा के सम्बन्ध में बहुत-कुछ लिखा और अब भी लिखा जा रहा है। निष्कर्ष रूप में जो तथ्य देखने को मिलता है वह यह कि हर मनुष्य-मनुष्य है। उसकी सोंच में सृजनात्मकता का भाव होना देश और समाज के हित में है। अशिक्षा, अंधविश्वास और रूढिवादी परम्पराओं का सहारा लेकर दलित वर्ग को जो ठगा गया और विकास की मुख्य धारा से परे रखा गया वह किसी भी सभ्य समाज के लिये कलंक ही है। विमल कवि ने 'अछूतोद्धार' कविता में दलितों की घुटन और पीड़ा का जो वर्णन किया है वह निश्चित रूप में दिल दहला देने वाला है। कवि का मानना है कि सन 1947 में देश तो आजाद हो गया पर सामाजिक रूप से आजादी दलित को अब मिल रही है।

"हो जाओ सब सजग साथियो, नव युग की धुन आती,
छिपी क्रान्ति की आग, शक्ति के ओठों में है मुस्काती।
कब तक सहन करेगा, कोई सेवाकर अपमान भला
अन्यायों से अधिकारों का, कब तक दबता रहे गला।
कब तक दबी उससें भीतर, यों ही बन्द रहेंगी,
कब तक दलित निरीह जातियाँ, ये दुख द्वन्द्व सहेंगी।
छोड़ असत पथ, तुम्हे हिन्दुओं, सद्पथ पर ही आना होगा,
कर्मठ पूत अछूत देश के, उनको अपनाना ही होगा।

× × × × ×

कर अपनी संकीर्ण दृष्टियाँ, भूल गये हम मानवता को
भूले वास्तव में अपने को, भूले उनकी पावनता को
किन्तु रहेंगे भूले कब, तक समय हमें कर रहा सजग है
एक ब्रह्म की ही माया है, बोलो किससे कौन अलग है।"[38]

'कंवल भारती' दलितों को सजग करने के साथ कुछ करने के लिए भी कहते हैं। जब तक दलित स्वयं अपने समाज के बारे में नहीं सोंचेगा तब तक कोई दूसरा कैसे सहारा दे सकता है। तात्पर्य यह कि दलितों के अंधः पतन का जितना उत्तरदायी समाज है उतना ही वह स्वयं भी है-

'सुनो भाइयो,
कब तक तुम सबलों के दास रहोगे।
अत्याचारों के बन्धन में, कब तक दुख सहोगे।
और स्वयं को नीच भाईयों, कब तक कहलाओगे।
इन दुखदायी बातों का, अब स्वयं करो उपचार।
अपनी आँखे खोलो दलितों, समय रहा ललकार।
बहुत सो चुके दलित भाइयों, अब जगकर उठ जाओ।
स्वाभिमान की रक्षा के हित अपने कदम बढ़ाओ।
यदि पथ में तूफाँ आ जाये उससे भी टकराओ।
भविष्य आज मिलने आया है, देखो अपने द्वार।
अपनी आँखे खोलो दलितों, समय रहा ललकार।''[39]

मीनू सागर स्वतंत्र भारत के दलितों पर आँसू बहाने के बजाय, उन्हें जागृत करने एवं उनके द्वारा नव सृजन करने पर अधिक जोर देती हैं-

'ऐ, जुल्मी अत्याचारी
शोषक बहेलिए
दलितों का पक्षी मन भी
लगा है अब फड़फड़ाने
मन मेरा
जो कैद था कल तक
गुलामी के अंधियारे पिंजरे में
आज उसका नासूर
कहर बन तुझ पर

मन मेरा जो लगा है अब फड़फड़ाने

ऐ बहेलिए रूपी, दलितों के नर संहारी

बचकर भागकर, तू कहाँ जा पायेगा

हर जगह मेरी भूख प्यास

और चूसे हुए खून की कर्राहट पायेगा

मन मेरा लगा है फड़फड़ाने -

जिसे किसमत का लेखा

तूने कह दिया

वह अँधियारी आंधी बन

छा जायेगी तुझ पर

मन मेरा लगा है फड़फड़ाने

और आती है बार-बार

फड़फड़ाहट-फड़फड़ाहट-फड़फड़ाहट।"[40]

4. अस्पृश्यता का विरोध :

छुआछूत की भावना ने मानव समाज का बड़ा अहित किया है। इस कुदृष्टि ने समाज की समरसता में जहर घोलने का काम किया है। समकालीन कविता में अस्पृश्यता का विरोध खूब किया गया है। धार्मिक कट्टरता और रूढ़िवादी मानसिकता के तले जन्मी इस विनाशवादी भावना के नष्ट होने में दलितों की भलाई तो है ही मानव समाज का हित भी है। श्री गुरु कवि कंवरलाल खद्योत ने 'धर्म के अन्धों से' नामक कविता में दलितों के सम्बन्ध में उपजी अस्पृश्यता की मानसिकता का जमकर विरोध किया है, वे लिखते हैं-

"छुआछूत है कौन बला? भेदभाव है कौन कला?

राग द्वेष मे कौन पला? कहो कौन है गया छला?

छोड़ दो छलिये धन्धे, कपटी धन्धे।

इतने अंधे क्यों हो तुम? इतने अन्धे।"[41]

डॉ0 सोहनपाल सुमनाक्षर सामाजिक व्यवस्था की अस्पृश्यता से अति खिन्न हैं। जिन कार्यों

से दलित अछूत है उन्हीं कार्यों के करने से गैर दलित अछूत क्यों नहीं है? इसका तात्पर्य यह कि हर व्यक्ति के लिए मूल्यांकन का पैमाना अलग-अलग है। आखिर मूल्यांकन की यह दोहरी व्यवस्था क्यो? क्या इससे जातिभेद की बू नहीं आती?

"अस्पृश्यों से तुम
घृणा करते हो।
नाक मुँह सिकोड़ते हो,
छुआछूत वरतते हो
क्योंकि हम
चमड़े का काम करते हैं पर
आज तो
हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा
चमार तो बाटा है जिसने
चमड़े का सारा उद्योग ही लिया है
× × × × ×
हमसे ही छुआछूत क्यों है?
तुम कहते हो कि हम माँस खाते हैं
इसलिए अस्पृष्य
और नीच कहलाते हैं, पर
आज तो तुम्हारे भाई सभी होटलों में
माँस पकाते हैं
गाय, भैंस, सुअर, बकरी और मुर्गे का
जिसे तुम्हारे ही अधिकांश लोग बड़े चाब से खाते हैं।"[42]

कवि प्यारे लाल रांगोठा ने छुआछूत को समाज का धब्बा बताया है। जब तक इस दाग से दलित मुक्ति नहीं पायेगा तब तक वह सकून से नहीं जी पायेगा-

"छुआछूत का भूत भगाकर, डर का दाग मिटायें,

राव रंग का भेद भुलाकर, सब को गले लगायें।।

अर्थ विषमता की खांई को, पाटे सारा ग्राम।

राजघाट की माटी को हम ऐसे कर प्रणाम।"[43]

5. सामाजिक विषम व्यवस्था के प्रति आक्रोश :

हर समाज की अपनी सामाजिक व्यवस्था होती है जिसके आधार पर उसका व्यवस्थापन किया जाता है। सामाजिक व्यवस्था हर समाज का लघु संविधान होता है। विश्व में अनेकानेक समाज एवं व्यवस्थाएं है। जहां तक भारतीय समाज की संरचना का प्रश्न है तो यह बड़ी जटिल एवं विषम है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था के मानदण्ड जाति एवं सम्प्रयाय के आधार पर परिभाषित किये जाते है जो समाज में केवल असंतुलन एवं विसंगति पैदा करते है। ऐसा लगता है जैसे समाज के व्यवस्थापकों ने मानक तय करने में कुछ गड़बड़ी की है और यदि ऐसा नहीं है तो समाज के संचालकों ने संचालन करने में कही न कहीं भेदभाव किया। आखिर समाज में दलितों की जो इतनी अधिक संख्या मिलती है उसका जिम्मेदार कौन है? क्या सामाजिक व्यवस्था के निर्माता एवं संचालक इसका सटीक उत्तर देने की स्थिति में हैं। मुझे तो नहीं लगता कि कोई स्पष्ट शब्दों में कहने की स्थिति में हो। यदि किसी की अन्तरात्मा उसे कहने को विवश करती भी है तो सत्ता लोलुपता उसे कहने से रोक देती है। समकालीन कवियों में विशेषकर जो दलित वर्ग से सम्बद्ध हैं, उन्होंने जरूर प्रभावशाली शब्दों में अपनी बात रखने की कोशिश की है। एक दलित कवि ने लिखा है -

"शूद्र, पशु सम कर दिया, क्रय विक्रय भी होय'

दास प्रथा इससे चली, धर्म दिया सब धोय।

आठ बटे इक्कीस में लिखते मनु महराज।

शूद्र न्याय नहिं कर सकें, लिखत न आई लाज।"[44]

प्रसिद्ध कवि धूमिल ने 'मोचीराम' कविता में जो कुछ लिखा है वह दलित जीवन का विम्ब भी है और प्रतिविम्ब भी।

"बाबू जी सच कहूँ

मेरी निगाह में

न कोई छोटा है न कोई बड़ा है

मेरे लिए हर आदमी एक जोड़ा जूता है"[45]

कवि गुरू खद्योत भानपुरा ने सामाजिक असमानता पर व्यंग्य करते हुए लिखा है -

"दिमागों में विचारों का बल

विचारों में भावों का संबल

भावों में सद्‌गुणों का निर्झर

नर की, नर से फिर क्यों दूरी?

क्या मजबूरी? वाह रे विद्वान।

कौन फंसा है जात-पांत में

कौन धंसा है वर्ण गर्व में

कौन जंचा है धर्म-कर्म में

घर महलों की, फिर क्यों दूरी?"[46]

जवाहरलाल कौल दलितों की पीड़ा और घुटन का मूल सामाजिक कुव्यवस्था में तलाशते है। उनका मानना है कि दलितों ने जब भी अपने स्वाभिमान के लिए संघर्ष किया उन्हें हार ही मिली। शम्बूक ने तप किया तो उसको मार दिया गया, एकलव्य ने अपनी साधना से धनुर्विद्या सीखी तो उसका अंगूठा काटने का नाटक गुरुदक्षिणा के रूप में किया गया -

"हर प्रयास निष्फल है अब तक

हर संघर्ष हार में बदला

फिर भी हमने समय-समय पर

अपने हक की बात उठायी।

पूजी गयी शक्ति हर युग में

दुबर्लता चीखी चिल्लाई

और गरीबी की छाती पर

विहंस अमीरी दीप जलायी।

× × × × ×

जितनी बार हुआ है मंथन

केवल विष ही हम पाये हैं

धर्म कथाओं के गायक सब

हमको नीच बना गाये है

× × × × ×

मिट्टी की दीवार सरीखे

शेष जिन्दगी दरक गयी है

तूफानों में जल बुझ करके

समय अग्नि फिर भड़क गयी है।"[47]

डॉ0 धनन्जय अवस्थी ने 'शबरी' काव्य में सामाजिक विषमता से उपजी वर्णभेद और रूढ़िवादिता के सम्बन्ध में पौराणिकता का सहारा लेते हुए लिखा है -

"आज यहाँ-

घट-घट में वर्ण भेद फैला है

समता का आँचल कुछ

इसीलिए मैला है।

जीर्ण अन्ध रूढ़ियाँ

अनीतियाँ, कुरुतियाँ

संकुचित हृदय विचार

मलिन बिन्दु जीवन के,

दे रहे चुनौतियाँ

धनुर्धारी राम को।

× × × × ×

न कोई जन्मना ऊँचा

न नीचा है

विभाजन कर्म की रेखा

उठाती है गिराती है विभाजित आचरण लेखा।"[48]

श्री देवीलाल यादव ने 'हमारे पास हालात की फटी कमीज है? नामक कविता में सामाजिक कुव्यवस्था की घिनौनी दशा का बड़ा ही दर्दनाक चित्रण किया है। कथनी और करनी के विभेद पर वे बहुत खिन्न होते हैं और कहते हैं-

तुम पर
तुम्हारे वर्ग पर
तुम्हारी अपनी जाति पर
संकट भरा वक्त आता है तो
तुम चिल्लाने लगते हो कि
आपास में हम भाई-भाई हैं
दलित भी हिन्दू है
हम सब एक है नेंक हैं
लेकिन जैसे ही
बुरा संकट भरा तुम्हारा वक्त निकल जाता है,
खतरा टल जाता है
तब तुम हमें दूर से ही
दुत्कार देते हो
या दर्द भरे त्योहार देते हो
और फिर कहने लगते हो
हमे अयोग्य, शूद्र हरिजन, दलित, मूर्ख
जानवर न जाने क्या-क्या खिताब देते हो

× × × × ×

तुमने हमें हमेशा दिया
दुःख संत्रास और मानवता के विरुद्ध व्यवहार
तुमने हमें वर्षों तक बन्धुआ, दास चाकर
अशिक्षित बनाकर रखा।"[49]

कवि श्रीराम खोवड़ा गड़े भारतीय सामाजिक कुव्यवस्था का कारण संवर्ण जनमानस की संवेदन शून्यता मानते हैं। उनके अनुसार संवेदनहीन समाज मुर्दों के देश जैसा होता है जहां न स्पन्दन होता है और न समरसता का भाव। 'मुर्दों के देश'नामक कविता में उन्होंने लिखा है -

"मैं भटकता हुआ पहुँचा-

मुर्दों के देश में

लाशों के बीच में।

एक लड़का दुबला-पतला,

नंग धड़ंग,

हाथ में एक टोकरी लिए

कूडे के ढेर से

आहिस्ता-आहिस्ता

अपने जीने के लिए

कुछ इकट्ठा कर रहा था,

उसका साथ दे रहे थे-

आवारा कुत्ते, भरभराते चील, कौए

किसी ने कहा-अनाथ दलित है

एक स्त्री विवश होकर पड़ी

अपनी आवाज को उठाने मे असमर्थ

खून से लथपथ उसका शरीर

न ही तन ढकने की सुध

और न ही मन की कहने की

विवश करबटें बदलती,

किसी ने कहा, बलात्कार हुआ, दलित है।"[50]

आखिर अकसर दलितों के ही साथ ऐसा छलावा क्यों होता है? क्या वे मानव सभ्यता की कड़ी नही है और हैं तो समाज के दरिन्दों का शिकार होने से उन्हें बचाया क्यों नहीं जाता। समकालीन

कवियों में 'कंवल भारती' का दलित चिन्तन बहुत ही व्यापक एवं सम-सामयिक है। 'तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती? कविता में भारती जी ने सामाजिक विषमता का जो आंकलन किया है और विरोधाभाषी कार्यशैली एवं सोच पर व्यंग्य किया है वह अपने आप में अनूठा है उन्होंने विषम सामाजिक सोच पर प्रश्न खड़ा करते हुए लिखा है -

'यदि वेदों में लिखा होता
ब्राहमण ब्रहम के पैर से हुए हैं पैदा।
उन्हें उपनयन का अधिकार नहीं।
तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती?
यदि धर्म सूत्रों में लिखा होता
तुम ब्राहमणों, ठाकुरों और वैश्यों के लिए
विद्या, वेद-पाठ और यज्ञ निषिद्ध हैं।
यदि तुम सुन लो वेद का एक भी शब्द,
तो कानों मे डाल दिया जाय पिघला शीशा।
यदि वेद विद्या पढ़ने की करो धृष्टता,
तो काट दी जाय तुम्हारी जिहवा
यदि यज्ञ करने का करो दुस्साहस
तो छीन ली जाय तुम्हारी धन सम्पत्ति
या कर्तल कर दिया जाय तुम्हे उसी स्थान पर।
तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती।''[51]

भारती की उपरोक्त कविता में जो प्रतिक्रिया वादी दृष्टि है वह सदियों की कसक और उत्पीड़न का परिणाम है। नयी कविता के जनक डॉ0 जगदीश गुप्त के काव्य 'शम्बूक' में सामाजिक व्यवस्था पर शम्बूक के द्वारा जो कटाक्ष किए गये हैं, निश्चित ही वह आज़ के युग पर सही उतरता है। शम्बूक जिए तरह से व्यवस्था दोष पर राम से प्रश्न करता है, वह न तो काल्पनिक है और न ही निरुद्देश्य-

''जो व्यवस्था
व्यक्ति के सत्कर्म को भी

मान ले अपराध

जो व्यवस्था फूल को खिलने न दे

निर्बाध

जो व्यवस्था

वर्ग सीमित स्वार्थ

हो ग्रस्त

वह विषम घातक व्यवस्था

शीघ्र ही हो

अस्त।"[52]

राम के द्वारा शम्बूक को तपस्या करने से रोकने पर शम्बूक राम से प्रश्न पूंछता है कि तप करने का अधिकार हमें क्यों नही है। हम भी तो इसी सृष्टि में जन्में और पले हैं, तो फिर मेरे साथ ऐसा विभेद क्यों? मेरा तप किस तरह से दुष्कर्म है?

"तप कि जिस पर

सृष्टि का आधार हो

तप कि जिससे

चल रहा संसार हो

तप कि जिससे

त्रिदेवों को बल मिले

तप कि जिसे

मनुज को संबल मिले

मैं तुम्हीं से पूँछता हूँ राम

वही तप दुष्कर्म कैसे हो गया?

वही कृत्य अधर्म कैसे हो गया?

वही तय अपराध कैसे हो गया?

राजदण्ड अबाध कैसे हो गया?

सर्वभूत हितेरतः ब्रत क्या हुआ?

क्या न फिर उसने तुम्हारा मन छुआ?

राम तुम क्षत्रिय कहाते ब्रहम हो

कह सको तो विश्व व्यापी सच कहो

वर्ग हित या वर्णहित के ध्यान से

जब तुम्हारा चित्त परिचालित न हो

× × × × ×

राम तुम राजा बने किस हेतु हो?

व्यष्टि और समष्टि मन के सेतु हो?

शूद्रघाती बने, करके क्रोध

क्या तुम्हारा यही समता बोध।''[53]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है, दलितों के दलन में सामाजिक कुव्यवस्था का बहुत बड़ा हाथ है पर अब अतीत जैसा समय नहीं रहा। सर्वत्र विकास की किरणें पहुँचना शुरू हो गयी हैं। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में नये-नये परिवर्तन इसके स्पष्ट प्रमाण हैं।

6. धार्मिक कर्मकाण्ड के प्रति अनास्था का भाव :

धर्म से मनुष्य को सद्गति प्राप्त होती है तो स्वार्थयुक्त धार्मिक कर्मकाण्ड मनुष्य और समाज को अधोगति की ओर ढकेलता है। मनीषियों एवं साधु सन्तों के द्वारा सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत धर्म को लेकर जो धारण बनायी गयी थी, कट्टर धार्मिक उन्मादियों ने उस अर्थ का अनर्थ कर डाला। सत्ता के लोलुप शासकों ने धार्मिक उन्माद का वातावरण बनाकर सामाजिक समरसत्ता को बिगाडने के साथ-साथ समाज में भेद-विभेद भी पैदा किया। 'मानव धर्म' को एक किनारे करके हर जाति और धर्म के लोगों ने अपना वर्चस्व दिखाने के लिए कर्मकाण्डी धर्म अपनाया। नतीजा यह निकला कि जाति और धर्म को लेकर 'वैमनस्यता' पैदा होने लगी। सामर्थ्यवान लोगों ने धार्मिक काण्ड के नाम पर दलितों एवं उपेक्षितों को जब भी मौका पाया-छला एवं शोषण किया। धर्म को कर्मकाण्ड से जोड़कर मन्दिर मस्जिद गुरुद्वारा और गिरिजाघर को चहारदिवारी में कैद किया गया। दलितों को इन पूजा स्थानों को बनाने तक तो महत्व दिया गया पर जब उसमें प्रवेश कर पूजा और अर्चना का समय आया तो

उन्हें रोक दिया गया और उन्हें यह समझाया गया कि ईश्वर या भगवान ऐसा नहीं चाहता। समकालीन कवियों ने इस धार्मिक काण्ड की मान्यता को नकार कर अनास्था का भाव पैदा किया। प्रसिद्ध कवयित्री कु0 अनीता सोमकुंवर ने दलितों की धार्मिक पीड़ा को 'बना दो बिरादरी' नामक कविता में यथार्थ रूप में इस प्रकार चित्रित किया है-

"मन्दिर मस्जिद या चर्च
या हो गुरुद्वारा
बनाने से क्या फर्क पड़ता है
सभी जगह
ईश्वर एक है एक ही
होता है
ईश्वर की जान में
परजात नहीं होती है दोस्तों,
परन्तु बदनसीव आदमी समझता ही
नही है।
अपने को हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई
का पर दादा बताता है
किन्तु ये तो सिर्फ आदमी है
क्यों कि
आदमी की विरादरी में
सभी तो आदमी ही हैं
चाहे वो,
चमार, धोबी या भंगी हो
सभी तो आदमी के ही
बन्धु है

× × × × ×

फिर आदमी

आज आदमी के नाम से क्यों रोता है

हिन्दू मुस्लिम का विष क्यों

बोता है।"[54]

डॉ0 सोहनलाल सुमनाक्षर ने धार्मिक कर्मकाण्ड के प्रति अनास्था का भाव प्रकट करते हुए 'ओ मेरे भिक्षुओ' नाम कविता में लिखा है-

"मेरे साधु-महात्माओं

ढोगों को छोड़, पहले तुम

अपनी आत्मा को शुद्ध और निर्भीक बनाओ

दलितों को उन्नति

मार्ग बतलाओ

यो तो मन्दिरों, घाटों, शमशानों में

पंडितों की बाढ़ आयी है, जो अपने

ऐशो आराम और लूट खसोट में

दिन रात लगे हैं

पर तुम्हारे और उनमें अंतर है

तुम्हें अपने समाज का अभी

निर्माण करना है और वे

सदियों पूर्व अपने समाज का

निर्माण कर चुके हैं

सिर मुड़ाकर या जटा रखकर

गेरुवे वस्त्र पहन, अलख जगाकर

दलितों को तुम

ऊँचा नहीं उठा सकते

गाँजा चरस चढ़ा, मदिरा का

इन मंदिर बौद्ध बिहारों को छोड़कर

दलितों के घर जाओ

उनके दिलों में घुसकर

उन्हें वीर संघर्षशील बनाओ

सदियों से प्रताड़ित, सुसुप्त

उनके मन से भय, कायरता और

दीनता को दूर भगाओ

उन्हें नयी रोशनी दो

उनमें आत्म विश्वास भरो

उनमें ज्ञान की ज्योति जलाओ

फिर उन्हें मुक्ति का मार्ग बताओ

केवल मंदिर में

घण्टे घड़ियाल, शंख बजाने से

कुछ नहीं होने वाला है।"[55]

कवि श्री विमल 'धर्म' की रूढ़िवादी मान्यता से अपनी अप्रसन्नता प्रकट करते हैं। उनका मानना है कि रूढ़िवादिता और पाखण्डता में चोली-दामन का सम्बन्ध है। ये दोनों सदियों से दलितों का अहित ही करते रहे हैं-

'दूर भगा दे रूढ़िवाद को, युग-युग के पाखण्ड भगा दें

आग धन्ध विश्वासों पर रख, ज्ञान सुज्योति अखण्ड जगा दें,

बापू के हरिजन नेहरू के मन का मान बढ़ा दे

मान बढ़ाने को अपना भी, हम अभिमान उड़ा दें

तब ही सह अस्तित्व ज्ञान के, हम होंगे अधिकारी

तब ही विश्व बीच भारत की गूंजे जय-जय कारी

तब ही ब्रत पूरा होगा, हम सब आर्यजनों का

राम राज्य जब सत्य बनेगा, बापू के सपनों का।"[56]

कवि प्यारेलाल राँगोठा धार्मिक रूढ़ियों के बजाय स्नेह को विशेष महत्व देते हैं-

"धर्म की भाषा अभी तक हम समझ पाये नहीं,

कर्म की गीता अभी तक हृदय में लाये नहीं

बंध गये हैं पैर ऐसी रूढ़ियों के बन्ध में,

स्नेह की गंगा धरा पर आज तक लाये नहीं।"[57]

ओम प्रकाश बाल्मीकि ने कर्मकाण्डी धर्म को एक ढकोसला माना है। यह कर्मकाण्डियों के ठगने का हथियार है-

"धर्म एक ठकोसला है

ईश्वर झूँठ

जो तथा कथित धर्म गुरुओं के कंधो पर

बैठकर

आदमी को नकारता है

ईंट पत्थर जोड़कर बनाया गया

मकबरा जहाँ ईश्वर नहीं

धर्म गुरुओं का अहंकार

सुबह-शाम

छल-प्रपंच का नाटक खेलता है

बाहर खड़ा आदमी

निनिर्मेष देखता है आकाश को

सोंचता है

यह कैसा धर्म है

जो करता है

आदमी को आदमी से अलग

शंकराचार्य

तुम ठीक कहते हो

मंदिर में आने का अधिकार

आदमी को नहीं होता।"[58]

डॉ० सोहनपाल समनाक्षर ने 'ये मंदिर' कविता में धार्मिक कर्मकाण्ड पर करारा व्यंग्य किया है। वे लिखते हैं-

"ये मन्दिर, ये धर्मशालाएं

इनमें धन लगा है काला

हमारे किस काम की है?

रे पुजारी ओ चौकीदार

हमको क्यों करता है बाहर

इनकी एक-एक ईंट हमारे

खून से सनी है

मन्दिर मे बैठे ये राम

बाँसुरी बजाते, वो घनश्याम

जानते हैं कि किसान मजदूरों की कमाई ही

इनकी दीवारों में चिनी है।"[59]

"धोखेबाज' कविता में धर्म के माध्यम से दलितों को किस पर ठगा गया है, का आक्रोश भरा जीता जागता रूप देखने को मिलता है-

"धर्म के ठेकेदारों से

पूछते हैं कि तुम्हारा धर्म

तब भ्रष्ट नहीं होता

जब जवान अछूत कन्या 'रूपो'

के साथ बलात्कार किया तुमने

तुम्हारा धर्म उस समय कहाँ था

जब रूपों की माँ ने

दाई बनकर

जन्मा था तुम्हें

और नहलाया था सबसे पहले

अपने हाँथों से, तुम्हारा

धर्म अभी तक भ्रष्ट क्यों नहीं हुआ

× × × × ×

तुम धोखेबाज हो, और तुम्हारा धर्म

झूँठ और धोखेबाजी का पुलिन्दा है।

अब भी समय है तुम चलो, इंसान बनो

हर इंसान को उसके सम्मान का अधिकार दो।

अपने धर्म को बदलो और उसे नया रूप दो

मानवता का प्रेम का समानता का।"[60]

7. मनुवादी राजनीतिक व्यवस्था पर व्यंग्य :

राजनीति का उद्देश्य जब जनसेवा था तब बात और थी, पर जब राजनीति देश सेवा की बजाय स्वयं सेवा पर उतर आयी तो इस शब्द से सीधे आम सादे आदमी को घृणा होने लगी। सामाजिक व्यवस्था जब राजनीति पर हाबी हो गयी तब राजनीति के पैमाने तो बदले ही सामाजिक सोच में भी बहुत बड़ा परिवर्तन आया। जातिवादी राजनीति ने पूरे सामाजिक वातावरण को मथ कर रख दिया नतीजा यह निकला कि हर जाति एवं सम्प्रदाय के लोग अपनी अपनी राजनीति करने लगे। जातीय संगठन बनाकर जब मनुवादी राजनीति किये तो माना गया कि समाज विकासोन्मुख है और जब यही शैली दलितों और शोषितों ने अपनायी तो ढिढोरा पीटा जाने लगा कि सामाजिक एकता को खतरा पैदा हो गया हैं। दलित कवि श्री ओम प्रकाश बाल्मीकि ने मनुवादी राजनीतिक व्यवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है-

"कहते हैं कभी यहाँ घी-दूध की नदियाँ व्रहा करती थीं

लोग आज बूँद-बूँद पानी को तरसते हैं,

कुछ शुतुरमुर्ग सरीखे लोग रेत में गर्दन धँसा कर

नेता बने फिरते हैं और कहते हैं

कभी यहाँ सतयुग और कलयुग के बीच

त्रेता और द्वापर आये थे।

राम और कृष्ण पृथ्वी से अधर्म मिटाने आये थे,

जिन्होंने शम्बूक और कर्ण को नोचा था,

तब किसी ने यह नहीं सोचा था,

कि राम ओर कृष्ण भी उसी व्यवस्था के प्रतीक हैं,

जो अन्याय और शोषण में छल और कपट से सदैव विजयी हुई हैं।"[61]

कवि आनन्द स्वरूप ने आजादी पर व्यंग्य करते हुए लिखा है-

"नेता जी भ्रष्टाचार करें,

पुलिस थानों में बलात्कार करे,

लुटती इज्जत वेवशनारी,

सुबह शाम और रात भी हारी

जलते हैं तन, घुटते हैं मन,

अब तो मानवता भी हारी

क्या यही है आजादी?

कुत्ते, बिल्ली, सुअर तक

मन्दिर में जायें,

दलित केवल बाहर से,

मन्दिर का कलश देख

मन को शांति दिलायें?

और ये सवर्ण दलितों को,

जबरदस्ती विष्टा खिलायें।

× × × × ×

कैसे होगा दलितों का उद्धार।"[62]

कालीचरण 'स्नेही' ने वर्तमान राजनीति की कलुषता पर दुख प्रकट करते हुए लिखा है-

हमें आरक्षण प्राप्त है

नरक में, नौकरी में, नगरपालिका में,

शिष्य वृत्ति में, भिक्षावृत्ति में, चुनाव में

एकबत्ती कनेक्शन में,पंचायत के एलेक्शन में

फोर्थ क्लास के सिलेक्शन में

× × × × ×

जूठन खाइये पालकी उठाइये

शंख नहीं रामतला बजाइये

ठाकुर के खेतों में हल चलाइये

अपने शरीर को उनकी सेवा में गलाइये।"[63]

डॉ0 जगदीश गुप्त ने राजनीतिक व्यवस्था की सार्थकता पर अपना मत व्यक्त करते हुए 'शम्बूक' काव्य में लिखा है-

एक का हित

दूसरे का जब अहित बन जाय

दूर कर देना उसे

है श्रेष्ठ राज न्याय

प्रजा का परितोष

राजा का प्रमुख दायित्व।"[64]

8. दलित आरक्षण का समर्थन :

हमारी सामाजिक व्यवस्था में यदि सभी को समान अधिकार मिला होता तो शायद समाज में जो इतना आर्थिक असंतुलन दिखायी पड़ रहा है न होता। लोगों के जीवन स्तर में काफी समानता होती। पर ऐसा नही हुआ। शासक और शोषित में बंटा समाज एक दूसरे से इतना अधिक दूर हो गया कि सम्बन्धों के निर्वाह में केवल औपचारिकता ही देखने को मिलने लगी। सम्पन्न और सम्पन्न होते गये तो दलित और दलित होता गया। राजनीतिज्ञों को सत्ता चलाने के लिए आरक्षण का हथियार मिल गया। दलितों के लिए जो आरक्षण की बात की जाती है उसके पीछे दलित हित कम राजनीतिक

हित अधिक देखने को मिलता हैं। जिस तेजी से आरक्षण के सहारे दलितों का विकास होना चाहिए था नहीं हो पाया। कारण स्पष्ट है कि सत्ताधारियों ने धन के आवंटन के द्वारा विकास का मूल्यांकन करना अधिक उचित समझा। दलितों को कितना पैसा मिला और उनका कितना विकास हुआ इससे उनका कोई मतलब नहीं। दलित सवर्णों पर आरोप लगाते हैं कि सवर्ण मानसिकता के लोग विकास में बाधक हैं और सवर्ण आरोप लगाते हैं कि दलित अपना हित चाहते ही नहीं। जो भी हो कहीं न कहीं तो वैचारिक विरोधाभास है ही। दलितों का कहना है कि आरक्षण हमारा संवैधानिक अधिकार है तो सवर्णों का मानना है कि इससे प्रतिभा का हनन हो रहा है। डॉ0 सोहनपाल सुमनाक्षर ने आरक्षण को दलितों के हित में मानते हुए लिखा है-

"आरक्षण के विरुद्ध बोलने वालो
पहले अपने गिरेवान मे निहारो
तुम्ही जन्मदाता हो इस आरक्षण के

× × × × ×

विद्या-विहीन ब्राहमण का बेटा
ब्राहमण ही होगा
डरपोंक कायर क्षत्री का बेटा
क्षत्री ही होगा।
निरक्षर वैश्य का बेटा
वैश्य ही होगा
विद्वान, गुणी, प्रवीण, शूद्र का बेटा
शूद्र ही होगा
बोलो सवर्णों के लिए
किसने बनाया था यह आरक्षण।
क्या शूद्र का बेटा
सर्वगुण सम्पन्न होकर किसी और पेट से जन्मा है?
बोलो, अगर नहीं तो फिर

उस आरक्षण का विरोध क्यों नहीं है?

और दलितों के उत्थान के लिए मिलीं

इस वैशाखी का ही विरोध क्यों है?[65]

9. जातीय व्यवस्था के प्रति प्रतिक्रियावादी दृष्टि :

समकालीन दलित विचारधारा के कवियों ने जातिवादी व्यवस्था के द्वारा दलितों के शोषण के प्रति आक्रोश व्यक्त किया हैं। भारतीय सामाजिक संरचना में जाति व्यवस्था का अपना विशिष्ट महत्व है। जाति व्यवस्था की उत्पत्ति यद्यपि वर्ण व्यवस्था से हुई पर जब कर्म के आधार पर व्यक्ति का मूल्यांकन न करके जाति के आधार पर महत्व दिया जाने लगा तो सामाजिक असंतोष पैदा होना स्वाभाविक था। तनाव तब और पैदा हुआ जब जाति के आधार पर अछूत की भावना विकसित होना प्रारम्भ हुई। जातिवादी धर्म ने रही-सही कसर और पूरी कर दी। समकालीन कविता में जातीय शोषण के प्रति खूब लिखा गया है। कारण स्पष्ट है कि दलितों के पास भी अब कहने की सामर्थ्य जग गयी है। पहले वे केवल सहते थे पर अब वे संविधान प्रदत्त अधिकारों के बल पर विरोध और प्रतिकार भी करने लगे हैं। सदियों से दबे दलितों के अन्दर से इस तरह का विस्फोट होना न तो आसामयिक है और न ही आप्रासांगिक । दलित कवि कालीचरण गौतम ने जाति नामक कविता में अपनी प्रतिक्रिया कुछ इस प्रकार व्यक्त की है-

"छोड़ो ऐसे धर्म को जहां न मिले सम्मान।

बुद्ध भीम ललकार है, सुन लो चतुर सुजान।

सुन लो चतुर सुजान जाति है जिन धर्मों में

वह नीच है धर्म, नहीं मानव कर्मों में

कह गौतम कविराय सभी तुम जाति तोड़ो

टिका जाति पर धर्म, उसे तुम जल्दी छोड़ो

क्रान्ति लाओ देश में, वर्ग करो सब नष्ट

जातिवाद को खत्म कर नष्ट करो सब कष्ट

नष्ट करो सब कष्ट, राष्ट्र में बाबा लाओ

लेनिन लाओ शीघ्र, चैन से रोटी खाओ

कह गौतम कविराय, महा मानव से शांति

शोषण होगा दफन, मार्क्स ही लाये क्रांति।"[66]

कमलाधर शर्मा 'कमल' ने जाति के बजाय कर्म को अधिक महत्व देने की बात की है-

"जन्म समान, कर्म से प्राणी, ऊँच नीच है होता

वही काटता फसल कृषक है जो जब जैसा बोता

× × × × ×

वर्ण-भेद वैषम्य दनुज का, गर्व चूर्ण जब होगा,

सर्वोदय और रामराज्य का स्वप्न पूर्ण तब होगा।"[67]

श्री आर0डी0 सक्सेना ने 'संकल्प' नामक कविता में नफरत, हिंसा, जाति, पाँति की होली जलाने की बात की है-

"सात रंग मिलकर भी तो एक इन्द्र धनुष कहलाता है।

जाति-धर्म हो कोई सब की जननी भारत माता है।

नफरत हिंसा जाति पांति की होली हमें जलानी है।

यह संकल्प किया है हमने, मन में अब यह ठानी है।"[68]

डॉ0 जगदीश गुप्त ने 'शम्बूक' काव्य में लिखा है-

"सभी पृथ्वी-पुत्र हैं, तब जन्म से

क्यों भेद माना जाय

जन्मजात समानता के तथ्य पर

क्यों खेद माना जाय

जन्मना जायते शूद्र :

क्या नहीं सबके लिए यह सत्य

और संस्कारात् ही 'द्विज उच्यते'

की घोषणा का क्यों न हो सातव्य

जड़ समाज मनुष्य की रचना नहीं है

गति रहित जीवन कभी अपना नहीं है।"[69]

'शम्बूक' भगवान राम से इसलिए खिन्न है कि वे वर्णभेद की बात करते हैं और शम्बूक को वर्ण चिंता के अर्थ को न समझने की बात करते हैं। शम्बूक राम से कहता है-

"वर्ण से होगा नहीं अब त्राण
कर्म से ही मनुज का कल्याण
जन्म से निश्चित न होगा वर्ण
वर्ग तक सीमित न होगा स्वर्ण
कर्म से ही श्रेष्ठता अधिकार
कर्म सबके लिए सम आधार।"[70]

10. साहित्य सृजन की ललक :

समकालीन कवि और कविता में दलित समाज के प्रति सहानुभूति के साथ-साथ कुछ कहने की सामर्थ्य शक्ति भी है। साहित्य की संरचना अनुभूति और अभिव्यक्ति के सम्मिलन से ही संभव है। साहित्य के मूल में हित का भाव सन्निहित होता है। सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न जो है वह यह कि सदियों से काव्य की विषय वस्तु के रूप में उसे जाना और पहचाना क्यों नही गया। समाज के साथ-साथ साहित्य जगत से उसे उपेक्षित क्यों रखा गया। क्या इसके पीछे कोई सोची समझी चाल थी या जानबूझ कर रचा गया षडयंत्र था। समकालीन दौर में आकर यह मिथक पहले की अपेक्षा अधिक तेजी से टूटा। समकालीन कविता के दौरे में दलित कवियों का एक अच्छा-खासा समूह देखने को मिलता है। जिनमें अपने समाज के प्रति सहानुभूति भी है और संवेदना भी। ओमप्रकाश बाल्मीकि ने 'मूक वेदना' कविता में दलित भावना और दर्द को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि दलितों के लिए कविता लिखना कठिन कार्य है। क्योंकि सदियों से उनकी संवेदना को गूंगा बनाकर रखा गया। वाणी को आतंक और धर्म के बल पर दवायें रखा गया और उनके आत्म बल को कुचला गया। सहने की शक्ति के अलावा दलितों के हिस्से में कुछ भी नहीं था। निश्चित ही ऐसी शक्तियों से टकराकर समकालीन कवियों को उनके प्रति कुछ कह पाना आसान काम नहीं था-

"मैने जब कलम पकड़ी
मेरे आस-पास
शाप ग्रस्त, संज्ञाहत

छिन्न भिन्न

लोगों की भीड़ थी

जो चुपचाप सदियों से

पी रहे थे विषैली हवा

जिसमें बसी थी

सदियों की सड़ान्ध

मैं चुपचाप खड़ा

देख रहा था

मनुष्यता का नग्न रूप

उस वक्त

कलम की स्याही

दीख पड़ती थी मुझे लाल-लाल लहू सी

और

असंख्य प्रश्न

रंगहीन लबदे ओढ़कर

आ बैठे मेरी कलम की नोंक पर

जिन्हें उघाड़ते-उघाड़ते

मैं यहाँ तक आ पहुँचा हूँ।"[71]

'बाल्मीकि' का मानना है कि कविता से मेरा जुड़ना अकस्मात् नही हुआ। ढाये गये जुल्मों ने मुझे कविता लिखने की अनुभूति और शक्ति दोनों दी। मैं कल्पना लोक में नही अपितु यथार्थ जगत में विश्वास करता हूँ इसलिए पीड़ा, उत्पीड़न और दर्द भरे गीत गाता हूँ और क्रान्ति के बिगुल बजाता हूँ-

"लगता है

मेरे जिस्म का रक्त धीरे

उतरकर इन कविताओं में

बरस रहा है मूक भीड़ पर

हरियाली के इंतजार में

मित्रों

मै वह ऋण उतार देना चाहता हूँ

जो मैने लिया था

उन सबसे

जिन्होंने मुझे कवि बना दिया

जिनके प्रश्न

सदियों का अन्तराल लाँघकर

आ खड़े हुए है मेरे शब्दों में।"[72]

श्री श्याम सिंह "शशि" ऐसे कवियों पर व्यंग्य करते है जिनकी संवेदना में नकलीपन झलकता है। ऐसे कवि लिखते कुछ और हैं और पर्दे के भीतर करते कुछ और हैं आखिर ये क्या समाज का भला करते हैं, या भोलेभाले जनमासास को ढगते हैं। 'सर्वहारा कवि' नामक कविता में 'शशि' जी ने लिखा है -

"भूख और गरीबी पर

लिख सकते हो कविताएँ

शराब के नशे में

किसी बैनर या बाद के बैनर तले

सृजन कर सकते हो

किसी फैशन के तहत

और बहस कर सकते हो

घंटो सर्वहारा जीवन पर

समकालीन साहित्य की समीक्षा पर

पर दलित जीवन की प्राण रक्षा के लिए

अनुदान, सहायता, संरक्षण और आरक्षण से

चिढ़ने लगी है तुम्हारी कलम

बकने लगती है गालियाँ और व्यंग्य

तुम्हारी वाणी

वर्णो, वर्गो, धर्मों के पूर्वाग्रहों से ग्रसित

तुम्हारे बहुरूप में सृजक को

पहचानने लगी है अभाव ग्रसित पीढ़ी

तुम्हारे पास नही है वे शब्द

जो अनुभूतियों में पले हों

तुम्हारे पास नही है वे भाव

जो पीर पराई से उपजे हों

हाँ तुम देश-विदेश के पुरस्कर पा सकते हों

अपनी भूख मिटा सकते हों

भूखी पीढ़ी का नाम लेकर

उन्हें कुछ दे नहीं सकते

उनकी भूख और बढ़ा सकते हो

कुछ और लिख सकते हो

शराब के जाम पर जाम

गले से उतार

पहेली से

विंब दे सकते हो।"[73]

11. साम्प्रदायिक सद्भाव :

धर्म और सम्प्रदाय ऐसे शब्द हैं जो मनुष्य की जिन्दगी को सद्गति भी देते हैं, और अधोगति भी। बहुत कुछ निर्भर करता है इस शब्द की सामाजिक व्यवहारिकता पर कि समाज में विभिन्न जातियों, संस्कृतियों और सम्प्रदायों के लोग इसके साथ अपने को जोड़ते कैसे हैं। समाज में दो तरह के लोग सदैव से पाये जाते से हैं - 1. सकारात्मक सोच के व्यक्ति, 2. नकारात्मक सोच के व्यक्ति।

बल, बुद्धि अर्थ से समृद्ध लोग जब समाज को सही रूप देना चाहते हैं तो उसका प्रभाव मनुष्य पर अधिक पड़ता है। साम्प्रदायिक सद्भाव मनुष्य को विकसित तो करता ही है शक्तिशाली भी बनाता हैं समकालीन कवियों ने धार्मिक एवं साम्प्रदायिक उन्माद से जनमानस को बचने की सलाह देने के साथ-साथ दलितों को भी समाज की मुख्य धारा से जोड़ने का कार्य किया है। साम्प्रदायिक कट्टरता और उन्माद हिंसा को जन्म देता है। कंवरलाल खद्योत ने कट्टरपंथी हथकण्डों को छोड़ने की सलाह देते हुए लिखा है कि-

"बुरे कट्टरपंथी हथकण्डे।
बुरे पोंगा पंथी हथकण्डे।
बुरे वादी सब हथकण्डे
छोड़ दो रूढ़िवादी सब हथकण्डे

× × × × ×

मानवता के क्यों दुश्मन?
ईश्वरता के क्यों दुश्मन?
साम्य एकता देश के दुश्मन?
जियो जीने दो के दुश्मन?
छोड़ दो काले धन्धे, नाले गन्दे
इतने अन्धें, क्यों हो तुम इतने अन्धे।"[74]

श्री कल्याण कुमार 'शशि' ने निर्मल शुद्ध हृदय में बहने वाली प्रेम की धारा को सबसे अधिक पवित्र माना है। प्रेम की मंदाकिनी में डुबुकी लगाने से साम्प्रदायिकता का दाग मलिन पड़ जाता है। क्योंकि इससे दिलों का दिल से मिलन होता है-

"निर्मल शुद्ध हृदय में सबके बहे प्रेम की धार।
करे सभी को मनुज समझ, मानवता का व्यवहार।।
इसी मार्ग से हो सकती है सबकी नैया पार।
यदि चूके तो छिन जायेगी हाथों से पतवार।।
नये समय की गति को समझो, बनो न अब नादान

धर्म यही है जिसमें मानव-मानव एक समान।।"[75]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तुलसीदास के साहित्य के सन्दर्भ में लिखा है-

'लोकनायक वही हो सकता है जिसे लोक हृदय की पहचान हो।' डॉ0 जगदीश गुप्त ने लिखा है -

"लोकनायक वही जो
संवेदना का मर्म समझे
धर्म और अधर्म समझे
कर्म और अकर्म समझे
लोक नायक वही
जो विश्वास अर्जित कर सके
प्रत्येक का
और जो सारी प्रजा के
चित्त का प्रति रूप हो।"[76]

सभ्य समाज में सम्प्रदायिकता का कोई स्थान नहीं होता। यदि किसी के द्वारा उन्माद फैलाया जाता है तो वह सभ्य नही है

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि समकालीन कविता में दलित चेतना का जो स्वरूप उभरा है और आगे बढ़ रहा है वह दलित समाज के लिए पथ प्रदर्शन का काम करेगा। कही-कहीं अति प्रतिक्रियावादी दृष्टि जो समकालीन दलित कवियों में देखने को मिलती है वह बदलती समय की धारा के साथ अपनी दिशा और सोच बदलेगी। शोषण और उत्पीड़न के फलस्वरूप आक्रोश जागना स्वाभाविक है क्योंकि अत्यधिक मौन के बाद जो अभिव्यक्ति होती है उसका स्वरूप भयानक और डरावना होता है। दलित और गैर दलित कवियों द्वारा लिखे गये साहित्य के संगम तट पर दलितों का निश्चित ही भला होगा। समाज और सामाजिक का सुन्दर एवं स्वर्णिम भविष्य इसी में सुरक्षित है।

सन्दर्भ

1. डॉ0 कौशलनाथ उपाध्याय : कविता की राह, पृ0 75
2. वही, पृ0 76
3. वही, पृ0 76
4. वही, पृ0 76
5. राजकुमार कुंभज : संवाद से पहले, निषेध के बाद, सं0 दिविक रमेश, पृ0 73-74
6. वही, पृ0 73
7. रघुवीर सहाय : एक लड़की, आत्म हत्या के विरुद्ध, पृ0 33
8. रघुवीर सहाय : 'फिल्म के वाद चीख' आत्म हत्या के विरुद्ध, पृ0 81
9. वही, हंसो-हंसो जल्दी हंसो, पृ0 16
10. मधुकर शास्त्री : 'कब तक' आजकल पत्रिका अंक, 1991, पृ0 23
11. शहंशाह आलम : तुम नष्ट कर देना चाहते हो, पृ0 20-21
12. कुँवर नारायण : 'शिकायत' कोई दूसरा नहीं, पृ0 114
13. शहंशाह आलम : गरदादी की कोई खबर आये, पृ0 22-27
14. वही, पृ0 55
15. दिनेश जिंदल : 'शहर को ढोते हुए, 'क' माने कबूतर नहीं, पृ0 14
16. वही, पृ0 13-14
17. वही, 'बहुत देर कर दी' 'क' माने कबूतर नहीं, पृ0 26
18. वही, पृ0 66-67
19. वही, पृ0 67
20. कुँवर नारायण : किसी पुरा कथा के मद्धिम उजाले में, सहित प्रवेशांक, 2000, पृ0 92
21. डॉ0 परमानंद श्रीवास्तव : समकालीन कविता का यथार्थ, पृ0 216
22. वही, पृ0 218
23. वही, पृ0 229
24. वही, पृ0 244

25. वही, पृ0 244
26. वही, पृ0 244
27. वही, पृ0 246
28. वही, प्रस्तावना से, पृ0 3
29. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 263
30. वही, पृ0 264
31. वही, पृ0 267
32. वही, पृ0 267-268
33. जगदीश गुप्त : शम्बूक, पृ0 29
34. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 259-260
35. वही, पृ0 262-263
36. वही, पृ0 263
37. वही, पृ0 266
38. वही, पृ0 130-131
39. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 148
40. वही, पृ0 247-248
41. वही, पृ0 116
42. वही, पृ0 117-118
43. वही, पृ0 146
44. वही, पृ0 124
45. वही, पृ0 111
46. वही, पृ0 125
47. वही, पृ0 134-135
48. धनंजय अवस्थी : शबरी, पृ0 109
49. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 271
50. वही, पृ0 279-280

51. वही, पृ0 308

52. डॉ0 जगदीश गुप्त : शम्बूक, पृ0 45

53. वही, पृ0 51

54. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 सं0 115

55. वही, पृ0 116-117

56. वही, पृ0 131

57. वही, पृ0 146-147

58. वही, पृ0 253-254

59. वही, पृ0 288-289

60. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 290-291

61. वही, पृ0 255

62. वही, पृ0 281-282

63. वही, पृ0 284-286

64. डॉ0 जगदीश गुप्त : शम्बूक, पृ0 56

65. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 2967297

66. वही, पृ0 120-121

67. वही, पृ0 129

68. वही, पृ0 132

69. जगदीश गुप्त, शम्बूक, पृ0 49

70. वही, पृ0 62

71. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 256

72. वही, पृ0 257

73. वही, पृ0 306-307

74. वही, पृ0 116

75. वही, पृ0 150

76. जगदीश गुप्त : शम्बूक, पृ0 48

सप्तम् अध्याय

उपसंहार

समय परिवर्तनशील है। सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज तक मानव समाज के न जाने कितने रूप बदले हैं। सबका आकलन करना असंभव नहीं हो कठिन अवश्य हैं मानव समाज का इतिहास इस बात का गवाह है कि हर सामाजिक व्यवस्था के कुछ अपने कायदे और कानून थे जो समयानुसर सामाजिक बदलाव के साथ-साथ बदलते रहे हैं। प्राचीनकाल में सामाजिक संचालन हेतु मनीषियों ने कर्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था का तानाबाना बुना। सामाजिक असंतुलन की बात तो सब प्रारम्भ हुई जब वर्ण व्यवस्था को जाति व्यवस्था के रूप में बदलने का कार्य शुरू हुआ। कालान्तर में मनुष्य के कर्म में बदलाव आया और समाज की जातीय वर्ण व्यवस्था में दरार पड़ी। स्वार्थ एवं लालचवश मनुष्य ने धन और बल से समाज में विभेद की स्थिति पैदा की। परिणाम यह हुआ कि समाज मुख्य रूप से दो वर्गों में विभाजित हो गया- 1. शोषक वर्ग 2. उपेक्षित शोषित दलित वर्ग। शोषित वर्ग चूंकि शोषक वर्ग से धन, बल और बुद्धि में कमजोर था इसलिए कुटिल, बुद्धिमान बाहुबलियों द्वारा दलित जन पर शासन करने की नियति से प्रजा का नाम दे दिया गया और प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में उनका शोषण करते रहे।

किसी भी समाज में सामाजिक संतुलन एवं समरसता उस समाज में रहने वाले लोगों पर निर्भर करती है। समाज में सज्जन और दुर्जन हर प्रवृत्ति के लोग होते हैं जो अपनी संगत और असंगत गतिविधियों से प्रभावित करते हैं। साहित्यकार का जन्म इसी समाज में होता है जो अपनी विवेकशीलता एवं रचनाधर्मिता के माध्यम से समाज में सामन्जस्य बनाने की कोशिश करता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के हर काल के कवियों ने समाज के उपेक्षित एवं दलित वर्ग के उत्थान एवं कल्याण की बात की है। हाँ यह बात अवश्य है कि हर काल की बेचैनी, उग्रता एवं आक्रोश का स्वर अलग-अलग है। हर काल के कवि के कहने के अपने अन्दाज अलग-अलग होने के कारण उनके सामाजिक प्रभाव भी अलग-अलग रहे। युग बदला, सामाजिक सोंच बदली और सामाजिक जातीय व्यवस्था की नये युग के हिसाब से मूल्यांकन करने की आवश्यकता महसूस हुई। राजनीतिक चेतना ने सामाजिक चेतना को नये रूप में ढालने को विवश किया। जागरूक साहित्यकारों ने सामाजिक व्यवस्था में व्याप्त असंतुलन पैदा करने वाले तत्वों पर कुठाराघात किया। चूंकि कुठाराघात करने वाले साहित्यकारों का मूल स्वर लोककल्याणकारी था इसलिए उन्हें अधिकांश लोगों के द्वारा समर्थन मिला। साहित्य को

मनोरंजन और आनन्द की परिधि से निकालकर मानव की हर धड़कन अथवा जीवन चेतना से जोड़ने का प्रयास किया गया। श्रेष्ठ साहित्य जनमानस को जगाने का कार्य करता हैं। कथा साहित्य सम्राट मुंशी प्रेमचन्द्र के अनुसार हमें ऐसे साहित्य की जरूरत है, "जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करें, सुझाये नहीं।"[1] साहित्य और समाज को एक दूसरे से अलग करके नही देखा जा सकता। प्रत्येक कला की तरह साहित्य का भी सरोकार सार्वजनिक है।

बीसवीं शताब्दी में मानव समाज के स्वरूप में क्रांतिकारी परिवर्तन आया है। उपभोक्ता वादी संस्कृति ने मनुष्य के जीवन को कई क्षेत्रों में प्रभावित किया है। परिवेश, रहन-सहन, संचार संप्रेषण, अभिव्यक्ति में परिवर्तन आने के फलस्वरूप मनुष्य सोच में व्यापकता और गहरायी आयी। दलित चिन्तन इसी सामाजिक, सांस्कृतिक परिवर्तन का प्रतिफल है जो कड़े संघर्ष एवं टकराहट के बाद इस रूप में उभरकर आया है। दलित हिन्दी साहित्य इस सामाजिक बदलाव से प्रभावित न हो यह कैसे संभव हो सकता है। दलित जीवन शैली से दलित चेतना को ऊर्जा मिलती है। विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर का मानना है कि साहित्य विरोधात्मक तत्वों में अविरोध स्थापित कर सबको एक सूत्र में बांधने का प्रयास करता है। वह जड़ताओं, विषमताओं, विद्रूपताओं और अंधमृत कुसंस्कारों को त्यागने के लिए वातावरण तैयार करता हैं। सामाजिक मान्यताओं एवं मानवीय वृत्तियों में जो यदा-कदा बौनापन आ जाता है, दृष्टि-सृष्टि में जो दोहरापन आ जाता है उसकी परत को कुरेदकर साहित्य मानव के मस्तिष्क को निर्मल करता है।

'दलित' शब्द भारतीय समाज और साहित्य के लिए नया नहीं है। हर युग में इसका प्रयोग होता रहा है। संस्कृत के विद्वान दलित शब्द की व्युत्पत्ति 'दल' धातु से मानते हैं जहाँ इसका अर्थ इस प्रकार दिया गया है-

दल -टूटा हुआ, चीरा हुआ, फाड़ा हुआ, फटा हुआ, टुकड़े-टुकड़े हुआ, खुला हुआ, फैलाया हुआ।[2] प्राकृत शब्द कोश में दलित के लिए दल-विकसना, खंडित होना अर्थ व्यक्त किया गया है।[3] हिन्दी शब्द कोष में दलित के कई अर्थ दिये गये हैं। जैसे- मसला हुआ, मर्दित, कुचला हुआ, विनष्ट किया हुआ, खण्डित हुआ आदि।[4]

भोलानाथ तिवारी ने दलित शब्द का निम्नलिखित अर्थ लगाया है- दलित-कुचला हुआ, मर्दित, मसला हुआ, रौंदा हुआ अष्पृश्य, नीच, हरिजन।[5] शब्दकोशों के अतिरिक्त हिन्दी के कुछ दलित लेखकों

ने दलित शब्द की व्याख्या एवं समीक्षा व्यापक स्तर पर की है। डॉ0 सोहनपाल सुमनाक्षर ने दलित शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है - "दलित वह है जिसका दलन किया गया हो। उपेक्षित, अपमानित, प्रताड़ित, बाधित और पीड़ित व्यक्ति भी दलित की श्रेणी में आते हैं। इस तरह 'दलित' शब्द की परिभाषा के अन्तर्गत जहाँ सदियों से सामाजिक, वर्णव्यवस्था और जाति व्यवस्था से अभिशप्त दलित, शोषित, उत्पीड़ित व्यक्ति आते हैं, वहीं सदियों से उत्पीड़ित, उपेक्षित, अपमानित, शोषित सामाजिक बन्धनों में बाधित नारी और बच्चे भी इसी श्रेणी में आते हैं। भूमिहीन, अछूत, बंधुआदास, गुलाम, दीन और पराश्रित-निराश्रित भी दलित ही हैं। दलित शब्द आक्रोश चीख, वेदना, पीड़ा, चुभन, घुटन, और छटपटापट का प्रतीक है।"[6] डॉ0 शरण कुमार लिम्बाले ने दलित शब्द के अर्थ को बहुत व्यापक स्तर पर ग्रहण करने की बात की है - "दलित केवल - हरिजन और नवबौद्ध नही है। गाँव की सीमा के बाहर रहने वाली सभी अछूत जातियाँ, आदिवासी, भूमिहीन, खेत मजदूर,श्रमिक कष्ट कारी जनता और यायावर जातियाँ सभी की सभी 'दलित' शब्द से व्याख्यायित होती हैं। दलित शब्द की व्याख्या में केवल अछूत जाति का उल्लेख करने से नहीं चलेगा। इसमें आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए लोगों का भी समावेश करना होगा।"[7] ओम प्रकाश बाल्मीकि जी का 'दलित' के सम्बन्ध में दृष्टिकोण कुछ इस प्रकार है - "दलित शब्द भाषावाद, जातिवाद और क्षेत्रवाद को नकारता है और पूरे देश को एक सूत्र में पिरोने का कार्य करता है।"[8] सम्यक विचारोपरान्त यह कहा जा सकता है कि दलित वह है जिसका दलन किया गया हो। उपेक्षित, अपमानित, प्रताड़ित, पीड़ित सभी व्यक्ति दलित की श्रेणी में आते हैं। दलित अस्मिता बोधक शब्द है। जहाँ तक दलित चेतना के अर्थ की बात है तो दलित चेतना, संघर्ष से नाता रखने वाली क्रान्तिकारी मानसिकता है। मनुष्य को केन्द्र मानकर जाति व्यवस्था के प्रति विद्रोह करने वाली यह प्रतीति है। डॉ0 रमणिका गुप्ता ने सन् 1873 में ज्योतिवा फुले द्वारा लिखित पुस्तक "गुलामगिरी' को दलितों की मुक्ति का घोषणा पत्र माना है। ज्योतिवाफुले के दलित विचारों को नकारा नहीं जा सकता। फिर भी यह कहने में संकोच नही है कि नाथ साहित्य, सिद्ध साहित्य और निर्गुण काव्य में दलित चेतना सम्बन्धी विचार खूब भरे पड़े हैं।

दलित चेतना ने दलित साहित्य की संरचना में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। दलित जीवन की संवेदनापूर्ण अभिव्यक्ति दलित साहित्य में ही सम्भव है। दलित साहित्य का अपना एक विशिष्ट दर्शन है। जिसके केन्द्र बिन्दु में मानव कल्याण सर्वोपरि है। दलित साहित्य के सामाजिक दर्शन में

जिन तथ्यों की प्रधानता देखने को मिलती है। वे इस प्रकार है-

1. समता मूलक समाज की स्थापना।
2. सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा।
3. स्वतंत्र जीवन जीने की लालसा।
4. आर्थिक विषमता को दूर करने का भाव।
5. शोषकों के प्रति विद्रोह का भाव।
6. वेदना, घुटन और कुंठा का भाव।
7. शोषितों के प्रति दया का भाव।
8. प्राचीन जातीय व्यवस्था के प्रति विरोधात्मक स्वर।
9. बन्धुत्व की भावना।
10. धार्मिक कर्मकाण्ड का विरोध।
11. अधिकार प्राप्ति के प्रति क्रांति का स्वर।
12. अस्पृश्यता का विरोध।
13. मानव जीवन मूल्यों के प्रति रक्षा का भाव।
14. श्रम की महत्ता
15. ईमानदारी और विश्वास का भाव।

छायावादोत्तर पूर्व हिन्दी काव्य में दलित चेतना के क्रमिक विकस की एक बृहत् एवं सशक्त परम्परा प्राप्त होती है। आदिकल से लेकर छायावादी काव्य धारा तक आते-आते दलित चेतना के अनेकानेक उतार-चढ़ाव देखने को मिलते हैं। अपभ्रंश के महानद से हिन्दी काव्यधारा कब विलग हुई उसकी निश्चित तिथि बताकर पाना कठिन है पर निःसंकोच रूप से यह जा सकता है कि हिन्दी का दो रूपों में विकास हुआ-

1. परिनिष्ठित अपभ्रंश से निर्मित हिन्दी
2. लोकभाषा में रचित हिन्दी।

आदिकालीन सामाजिक रचना में दोनों प्रकार के साहित्य का महत्व है। पर जहाँ तक दलित चेतना का प्रश्न है तो लोकभाषा में रचित साहित्य उसके अधिक निकट है। आदिकाल में दलित चेतना

के कई स्तर प्राप्त होते हैं जो इस प्रकार हैं-

1. सिद्ध साहित्य में दलित चेतना।

2. नाथ साहित्य में दलित चेतना का स्वरूप।

3. गोरखवाणी में दलित चेतना के स्वर।

राहुल सांकृत्यायन का मानना है कि सिद्ध साहित्य परम्परा में जो सिद्ध हुए है- उनमें अधिकांश निम्न जाति के थे। सरहपा ने तत्कालीन वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था, सामाजिक भेदभाव एवं बाह्य आडम्बर का खुलकर विरोध किया था। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में दलित चेतना का विस्तृत स्वरूप देखने को मिलता है। उत्तर भारत में पैदा होने वाले सन्त कबीर, दादू और रैदास आदि कवियों ने जाति-पांति और अन्धविश्वास के विरुद्ध, प्रखर आन्दोलन किया। उन्होंने सामाजिक बुराईयों और छुआ-छूत का विरोध करते हुए कथित सवर्ण हिन्दुओं को कुमार्ग और विनाशकारी बुराइयों से सावधान किया। इसी प्रकार दक्षिण भारत में संत एकनाथ ने जाति पांति का विरोध किया। देश व्यापी सन्त आन्दोलन की प्रमुख विशेषता यह रही कि ऊँचनीच के भेदभाव का विरोध और मनुष्य की समानता की घोषणा को जनान्दोलन के रूप में चलाया गया। द्विजों और ब्राहमणों के कर्मकाण्ड पर गहरी चोट की गयी। ईश्वर के दरबार में बराबरी सिद्ध कर दलितों का मनोबल बढ़ाया। रामकाव्य धारा एवं कृष्ण काव्य धारा में सन्त काव्य धारा जैसी दलित चेतना देखने को नहीं मिलती। रीतिकाल में दलित चेतना का स्वर बहुत खोजने के बाद प्राप्त होता है पर वह प्रभावशाली नहीं है।

दलित चिंतन की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी साहित्य अत्यधिक समृद्ध है। भारत में अंग्रेजी राज्य के दृढ हो जाने पर संस्थाएं खुली और आर्थिक विकास हेतु नये-नये कल-कारखाने लगे। शिक्षा के प्रसार एवं औद्योगिक प्रगति के फलस्वरूप जनता में नये सिरे से विकास की सुगबुगाहट शुरू हुई। राजाराम मोहनराय ने बंगाल में ब्रहम समाज द्वारा विधवाओं की दशा सुधारने का सराहनीय प्रयास किया गया। हिन्दुओं की जाति व्यवस्था से दलित जनता पीड़ित थी। इनमें कुछ ने सत्तालोलुपता में इस्लाम धर्म कबूल कर लिया था। अंग्रेजी सत्ता के बाद ईसाई मिशनरियों ने दलित जनमानस में ईसाई धर्म के प्रसार हेतु अनेकानेक प्रयास किये। बहुत सी दलित जातियों ने ईसाई धर्म स्वीकार भी कर लिया। क्योंकि ईसाई धर्म में भेद-भाव नहीं था। कतिपय समाज सुधारकों ने यह महसूस किया कि यदि धर्म परिवर्तन को रोका न गया तो भारत का दलित समाज हिन्दू धर्म से अलग हो जायेगा।

ऐसे ही समय में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वैदिक धर्म की नये सिरे से व्याख्या कर उसे समाज की व्यावहारिकता से जोड़ने का प्रयास किया। वेदों में वर्ण व्यंवस्था के जो मानदण्ड थे उससे अलग हटकर उसको और सरल बनाने के कोशिश की। जन्म आधारित वर्णव्यवस्था को नकारकर उन्होंने कर्म आधारित वर्ण व्यवस्था को महत्व दिया। दलितों के मध्य यह मान्यता स्थापित करने की कोशिश की गयी कि जन्म से कोई ऊँचा-नीचा नहीं होता। व्यक्ति के कर्म ही महान और नीच बनाते हैं। उन्होंने पाखण्ड, मूर्ति पूजा, भूतप्रेत, बाल-विवाह अवतारवाद का भी विरोध किया। अपने इस बहुमूल्य विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए आर्य समाज की स्थापना की। स्वामी दयानन्द सरस्वती के बाद पं0 गंगाराम, लालामुंशीराम, लाला बदरीदास, स्वामी श्रद्धानन्द, गणेश शंकर विद्यार्थी एवं लाला लाजपत राय ने आर्य समाज के मूल्यों एवं विचारों को आगे बढ़ाने का कार्य किया। नाथूराम शंकर शर्मा ने पंचपुकार नामक कविता के माध्यम से जातिवादी सोच को नकार कर हिन्दू समाज में दलितों को जागृत करने का कार्य किया-

"जाति पांति के विकट जाल में, जूझे फंसे गंवार
मैं अब सबको सुलझा दूंगा, करके एकाकार।"[9]

रूपनारायण पाण्डेय ने व्यापक दृष्टिकोण का परिचय देते हुए यह मानने की बात कही कि दलित भी हमारे ही बीच के हैं। समाज का हर लाभ उन्हें भी मिलना चाहिए-

"अपना ही अंग हैं ये अत्यन्त असंख्य इन्हें
गले न लगाया तो अवश्य पछतावोगे।
ममता के मन्त्र से विषमता का विष जो
उतारा नहीं जाति को तो जीवित न पावोंगे
पक्षाघात पीड़ित समाज जो रहेगा पंगु
उन्नति की दौड़ मे कहाँ से जीत पावोगे
साधना स्वराज की सफल कभी होगी नही
अगर अछूतों को न आप अपनाओगे।"[10]

महात्मा गांधी ने राजनीति के साथ-साथ समाज सुधार पर भी बल दिया। उन्होंने अस्पृश्यता को समाज का कलंक बताया। दलितों का नया नाम 'हरिजन' रखकर समाज को यह समझाने की

कोशिश भी कि दलित भी ईश्वर की संतान हैं। गाँधी जी स्वराज्य के साथ-साथ छुआछूत का प्रश्न भी हल करना चाहते थे। डॉ0 भीमराव अम्बेदकर ने स्वराज्य के साथ-साथ दलितोद्धार को अपने आन्दोलन का प्रमुख भाग बनाया। हरिजन मंदिर प्रवेश, सामाजिक सहभोज और शिक्षा पर जोर देकर उन्होंने दलितों के उद्धार निमित्त चेतना के द्वार खोले। राजनीतिक सहभागिता पर भी उन्होंने विशेष जोर देकर यह बताने की कोशिश की कि सत्ता में हमारी हिस्सेदारी अवश्यमेव होनी चाहिए। जातीय व्यवस्था एवं धार्मिक कर्मकाण्ड का विरोध करते हुए उन्होंने कहा कि हिन्दू सर्वाधिक धर्मभीरू है। धर्म पर चोट करना उसकी आस्था पर चोट करना है इस लिए इस पर अधिक जोर न देकर हमें इसकी विद्रूपताओं पर जोर देना चाहिए। स्वामी दयानन्द सरस्वती महात्मागांधी और भीमराव अम्बेदकर के विचारों का भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग और छायावादी कवियों पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव देखने को मिलता है। तीनों काव्यधाराओं में राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ सामाजिक एवं सांस्कृतिक चिन्तन के अन्तर्गत दलित चिन्तन भी सन्निहीत था। राष्ट्रीय आन्दोलन के मूल में आजादी प्राप्त करना था तो सामाजिक एवं सांस्कृतिक चिन्तनधारा के मूल में सामाजिक विकास करना था।

काव्य में 'प्रगतिवाद' एक विशिष्ट राजनीतिक विचारधारा का द्योतक है। यह विचार धारा कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद पर आधारित है। मार्क्स और एंजिल्स के 'कम्युनिष्ट मेनिफेस्टो' के प्रकाशन के पश्चात समाजवाद को लेकर नयी नयी विचारधारायें सामने आयीं किन्तु उन सबमें मार्क्सवाद विचारधारा ही सर्वाधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई। मार्क्स का प्रगतिवाद वास्तव में सामाजिक व्यवस्था के आर्थिक दृष्टिकोण से सम्बन्धित है। मार्क्स ऐसे समाज के निर्माण के पक्षधर थे जिसमें समान विचार-धारा, समान आकांक्षा, समान प्रयत्न, समान सुख-भोग-साधन समान अधिकार के रूप विद्यमान हो। समाज में समता एवं संतुलन हर समाज के लिए आवश्यक है। जहां तक साहित्य में प्रगतिवाद के जन्म की बात है तो सन् 1907 में इटली में इसका जन्म हुआ जब मारनेति ने 'भविष्यवाद' नामक एक नवीन विचारधारा को जन्म दिया। उसने कहा कि सामाजिक व्यवस्था बदले और साहित्यिक मान्यताएं न बदले यह असंभव हैं। सामाजिक मूल्यों के साथ-साथ साहित्य के भी मूल्य बदलने लगते हैं। सन् 1918 की रूसी क्रांति का प्रभाव भारत पर भी पड़ा। सन 1930 एवं 1932 में दो महान देश व्यापी आन्दोलन हुए जिसमें देश के कृषकों एवं श्रमिकों ने बड़ी संख्या में भाग लिया। इन्हीं दिनों मुल्क राज आनन्द, सज्जाद जहीर भवानी भट्टाचार्य, जे0सी0घोष एम0सिन्हा जेसे लेखकों

ने नये विचारों के साथ साहित्य सृजन करने का कार्य प्रारम्भ किया। इन लेखकों ने सामूहिक प्रयास से सन् 1935 में 'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ नामक एक संस्था को जन्म दिया। इस संस्था के उद्देश्य को बतलाते हुए कहा गया था कि -"इसका उद्देश्य भारत के विभिन्न भाषा-भाषी लेखकों का संगठन करके ऐसे प्रगतिशील साहित्य की रचना करना है जो कलात्मक दृष्टि से निर्दोष हो और जिसके माध्यम से देश के सांस्कृतिक अवसाद को दूर कर हम भारतीय स्वतंत्रता एवं सामाजिक उत्थान की दिशा में प्रवृत्त हो सके।"[11] भारतीय पीढ़ी के लेखकों ने परिपत्र का स्वागत और समर्थन किया और दूसरे ही वर्ष सन् 1936 में प्रेमचन्द्र की अध्यक्षता में लखनऊ में प्रथम अधिवेशन हुआ। प्रेमचन्द्र ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि - "हमें उस साहित्य की आवश्यकता है जो हमारी बदलती हुई मान्यताओं, परम्पराओं और मूल्यों के अनुरूप हो। साहित्य का लक्ष्य केवल व्यक्तिगत विकास अथवा मनोरंजन नही है, जीवन तथा समाज की छवियो को अपने में मूर्तकर मानव समाज का कल्याण करना है। "हमें उस कला की आवश्यकता है जिसमें कर्म का संदेश हो।"[12] प्रगतिवादी दलित लेखन पर मार्क्स एवं अम्बेदकर दोनों का प्रभाव है। मार्क्स ने आर्थिक वैषम्यता को दूर करने पर जोर दिया तो अम्बेदकर ने सामाजिक व्यवस्था में व्याप्त वर्ण व्यवस्था, अस्पृश्यता, जाति व्यवस्था द्वारा उत्पन्न असंतुलन को दूर करने पर जोर दिया। दलितों के विकास में जितना बाधक सामाजिक पक्ष है उससे कहीं अधिक आर्थिक पक्ष है। मार्क्सवाद मे से अम्बेदकर घटाकर अथवा अम्बेदकरवाद में से मार्क्सवाद को कमकर दलित चेतना के सम्बन्ध में सोचा जाय तो दलितों के हित लिए कुछ नहीं बचता। हिन्दी के प्रगतिवादी काव्य में दलित चेतना का जो स्वरूप प्राप्त होता है उनमें से कुछ मुख्य इस प्रकार हैं-

1. वर्ण व्यवस्था की संकीर्णता के विरोधात्मक स्वर।
2. वर्ग विषमता का विरोध।
3. पूंजीवादी व्यवस्था अथवा संस्कृति का विरोध।
4. दलितों के प्रति सहानुभूति एवं दया का भाव।
5. सामाजिक विषमता के प्रति आक्रोश।
6. समता मूलक समाज की स्थापना हेतु नवीन जीवन मूल्यों की आश्यकता पर बल।
7. धर्मान्धता की आलोचना।
8. सत्ता की शोषण नीति की आलोचना।

9. रूढ़िवादी व्यवस्था एवं मान्यता का विरोध।

10. दासता से मुक्ति का भाव।

11. संगठन पर जोर।

12. कृषक वर्ग के प्रति सहानुभूति।

13. साम्प्रदायिकता का विरोध।

14. मानव की महत्ता

15. क्रांति का आवाहन।

प्रगतिवादी काव्यधारा अभी अपने चरमोत्कर्ष को भी नहीं प्राप्त कर पायी थी कि सन 1943 में अज्ञेय जी के सम्पादकत्व में 'तारसप्तक का प्रकाशन हुआ। इसमें सात कवियों-मुक्तिबोध, नेमिचन्द, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजा कुमार माथुर, रामविलास शर्मा और अज्ञेय की कविताएं संकलित हुई। इस तारसप्तक के प्रकाशन के साथ ही हिन्दी काव्य में एक नयी प्रवृत्ति का जन्म हुआ जिसे कालान्तर में 'प्रयोगवाद' नाम से सम्बोधित किया गया। वस्तुतः प्रयोगवादी काव्यधारा की नीव द्वितीय विश्व महायुद्ध तथा उसके बाद की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर खड़ी है। यद्यपि यह काव्यधारा अनेक पाश्चात्य विचारधाराओं (अस्तित्ववाद अति यथार्थवाद, मनोविश्लेषणवाद आदि) से काफी हद तक प्रभावित है फिर भी सामाजिक सांस्कृतिक एवं साहित्यिक स्थितियों-परिस्थितियों की कोख से ही इसका जन्म माना जाना चाहिए। प्रयोगवादी काव्यधारा की राह पर चलने वाले कवियों ने छायावादी कविता की काल्पनिकता तथा रहस्यात्मक अभिव्यंजना प्रणाली की आलोचना की तथा नवीन प्रयोगों पर विशेष जोर दिया। इस धारा के कवियों ने परिस्थिति जन्य विषमता, अवसाद, पराजय और निराशा की अभिव्यक्ति को तो अपने काव्य में जगह दी ही साथ ही साथ दीन-दलितों की दुखती रंगो पर भी अपनी लेखनी चलायी। प्रयोगवादी काव्यधारा के अन्तर्गत प्रयोग चाहे जो भी हुए हों पर सबके मूल में लोकहित एवं मानवहित सर्वोपरि रहा है। इस काव्यधारा के अन्तर्गत दलित चेतना का जो स्वरूप एवं सन्दर्भ देखने को मिलता है उसमें दर्द भी है और. सहानुभूति भी। इस काल में दलित चूंकि उपेक्षित एवं हतोत्साहित था इसलिए उसे शक्ति एवं सम्बल की त्वरित आवश्यकता थी जो कवियों द्वारा उसे प्राप्त हुई। मुक्ति बोध दलित वर्ग के प्रति कुछ अधिक सम्वेदनशील दिखायी पड़ते है-

"समस्या एक

मेरे सभ्य नगरों एवं ग्रामों में

सभी मानव

सुखी सुन्दर व शोषण मुक्त

कब होंगे।"[13]

नागार्जुन का मानना है कि दलितों के सम्मान को ठेस समाज के हर वर्ग ने पहुँचायी है चाहे वह जमींदार हो या साहूकार -

"जमींदार है साहूकार है वनिया है व्यापारी हैं

अन्दर-अन्दर विकट कसाई, बाहर खद्दरधारी हैं।"[14]

निष्कर्ष रूप में प्रयोगवादी काव्यधारा के कवियों ने दलितों के जिस पक्ष को विशेष रूप से समाज के सामने रखने का प्रयास किया है वे इस प्रकार है-

1. दलित वर्ग की सामाजिक प्रतिष्ठा का भाव।
2. समतामूलक समाज की स्थापना का स्वर।
3. दलितों में आत्मविश्वास जगाने का प्रयास।
4. जातिवादी व्यवस्था पर व्यंग्य।
5. छुआछूत का विरोध।
6. नव सृजन का संदेश।
7. नैराश्य, वेदना और कुंठा की अभिव्यक्ति।
8. दलितों के स्वर्णिम भविष्य के प्रति आकांक्षा का भाव।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास में साठोत्तरी हिन्दी कविता की अपनी अलग पहचान है। सन् 1936 के बाद हिन्दी काव्यधारा जो सप्तकों से होकर प्रवाहित हुई वह आगे चलकर दो धाराओं में विभाजित हो गयी। एक धारा तो वह रही जो छायावादी काव्य संस्कारों से अपने को पूर्णतः मुक्त न कर सकी और कालान्तर में छायावाद की ही एक कड़ी बनकर रह गयी और दूसरी धारा वह रही जो छायावादी काव्य संस्कारों के अवरोधों को तोड़ते हुए एक भिन्न दिशा में बढ़ती रही और आगे चलकर जो हिन्दी कविता को एक नवीन सौन्दर्यभिरूचि दे सकी। अज्ञेय ओर मुक्तिबोध इन दोनों धाराओं के अलग-अलग उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। सन 60 के बाद जो कवि साहित्य के क्षेत्र में आये

उनकी सोच में नया अंदाज था। इन कवियों ने छायावादी रोमाण्टिक संस्कारों एवं प्रयोगवादी नयी कविता की रुढ़ियों को एक साथ तोड़ा। सच तो यह है कि साठोत्तरी कविता नवीन सृजनबोध की कविता है। रोमाण्टिक भावुकता के स्थान पर यथार्थपरक बौद्धिकता, संयम सुरूचि, संतुलन और भद्रता के स्थान पर सच्चाई, साहस और खारापन, मसृण और कोमल के स्थान पर परूष और अनगढ़ की स्वीकृति, समझौता और यथास्थितिवाद के स्थान पर संघर्ष और विद्रोह का आग्रह, आक्रोश क्षोभ, उत्तेजना तनाव और छटपटाहट, दलितों शोषितों के प्रति प्रेम आदिऐसी महत्वपूर्ण विशेषताएं है जो साठोत्तरी हिन्दी कविता को और महत्वपूर्ण बनाती है। सन 1947 में आजादी तो मिल गयी पर सामाजिक ताने-बांना में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हो सका। आर्थिक रूप से सम्पन्न और बौद्धिक रूप से चतुर लोगों को सत्ता का वह सारा लाभ मिला जिससे विकास की संभावनाएं बनती है। पर दलित और उपेक्षित लोगों की स्थिति में कोई क्रांतिकारी बदलाव नहीं आया जिससे लगे कि योजनाओं का लाभ दलितों को मिल रहा है। रामकुमार वर्मा का 'एकलव्य' काव्य दलितों की स्थिति का आइना है। 'एकलव्य' महाभारत की कथा का पात्र मात्र प्रतीक के रूप में है उसके चरित्र में वर्तमान दलितों की व्यथा एवं आक्रोश झलकता है। अपनी मेहनत और साधना के बल पर वह सब कुछ पाने को आतुर है। द्रोणाचार्य एकलव्य को शिक्षा से वंचित कर उसे वैसा ही देखना चाहते हैं जेसे वह अतीत से चला आ रहा है। यह प्रश्न यहाँ विचारणीय है कि शिक्षा, शूद्रों के लिए क्यों नही? एकलव्य कहता है-

"मैने सुना विद्या दान शुद्र हेतु है नहीं।
सत्य क्या है यह सामाजिक मान्यता।"[15]

दूधनाथ सिंह दलित किसानों की जिन्दगी कैसे बीतती है, का वर्णन इन शब्दों में किया है-

"जो हाथों से काम करते हैं
वे गुलाम हैं अभी भी
लगान भरते हैं
रिश्वत देते हैं
और पई भर जमीन के लिए खून करते हैं
मुकदमें लड़ते है
जेल की रोटियाँ बेलते है

नागरिकता सीखते है

और उनकी पत्नियाँ अंधेरे के सीलन में

रोते हुए बच्चे को भरपेट पीटती हैं

फिर रो-रोकर प्यार जताती है,

कचरे में सनी हुई पूजा करती हैं

और जीवित रहती हैं।

नरेश मेहता ने 'शबरी' रचना के माध्यम से वर्ण, जाति, धर्म, छूत-अछूत असमानता, ऊँच-नीच पर व्यंग्य करते हुए लिखा है-

"क्या आत्मा की उन्नति केवल

है उच्च वर्ग तक ही सीमित

प्रभु तो हैं सबके पिता भला

उनका आराधन क्यों सीमित

× × × × ×

क्या धर्म तत्व से ऊँची

है वर्णाश्रम मर्यादा?

क्या व्यर्थ तपस्या पूजन

यह गंगा भी है, सूद्रा।"[17]

कवि किसन फागू कहते हैं कि सवर्णों की जूठन पर जीने वाले दलितों पर मुझे दया भी आती है और आक्रोश भी जगता है-

"जूठन पर पलने वाले मेरे भाई

धिक्कार है तुम्हे

जो सह रहे हो यह नारकीय जीवन

मैं थूकता हूँ

तुम्हारे मुंह पर।"[18]

साठोत्तरी हिन्दी कविता में दलितों से सम्बन्धित जो मूल्य मिलते है वे इस प्रकार है -

1. दलित वर्ग का सामाजिक यथार्थ
2. संघर्ष और विद्रोह का स्वर।
3. अनास्था एवं मूल्यहीनता का स्वर।
4. आक्रोश क्षोभ और उत्तेजना का भाव।
5. पूंजीवादी व्यवस्था से मोह भंग।
6. दलितों की शिक्षा और संगठन पर जोर।

साठोत्तर हिन्दी कविता के बाद समकालीन कविता जिस भूमिका के साथ सामने आयी है और आ रही है उसमें अनेक स्तर हैं जहाँ वह अपनी पूर्ववर्ती कविता से अलग खड़ी दिखायी देती है। इस काल की कविता का अन्दाज और मिजाज पूर्ववर्ती कविताओं से कुछ भिन्न है। समकालीन कविता ने अपनी शक्ति, सामर्थ्य एवं जीवन मूल्यों की गहरी पकड़ से साहित्य, समाज और मनुष्य को झकझोरा तो है ही नयी राह एवं नयी मंजिल की ओर प्रेरित भी किया है। युग परिवर्तन के साथ कविता भी बदलती है और कविता का तेवर भी। समकालीन कविता के सृजन का दौर चल रहा है इसलिए मानदण्डों एवं मूल्यों की आर-पार की बात करना सही नही है डॉ0 विमल समकालीन कविता का सौन्दर्य शास्त्र निर्धारित करने वालों का विरोध करते हैं- अभी तक यह आन्दोलन जीवन संघर्ष में है, शास्त्रीयता तक नहीं पहुँचा है।"[19] समकालीन कविता किसी वैचारिक आन्दोलन की मोहताज नहीं है, क्योंकि वह पूर्ण मुक्ति कविता है। उसका जुड़ाव समाज के हर वर्ग एवं जाति के आदमी से है। रघुवीर सहाय दलितों से कायरपन दूर करने की बात करते हैं-

"निर्धन जनता का शोषण है
कहकर आप हंसे
लोकतंत्र का अंतिम क्षण है
कहकर आप हंसे
सबके सब है भ्रष्टाचारी
कहकर आप हँसे।"[20]

समकालीन कविता में दलितों को आधार बनाकर खूब लिखा गया है ओर अभी लिखा जा रहा है। दलितों से सहानुभूति रखने वाले गैर दलित कवि तो लिख ही रहे हैं दलित वर्ग मे से भी

अब अनेकानेक लेखक लेखन के क्षेत्र में उभरे हैं। समकालीन दौर में आकर बात केवल आर्थिक संतुलन तक ही नहीं है। सामाजिक सांस्कृतिक और राजनीतिक समानता की बात बड़ी तेजी से चल रही है। गांधी आर अम्बेदकर के सपनों का भारत अब बड़ी तेजी से बदलाव एवं विकास के नये-नये आयाम स्थापित कर रहा है। दलितों के विकास हेतु जिन-जिन क्षेत्रों में काम करने की जरूरत है समकालीन कवियों ने उसकी ओर संकेत करने के साथ मानक तय करते हुए दिशा-निर्देश भी दिये हैं जो इस प्रकार है-

1. शिक्षा और संगठन पर जोर
2. स्वाभिमानी जीवन जीने की ललक
3. नवसृजन की भावना
4. अस्पृश्यता का विरोध
5. सामाजिक विषमताओं के प्रति आक्रोश
6. धार्मिक कर्मकाण्ड के प्रति अनास्था का भाव
7. मनुवादी राजनीतिक व्यवस्था पर व्यंग्य
8. दलित आरक्षण का समर्थन
9. जातीय व्यवस्था के प्रति प्रतिक्रिया वादी दृष्टि
10. साहित्य सृजन की ललक
11. साम्प्रदायिक सदभाव

समकालीन दलित हिन्दी लेखन के क्षेत्र में डॉ0 सोहनपाल सुमनाक्षर, डॉ0 शरणकुमार लिम्बाले, ओम प्रकाश बाल्मीकि, कालीचरण सनेही कंवर भारती, माता प्रसाद, जगदीश गुप्त, रवि प्रकाश, लालचन्द राही, रामकुमार वर्मा, धनन्जय अवस्थी, आर0एल0भरद्वाज, मीनू सागर, कंवरलाल खद्योत, धूमिल, मुक्तिबोध, जवाहरलाल कौल, देवीलाल यादव, अनीता सोमकुंवर, कवि, विमल, कालीचरण गौतम जैसे अनेक कवियों के प्रयास सराहनीय है। डा0 जगदीश की निम्नलिखित पंक्तियाँ भारतीय सामाजिक संरचना के भविष्य की ओर संकेत करती है-

"वर्ण से होगा नहीं अब त्राण

कर्म से ही मनुज का कल्याण

जन्म से निश्चित न होगा वर्ण

वर्ग तक सीमित न होगा स्वर्ण

कर्म से ही श्रेष्ठता अधिकार

कर्म सबके सम आधार।"[21]

सन्दर्भ

1. प्रेमचन्द्र : साहित्य का उद्देश्य, पृ0 26
2. संस्कृत शब्द कोश
3. प्राकृत शब्दकोश
4. रामचन्द्र वर्मा : हिन्दी शब्द कोश
5. भोलानाथ तिवारी : हिन्दी पर्यायवाची कोश, पृ0 270
6. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 1
7. शरण कुमार लिम्बाले : दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र, पृ0 38
8. अवन्तिका प्रसाद मरमट : दलितायन, पृ0 4
9. माता प्रसाद (सं0) : हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 161
10. वही, पृ0 62
11. प्रेमचन्द्र (सं0) : हंस, जनवरी, 1936
12. प्रेमचन्द्र : साहित्य का उद्देश्य, पृ0 8
13. मुक्तिबोध रचनावली (द्वितीय खण्ड) : चकमक की चिनगारियाँ, पृ0 264
14. नागार्जुन : हंस, जून, 1949
15. रामकुमार वर्मा : एकलव्य, पृ0 8
16. त्रिभुवन सिंह (सं0), साहित्यिक निबन्ध, पृ0 391
17. माता प्रसाद (सं0), हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, पृ0 177
18. वही, पृ0 240
19. कौशलनाथ उपाध्याय : कविता की राह, पृ0 76
20. रघुवीर सहाय : हँसो-हँसो जल्दी हंसो, पृ0 16
21. जगदीश गुप्त : शम्बूक, पृ0 62

सहायक ग्रन्थ सूची

1. अग्नि शस्य : नरेन्द्र शर्मा, भारती भंडार लीडर प्रेस, प्रयाग, प्रथम संस्करण सं0 2008
2. अनामिका : सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, सं0 2005
3. अनुक्षण : प्रभाकर माचवे, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्र0सं0 1959 ई0
4. अनुभव के आकाश में चाँद : लीलाधर जगूड़ी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण सन 1994
5. आत्म हत्या के विरुद्ध : रघुवीर सहाय, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, द्वितीय सं0, 1976 ई0
6. अन्धा युग : धर्मवीर भारती, किताब महल, इलाहाबाद, अष्टम सं0 1980 ई0
7. अपरा : सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद
8. अपराजिता : रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग 1946 ई0
9. आज के लोकप्रिय कवि नागार्जुन (सं0) : प्रभाकर माचवे, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, सन 1980
10. इतिहास के आँसू : रामधारी सिंह 'दिनकर', उदयाचल प्रकाशन, पटना प्र0सं0 1951 ई0
11. इन्द्र धनुष रौंदे हुए : अज्ञेय, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1957 ई0
12. एकलव्य : रामकुमार वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सन् 1973
13. कदलीवन : नरेन्द्र शर्मा, किताब महल, इलाहाबाद।
14. कामायनी : जयशंकर प्रसाद, प्रसाद प्रकाशन, वाराणसी।
15. कुकुरमुत्ता : सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
16. कुछ और कविताएं : शमशेर बहादुर सिंह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
17. कुरुक्षेत्र : रामधारी सिंह 'दिनकर', राजपाल एण्ड संस, दिल्ली।
18. ग्राम्या : सुमित्रानन्दन पंत, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, आठवाँ सं0 1972 ई0
19. गीतिका : सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।
20. गुंजन : सुमित्रानन्दन पंत, भारती भंडार लीडर प्रेस, इलाहाबाद।
21. चक्रब्यूह : कुंवर नारायण, राजकमल पब्लिकेशन लि0, बम्बई।

22. चयनिका : महेन्द्र भटनागर, कल्याण मल एण्ड संस, जयपुर।

23. चाँद का मुंह टेढ़ा है : मुक्तिबोध, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली।

24. जीवन के गान : शिवमंगल सिंह सुमन, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली।

25. ठंडा लोहा : धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली।

26. तारसप्तक (प्रथम) : अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली।

27. तारसप्तक (दूसरा एवं तीसरा) : अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली।

28. धरती : त्रिलोचन, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद।

29. धूप के धान : गिरिजा कुमार माथुर, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली।

30. प्रलय सृजन : शिवमंगल सिंह सुमन, आत्माराम एण्ड संस, नयी दिल्ली।

31. प्रगतिशील काव्यधारा और केदार नाथ अग्रवाल : रामविलास शर्मा, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद।

32. वनपाँखीसुनो : नरेश मेहता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

33. भूमि की अनुभूति : जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द, साहित्य प्रकाशन, मंदिर ग्वालियर।

34. युगपथ : सुमित्रा नन्दन पंत, भारती भंडार लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

35. युगवाणी : सुमित्रा नन्दन पंत, भारती भंडार लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

36. रागेय राघव ग्रंथावली : (सं0) सुलोचना रागेय राघव, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली।

37. वाणी : सुमित्रानन्दन पंत, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी।

38. विश्वास बढ़ता ही गया : शिवमंगल सिंह सुमन, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली।

39. हम विषपायी जनम के : बालकृष्ण शर्मा नवीन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी।

40. हुंकार : रामधारी सिंह दिनकर, प्रगतिशील पुस्तकालय पटना।

41. बहस जरूरी है : देवेन्द्र कुमार, शुभद्रा प्रकाशन, दिल्ली, सन 1982।

42. लाल पंखो वाली चिड़िया : शील, राधा कृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, सन 1992।

43. सबूत : अरुण कमल, वाणी प्रकाशन, इलाहाबाद।

44. शम्बूक : जगदीश गुप्त, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद।

45. समकालीन हिन्दी कविता : (सं0) परमानन्द श्रीवास्तव, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली।

46. संसद से सड़क तक : धूमिल, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।

47. आधुनिक भारत में जाति : एस0एन0 श्रीनिवास, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।
48. अम्बेदकर के प्रशासनिक विचार : धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली।
49. कविता की राह : कौशलनाथ उपाध्याय, राजस्थानी साहित्य संस्थान, जोधपुर।
50. क्योंकि रचना बोलती है : कौशल नाथ उपाध्याय, राजस्थानी साहित्य संस्थान, जोधपुर
51. छायावादोत्तर हिन्दी काव्य बदलते मानदण्ड एवं स्वरूप : कौशलनाथ उपाध्याय, राजस्थानी ग्रंथागार जोधपुर।
52. दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र : शरण कुमार लिम्बाले, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली।
53. हरिजन से दलित (सं0) : राजकिशोर, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली।
54. हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा (सं0) : माता प्रसाद, विश्व विद्यालय प्रकाशन, नयी दिल्ली।
55. हिन्दी साहित्य में दलित अस्मिता : कालीचरण स्नेही, आराधना ब्रदर्स कानपुर।
56. हिन्दी उपन्यास में सामाजिक चेतना : लाल साहब सिंह, नमन प्रकाशन, नयी दिल्ली।
57. निर्गुण रामभक्ति और दलित जातियाँ : राजदेव सिंह, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली।
58. समकालीन कविता का यथार्थ : परमानन्द श्रीवास्तव, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़।
59. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारणी सभा, काशी।
60. कबीर ग्रंथावली : श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारणी सभा काशी।
61. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास : रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद।
62. हिन्दी साहित्य का आदिकाल : हजारी प्रसाद द्विवेदी, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना।
63. हिन्दी साहित्य की भूमिका : हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन नयी दिल्ली।
64. हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास : हजारी प्रसाद द्विवेदी, अतरचंद कपूर एण्ड संस, दिल्ली।
65. भाषा और समाज : रामविलास शर्मा, राज कमल प्रकाशन, दिल्ली।
66. प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं : रामविलास शर्मा, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।
67. इतिहास और आलोचना : नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन दिल्ली।
68. हिन्दी साहित्य का इतिहास (सं0) : नगेन्द्र नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
69. अस्पृश्यता एवं मानवता : ए0ए0 भारद्वाज।
70. संत साहित्य का मूल्यांकन : राजदेव सिंह।

71. हिन्दी उपन्यासों के दलित वर्ग : कुसुम मेघवाल।
72. भारतीय दलितों की समस्यायें एवं उनका समाधान : आर0जी0 सिंह।
73. सिन्धु घाटी की सभ्यता के सृजनकर्ता वणिक और सूद्र : नवल वियोगी।
74. हिन्दू संस्कृति में वर्ण व्यवस्था का नग्न चित्रण : राजवैद्य माता प्रसाद सागर।
75. जाति भास्कर : पं0 ज्वाला प्रसाद मिश्र।
76. सिन्धु घाटी बोल उठी : सोहनपाल सुमनाक्षर।
77. व्यवस्था : कालीचरण गौतम।
78. शबरी : धनंजय अवस्थी।
79. भीम शतक : माता प्रसाद।
80. तथागत : विजय बहादुर चन्द।
81. अम्बेदकर : बाबूलाल सुमन।
82. अजेय खण्डहर : रांगेय राघव।
83. बहुजन गोहार : मनोहर लाल प्रेमी।
84. छूत छतीसी : बदलूराम रसिक।
85. पंच पुकार : नाथूराम शंकर शर्मा।
86. सेवाग्राम : सोहनलाल द्विवेदी।
87. अछूत कौन और क्यों : गया प्रसाद प्रशान्त।
88. सामाजिक क्रांति : बुद्ध संघ प्रेमी।
89. अपमान का बदला : बुद्ध संघ प्रेमी।
90. रामराज्य बनाम शम्बूक वध : बुद्ध संघ प्रेमी।
91. दलित दर्पण : नत्थू सिंह पथिक।
92. मसीहा दलितों का : जवाहर लाल कौल।
93. गीत प्रभा : प्यारेलाल रांगोठा।
94. भारतीय दलित साहित्य अकादमी स्मारिका 1988 एवं 1990 : सोहनपाल सुमनाक्षर।
95. हिन्दुइज्म धर्म या कलंक : एल0 आर0 वाली

96. लोकशाही बनाम ब्राहमण शाही : चन्द्रिका प्रकाश जिज्ञासु

97. दलित चेतना : कवि गुरु खद्योत

98. भारतीय धर्म शास्त्रों में शूद्रों की स्थिति : निरूपण विद्यालंकार

99. शूद्रों का प्राचीन इतिहास : रामशरण शर्मा

100. दलित साहित्य : एक अभ्यास (सं0) अर्जुन डांगले

101. दलित साहित्य (सं0) : शरण कुमार लिम्बाले

102. दलित साहित्य : चर्चा और चिंतन (सं0) गंगाधर पंतापणे

103. दलित साहित्य : प्रवाह और प्रतिक्रिया (सं0)गो0मं0 कुलकर्णी

104. दलित साहित्य : एक सामाजिक सांस्कृतिक अभ्यास (सं0) विद्याधर पुंडलिक

105. राइटिंग एण्ड स्पीचेज खण्ड 1-10 तक : भीमराव अम्बेडकर

106. हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी : नन्ददुलारे बाजपेयी

107. प्रगतिवादी काव्य साहित्य : श्रीकृष्ण लालहंस

108. एकलव्यऔर अन्य कविताएं : श्याम सिंह शशि

109. नयी चेतना और नये राग : कंवल भारती

110. शोषित पुकार : प्रकाशक, हिन्दू समाज सुधार कार्यालय, लखनऊ

111. बहुजन हुंकार : प्रकाशक, हिन्दू समाज सुधार कार्यालय, लखनऊ

112. रामचरित मानस : तुलसीदास

113. भारत में सामाजिक आन्दोलन और परिवर्तन : सुरेन्द्र कुमार श्रीवास्तव

114. हिन्दू समाज : संगठन और विघटन : पुरुषोत्तम गणेश

115. प्राचीन भारतीय समाज और चिंतन : चन्ददेव सिंह

पत्र-पत्रिकाएं

1. बहुजन, सं0 : छेदीलाल साथी, लखनऊ
2. दलित आक्रोश सं0 : वामन जंजाले, भोपाल
3. बहुजन संघर्ष सं0 : जितेन्द्र कुमार, नयी दिल्ली
4. बहुजन संगठक सं0 : काशीराम, नयी दिल्ली
5. समता सैनिक सं0 : आर0 कमल, कानपुर
6. शोषित सं0 : जयराम सिंह, पटना
7. अम्बेदकर उजाला सं0 : हरीराम मौर्य, अमरोहा
8. हकदार सं0 : पन्नालाल प्रेमी, बीकानेर
9. रविदास प्रवेशांक सं0 : शुकदेव सिंह, वाराणसी
10. भीम पत्रिका सं0 : एल0आर0वाली जालंधर
11. दलित चेतना : सं0 मोतीराम शास्त्री, लखनऊ
12. उत्थान सं0 राय सिंह, दिल्ली
13. सरिता, अंक 1954 दिल्ली
14. नया पथ, अंक दिसम्बर 1954
15. सुधा, सं0 दुलारेलाल भार्गव
16. आजकल - दिल्ली
17. आलोचना - दिल्ली